पार्श्वनाथ विद्याश्रम ग्रन्थमाला
: ६

गम्पादा
पं० दलसुख मालवणिया
डा० मोहनलाल मेहता

जै साहित्य
का
बृहद् तिहास

भाग १

अङ्ग आगम

लेखक
पं० बेचरदास दोशी

सब्ब लोगम्मि सारभूयं

पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान
जैनाश्रम
हिन्दू यूनिवर्सिटी, वाराणसी-५

प्रकाशक

पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान
जैनाश्रम
हिन्दू यूनिवर्सिटी, वाराणसी-५

मुद्रक

तारा प्रिंटिंग वर्क्स
कमच्छा, वाराणसी

प्रकाशन-वर्ष

सन् १९६६

मूल्य

पन्द्रह रुपये

संक्षिप्त विषय-सूची

प्रकाशकीय

प्राक्कथन

प्रस्तावना

जैन श्रुत

अगग्रथों का बाह्य परिचय

अगग्रथों का अतरग परिचय आचाराग

सूत्रकृताग

स्थानाग व समवायाग

व्याख्याप्रज्ञप्ति

ज्ञाताधर्मकथा

उपासकदशा

अन्तकृतदशा

अनुत्तरौपपातिकदशा

प्रश्नव्याकरण

विपाकसूत्र

परिशिष्ट

अनुक्रमणिका

सहायक ग्रथों की सूची

प्रस्तुत प्रकाशन जिनकी स्मृति से सम्बद्ध है
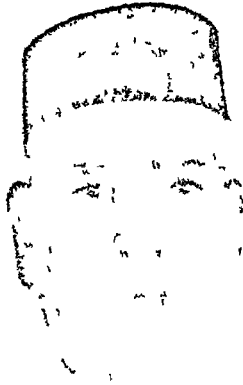
स्व लाला मुनिलाल जैन, अमृतसर
[सन् १८९०–१९६४]

प्रकाशकीय

सन् १९५२ मे जब पहली बार स्व० डा० वासुदेवशरण अग्रवाल से हिन्दू विश्वविद्यालय मे साक्षात्कार हुआ तो उन्होंने पथप्रदर्शन किया कि श्री सोहनलाल जैनधर्म प्रचारक समिति को जैनविद्या के सम्बन्ध मे कुछ प्रामाणिक साहित्य प्रकाशित करना चाहिए। उसमे जैन साहित्य का इतिहास भी था।

उन्होंने अपनी ओर से बडी उत्सुकता और उत्साह से इस कार्य को प्रारम्भ कराया। १९५३ मे मुनि श्री पुण्यविजयजी की अध्यक्षता मे इसके लिए अहमदाबाद मे सम्मेलन भी हुआ। इतिहास की रूपरेखा निश्चित की गई। तब अनुमान यही था कि शीघ्र ही इतिहास पूर्ण होकर प्रकाशित हो जाएगा। परन्तु कारणवशात् विलम्ब होता चला गया। हमे खुशी है कि आखिर यह काम होने लगा है।

जैनागमो के सम्बन्ध मे रूपरेखा बनाते समय यही निश्चय हुआ था कि इतिहास का यह भाग पडित बेचरदासजी दोशी अपने हाथ मे लें। परन्तु उस समय वे इस कार्य के लिए समय कुछ कम दे रहे थे। अत वे यह कार्य नहीं कर सकते थे। हर्ष की बात है कि इतने कालोपरात भी यह भाग उन्हींके द्वारा निर्मित हुआ है।

जैन साहित्य के इतिहास के लिए एक उपसमिति बनाई गई थी। समिति उस उपसमिति के कार्यकर्ताओ और सदस्यो के प्रति आभार प्रकाशित करती है तथा प० बेचरदासजी व प० दलसुख भाई मालवणिया और डा० मोहनलाल मेहता का भी आभार मानती है जिनके हार्दिक सहयोग के कारण प्रस्तुत भाग प्रकाशित हो सका है।

इस भाग के प्रकाशन का सारा खर्च श्री मनोहरलाल जैन, बी० कॉम० (मुनिलाल मोतीलाल जैनी, ६१ चम्पागली, बम्बई २, अमृतसर और दिल्ली) तथा उनके सहोदर सर्वश्री रोशनलाल, तिलकचद और धर्मपाल ने वहन किया है। यह ग्रन्थ उनके पिता स्व० श्री मुनिलाल जैन की पुण्यस्मृति मे प्रकाशित हो रहा है। स्वर्गीय जीवनपर्यन्त समिति के खजाची रहे।

लाला मुनिलाल जैन का जन्म अमृतसर मे सन् १८९० (वि० स० १९४७)

मे हुआ था, उनके अतिरिक्त लाला महताव शाह[1] के तीन पुत्र श्री मोतीलाल, श्री भीमसेन और श्री हंसराज हैं। परिवार तातड गोत्रीय ओसवाल है। लाला मुनिलाल ज्येष्ठ भाई थे।

सन् १९०४ (वि०स० १९६१ मे) पिताश्री की मृत्यु के उपरात परिवार का भार स्वभावत लालाजी के कधो पर आया, उस समय उनकी आयु १४ वर्ष की थी। कुछ काल पश्चात् माताजी का भी देहान्त हो गया था। सौभाग्यवश मृत्यु से कुछ वर्ष पूर्व पिता महताव शाह प्रो० मस्तराम जैन के पिता लाला लच्छमणदास को नादौन, जिला कागडा से अपने यहा ले आये थे। वे लालाजी के पारिवारिक कामकाज देखने मे सहायक थे। इन लाला लच्छमणदास के पिता लाला महताव शाह के दूर के भाई थे। लालाजी के दक्ष मामाद्वय श्री वदरी शाह और श्री सोहनलाल सराफ, गुजरावाला थे। वे उनके पारिवारिक और व्यापारिक धधो का निरीक्षण अपने हाथ मे लिये रहते थे। उन हितैषी स्वजनो का आभार ससम्मान लालाजी और उनके भाई सदैव अनुभव करते रहे हैं। प्रथम विश्वयुद्ध से कुछ वर्ष पूर्व लालाजी ने वर्तमान व्यापार-केन्द्र मुनिलाल मोतीलाल के नाम से अमृतसर मे आरम्भ किया था। अब शाखाए दिल्ली व बम्बई मे भी है। इससे पूर्व वह फर्म मेलूमल मानकचद की साझेदार थी। श्री मेलूमल लालाजी के दादा थे।

प्रो० मस्तराम जो उनके परिवार के साथ रहे हैं तथा उनके स्नेह और लाड-प्यार के भाजन रहे हैं, लिखते हैं "वे (लाला मुनिलाल) अति प्रसन्न स्वभावी थे। हर एक के साथ वे खिले माथे से मिलते थे। वार्तालाप मे दूसरे को अपना बना लेते थे। घटनाएं सुनाने का उनका अपना ही मनोहर ढंग था। रोगी की सेवा करने में अद्वितीय थे।" साधु-साध्वी की सेवा का उन्हें विशेष ध्यान रहता था। उनके लिए मर्यादासहित ओपरेशन, ऐनक, दवाई आदि की नि शुल्क व्यवस्था करना उनके चित्त की रुचि थी। स्व० आचार्यशिरोमणि श्री सोहनलालजी के मूत्रकष्ट (सन् १९२८) मे सर्वोत्तम सेवा उनकी ही थी। दमा से पीडित भक्त वृजलाल जैनी की सेवा करना उस अनुभवी की ही नि सकोच हिम्मत का काम था।

व्यापारिक क्षेत्र मे उनका मान था। उनकी वात ध्यान और आदर से सुनी जाती थी। गुरु वाजार मर्केन्टाइल एसोसिएशन की कार्यकारिणी समिति

---

१ पजाब में ओसवाल प्राय 'भावड़ों' के नाम से समझे जाते थे। उनके नामों के साथ 'शाह' शब्द पुकारने का रिवाज था, यही 'शाह' शब्द उनके नाम का अंग था।

की सदस्यता के अतिरिक्त वे उसके प्रधान उपप्रधान भी रहे। द्वितीय विश्वयुद्ध के अवसर पर जब कपड़े पर नियन्त्रण जारी हुआ तो उनकी उक्त एसोसियेशन को परचून कपडा वेचने का सरकारी डिपो सौंपा गया। दफ्तरी की अनियमितता के कारण स्थानीय आपूर्ति विभाग के अध्यक्ष अतिरिक्त जिला-न्यायाधीश बहुत नाराज हुए। कार्यकारिणी समिति के सब सदस्यों के विरुद्ध कार्यवाही करने का उन्होंने निश्चय किया। लालाजी ने उनका ध्यान इस ओर आकर्षित किया कि गलतिया टेकनिकल थीं। उस समय अतिरिक्त जिला-न्यायाधीश ने लालाजी की व्यक्तिगत जिम्मेवारी पर भरोसा रख कर कि भविष्य मे वे गलतिया न होगी, कार्यवाही वद कर दी थी।

सामाजिक और धार्मिक क्षेत्रों मे उन्हे विशेष रुचि थी। शतावधानीजी की प्रेरणा से ही उन्हे 'श्री सोहनलाल जैनधर्म प्रचारक समिति' की प्रवृत्तियो मे विश्वास हो गया था। यथाशक्ति वे इसके लिए धन एकत्रित करने मे भाग लेते रहे। अपने पास से और परिवार से धन दिलाते रहे। वे उदारचित्त व्यक्ति थे। किसी पदादि के इच्छुक नही थे परन्तु साथियो के साथी, सहचरो के सहचर थे। स्थानीय जैन सभा के उपप्रधान और प्रधान वर्षों तक रहे। जैन परमार्थ फण्ड सोसायटी के वे आदि सदस्य थे। पदाधिकारी भी रहे। इसी प्रकार पूज्य अमरसिंह जीवदया भण्डार का काम वे चिरकाल तक स्व० लाला रतनचद के साथ मिलकर करते रहे।

इन सब सफलताओ का श्रेय परिवार की ओर से प्राप्त जीवित सहकार पर है। उनकी मृत्यु दिसम्वर १९६४ के अन्त मे स्वपत्नी के देहान्त के मासभर बाद हुई। उनकी पत्नी पतिभक्त भार्या थी।

हरजसराय जैन
मन्त्री

प्रस्तुत इतिहास की योजना और मर्यादा

वैदिकधर्म और जैनधर्म

प्राचीन यति—मुनि – श्रमण

तीर्थंकरों की परंपरा

आगमों का वर्गीकरण

उपलब्ध आगमों और उनकी टीकाओं का परिमाण

आगमों का काल

आगम-विच्छेद का प्रश्न

श्रुतावतार

प्रस्तुत इतिहास की योजना और मर्यादा :

प्रस्तुत ग्रन्थ 'जैन साहित्य का बृहद् इतिहास' की मर्यादा क्या है, यह स्पष्ट करना आवश्यक है। यह केवल जैनधर्म या दर्शन से ही सबद्ध साहित्य का इतिहास नहीं होगा अपितु जैनो द्वारा लिखित समग्र साहित्य का इतिहास होगा।

साहित्य मे यह भेद करना कि यह जैनो का लिखा है और यह जैनेतरो का, उचित तो नही है किन्तु ऐसा विवश होकर ही करना पडा है। भारतीय साहित्य के इतिहास में जैनो द्वारा लिखे विविध साहित्य की उपेक्षा होती आई है। यदि ऐसा न होता तो यह प्रयत्न जरूरी न होता। उदाहरण के तौर पर सस्कृत साहित्य के इतिहास मे जब पुराणो पर लिखना हो या महाकाव्यो पर लिखना हो तब इतिहासकार प्राय हिन्दु पुराणो से ही सन्तोप कर लेते हैं और यही गति महाकाव्यो की भी है। इस उपेक्षा के कारणो की चर्चा जरूरी नहीं है किन्तु जिन ग्रन्थो का विशेप अभ्यास होता हो उन्ही पर इतिहासकार के लिए लिखना आसान होता है, यह एक मुख्य कारण है। 'कादवरी' के पढ़ने-पढ़ानेवाले अधिक हैं अतएव उसकी उपेक्षा इतिहासकार नहीं कर सकता किन्तु धनपाल की 'तिलक-मजरी' के विपय मे प्राय उपेक्षा ही है क्योकि वह पाठ्यग्रन्थ नहीं। किन्तु जिन विरल व्यक्तियो ने उसे पढा है वे उसके भी गुण जानते हैं।

इतिहासकार को तो इतनी फुर्सत कहाँ कि वह एक-एक ग्रन्थ स्वय पढे और उसका मूल्याकन करे। होता प्राय यही है कि जिन ग्रन्थो की चर्चा अधिक हुई हो उन्ही को इतिहास-ग्रन्थ मे स्थान मिलता है, अन्य ग्रन्थो की प्राय उपेक्षा होती है। 'यशस्तिलक' जैसे चपू की बहुत वर्षो तक उपेक्षा ही रही किन्तु डा० हन्दिकी ने जब उसके विपय मे पूरी पुस्तक लिख डाली तब उस पर विद्वानो का ध्यान गया।

इसी परिस्थिति को देखकर जब इस इतिहास की योजना बन रही थी तब डा० ए० एन० उपाध्ये का सुझाव था कि इतिहास के पहले विभिन्न ग्रन्थो या विभिन्न विपयो पर अभ्यास, लेख लिखाये जायँ तब इतिहास की सामग्री तैयार होगी और इतिहासकार के लिए इतिहास लिखना आसान होगा। उनका यह बहुमूल्य सुझाव उचित ही था किन्तु उचित यह समझा गया कि जब तक ऐसे लेख तैयार न हो जायँ तब तक हाथ पर हाथ धरे बैठे रहना भी उचित नहीं है। अतएव निश्चय हुआ कि मध्यम मार्ग से जैन साहित्य के इतिहास को

अनेक विद्वानो के सहयोग से लिखा जाय। उसमे गहरे चिंतनपूर्वक समीक्षा कदाचित् सभव न हो तो भी ग्रन्थ का सामान्य विषय-परिचय दिया जाय जिससे कितने विषय के कौन से ग्रन्थ हैं—इसका तो पता विद्वानो को हो ही जायगा। और फिर जिज्ञासु विद्वान् अपनी रुचि के ग्रन्थ स्वय पढने लगेंगे।

इस विचार को स्व० डा० वासुदेवशरण अग्रवाल ने गति दी और यह निश्चय हुआ कि ई० सन् १९५३ मे अहमदाबाद मे होने वाले प्राच्य विद्या परिषद् के सम्मेलन के अवसर पर वहा विद्वानो की उपस्थिति होगी अतएव उस अवसर का लाभ उठाकर एक योजना विद्वानो के समक्ष रखी जाय। इसी विचार से योजना का पूर्वरूप वाराणसी मे तैयार कर लिया गया और अहमदाबाद मे उपस्थित निम्न विद्वानो के परामर्श से उसको अन्तिम रूप दिया गया —

१ मुनि श्री पुण्यविजयजी
२ आचार्य जिनविजयजी
३ पं० सुखलालजी सघवी
४ प० बेचरदासजी दोशी
५ डा० वासुदेवशरण अग्रवाल
६ डा० ए० एन० उपाध्ये
७ डा० पी० एल० वैद्य
८ डा० मोतीचन्द
९ श्री अगरचन्द नाहटा
१० डा० भोगीलाल साडेसरा
११. डा० प्रबोध पण्डित
१२. डा० इन्द्रचन्द्र शास्त्री
१३ प्रो० पद्मनाभ जैनी
१४ श्री बालाभाई वीरचद देसाई जयभिक्खु
१५ श्री परमानन्द कुवरजी कापडिया

यहाँ यह भी बताना जरूरी है कि वाराणसी मे योजना सबधी विचार जब चल रहा था तब उसमे सपूर्ण सहयोग श्री प० महेन्द्रकुमारजी का था और उन्हीं की प्रेरणा से पडितद्वय श्री कैलाशचन्द्रजी शास्त्री तथा श्री फूलचन्द्रजी शास्त्री भी सहयोग देने को तैयार हो गये थे। किन्तु योजना का पूर्वरूप

जब तैयार हुआ तो इन तीनों पंडितों ने निर्णय किया कि हमें अलग हो जाना चाहिए। तदनुसार उनके सहयोग से हम वंचित ही रहे—इसका दुःख सबसे अधिक मुझे है। अलग होकर उन्होंने अपनी पृथक् योजना बनाई और यह आनन्द का विषय है कि उनकी योजना के अन्तर्गत पं० श्री कैलाशचन्द्र द्वारा लिखित 'जैन साहित्य का इतिहास पूर्व-पीठिका' श्री गणेशप्रसाद वर्णी जैन ग्रन्थमाला, वाराणसी से वीरनि० सं० २४८९ में प्रकाशित हुआ है। जैनों द्वारा लिखित साहित्य का जितना अधिक परिचय कराया जाय, अच्छा ही है। यह भी लाभ है कि विविध दृष्टिकोण से साहित्य की समीक्षा होगी। अतएव हम उस योजना का स्वागत ही करते हैं।

अहमदाबाद में विद्वानों ने जिस योजना को अन्तिम रूप दिया तथा उस समय जो लेखक निश्चित हुए उनमें से कुछ ने जब अपना अंश लिखकर नहीं दिया तो उन अंशों को दूसरे से लिखवाना पड़ा है किन्तु मूल योजना में परिवर्तन करना उचित नहीं समझा गया है। हम आशा करते हैं कि यथासंभव हम उस मूल योजना के अनुसार इतिहास का कार्य आगे बढ़ावेंगे।

'जैन साहित्य का बृहद् इतिहास' जो कई भागों में प्रकाशित होने जा रहा है, उसका यह प्रथम भाग है। जैन अंग ग्रन्थों का परिचय प्रस्तुत भाग में मुझे ही लिखना था किन्तु हुआ यह कि पार्श्वनाथ विद्याश्रम ने पं० बेचरदासजी को बनारस हिन्दू यूनिवर्सिटी में जैन आगमों के विषय पर व्याख्यान देने के लिए आमन्त्रित किया। उन्होंने ये व्याख्यान विस्तृतरूप में गुजराती में लिखे भी थे। अतएव यह उचित समझा गया कि उन्हीं व्याख्यानों के आधार पर प्रस्तुत भाग के लिए अंग ग्रन्थों का परिचय हिन्दी में लिखा जाय। डा० मोहनलाल मेहता ने इसे सहर्ष स्वीकार किया और इस प्रकार मेरा भार हलका हुआ। डा० मेहता का लिखा 'अंग ग्रन्थों का परिचय' प्रस्तुत भाग में मुद्रित है।

श्री पं० बेचरदासजी का आगमों का अध्ययन गहरा है, उनकी छानबीन भी स्वतंत्र है और आगमों के विषय में लिखनेवालों में वे अग्रदूत ही हैं। उन्हीं के व्याख्यानों के आधार पर लिखा गया प्रस्तुत अंग-परिचय यदि विद्वानों को अंग आगम के अध्ययन के प्रति आकर्षित कर सकेगा तो योजक इस प्रयास को सफल मानेंगे।

वैदिकधर्म और जैनधर्म :

वैदिकधर्म और जैनधर्म की तुलना की जाय तो जैनधर्म का वह रूप जो इसके प्राचीन साहित्य से उपलब्ध होता है, वेद से उपलब्ध वैदिकधर्म से अत्यधिक

मात्रा मे सुसंस्कृत है। वेद के इन्द्रादि देवो का रूप और जैनो के आराध्य का स्वरूप देखा जाय तो वैदिक देव सामान्य मानव से अधिक शक्तिशाली हैं किन्तु वृत्तियो की दृष्टि से हीन ही है। मानवसुलभ क्रोध, राग, द्वेष आदि वृत्तियो का वैदिक देवो मे साम्राज्य है तो जैनो के आराध्य मे इन वृत्तियो का अभाव ही है। वैदिको के इन देवो की पूज्यता कोई आध्यात्मिक शक्ति के कारण नही किन्तु नाना प्रकार से अनुग्रह और निग्रह शक्ति के कारण है जब कि जैनो के आराध्य ऐसी कोई शक्ति के कारण पूज्य नहीं किन्तु वीतरागता के कारण आराध्य हैं। आराधक मे वीतराग के प्रति जो आदर है वह उसे उनकी पूजा मे प्रेरित करता है जब कि वैदिक देवो का डर आराधक के यज्ञ का कारण है। वैदिको ने भूदेवो की कल्पना तो की किन्तु वे कालक्रम से स्वार्थी हो गये थे। उनको अपनी पुरोहिताई की रक्षा करनी थी। किन्तु जैनो के भूदेव वीतराग मानव के रूप मे कल्पित हैं। उन्हे यज्ञादि करके कमाई का कोई साधन जुटाना नहीं था। धार्मिक कर्मकाड में वैदिको मे यज्ञ मुख्य था जो अधिकाश बिना हिंसा या पशु-वध के पूर्ण नहीं होता था जब कि जैनधर्म मे क्रियाकाड तपस्यारूप है—अनशन और ध्यानरूप है जिसमे हिंसा का नाम नही है। ये वैदिक यज्ञ देवो को प्रसन्न करने के लिए किये जाते थे जब कि जैनो मे अपनी आत्मा के उत्कर्ष के लिए ही धार्मिक अनुष्ठान होते थे। उसमे किसी देव को प्रसन्न करने की बात का कोई स्थान नहीं था। उनके देव तो वीतराग होते थे जो प्रसन्न भी नही होते और अप्रसन्न भी नहीं होते। वे तो केवल अनुकरणीय के रूप मे आराध्य थे।

वैदिको ने नाना प्रकार के इन्द्रादि देवों की कल्पना कर रखी थी जो तीनो लोक मे थे और उनका वर्ग मनुष्य वर्ग से भिन्न था और मनुष्य के लिये आराध्य था। किन्तु जैनो ने जो एक वर्ग के रूप मे देवों की कल्पना की है वे मानव वर्ग से पृथग्वर्ग होते हुए भी उनका वह वर्ग सब मनुष्यो के लिए आराध्य कोटि मे नहीं है। मनुष्य देव की पूजा भौतिक उन्नति के लिए भले करे किन्तु आत्मिक उन्नति के लिए तो उससे कोई लाभ नहीं ऐसा मन्तव्य जैनधर्म का है। अतएव ऐसे ही वीतराग मनुष्यो की कल्पना जैनधर्म ने की जो देवो के भी आराध्य हैं। देव भी उस मनुष्य की सेवा करते हैं। साराश यह है कि देव की नही किन्तु मानव की प्रतिष्ठा बढाने मे जैनधर्म अग्रसर है।

देव या ईश्वर इस विश्व का निर्माता या नियता है, ऐसी कल्पना [illegible] देखी जाती है। इसके स्थान मे जैनो का सिद्धान्त है कि सृष्टि तो अनादि काल

से चली आती है, उसका नियमन या सर्जन प्राणियो के कर्म से होता है, किसी अन्य कारण से नहीं। विश्व के मूल मे कोई एक ही तत्त्व होना जरूरी है—इस विषय मे वैदिक निष्ठा देखी जाय तो विविध प्रकार की है। अर्थात् वह एक तत्त्व क्या है, इस विषय मे नाना मत हैं किन्तु ये सभी मत इस बात मे तो एकमत हैं कि विश्व के मूल मे कोई एक ही तत्त्व था। इस विषय मे जैनो का स्पष्ट मन्तव्य है कि विश्व के मूल मे कोई एक तत्त्व नहीं किन्तु वह तो नाना तत्त्वो का संमेलन है।

वेद के बाद ब्राह्मणकाल मे तो देवो की गौणता प्राप्त हो गई और यज्ञ ही मुख्य बन गये। पुरोहितो ने यज्ञक्रिया का इतना महत्त्व बढाया कि यज्ञ यदि उचित ढग से हो तो देवता के लिए अनिवार्य हो गया कि वे अपनी इच्छा न होते हुए भी यज्ञ के पराधीन हो गये। एक प्रकार से यह देवो पर मानवो की विजय थी किन्तु इसमे भी दोष यह था कि मानव का एक वर्ग—ब्राह्मणवर्ग ही यज्ञ-विधि को अपने एकाधिपत्य मे रखने लग गया था। उस वर्ग की अनिवार्यता इतनी बढा दी गई थी कि उनके बिना और उनके द्वारा किए गये वैदिक मन्त्रपाठ और विधिविधान के बिना यज्ञ की संपूर्ति हो ही नही सकती थी। किन्तु जैनधर्म मे इसके विपरीत देखा जाता है। जो भी त्याग-तपस्या का मार्ग अपनावे चाहे वह शूद्र ही क्यो न हो, गुरुपद को प्राप्त कर सकता था और मानवमात्र का सच्चा मार्गदर्शक भी बनता था। शूद्र वेदपाठ कर ही नहीं सकता था किन्तु जैनशास्त्रपाठ मे उनके लिए कोई बाधा नहीं थी। धर्ममार्ग मे स्त्री और पुरुष का समान अधिकार था, दोनो ही साधना करके मोक्ष पा सकते थे।

वेदाध्ययन मे शब्द का महत्त्व था अतएव वेदमन्त्रो के पाठ की सुरक्षा हुई, संस्कृत भाषा को पवित्र माना गया, उसे महत्त्व मिला। किन्तु जैनो मे पद का नहीं, पदार्थ का महत्त्व था। अतएव उनके यहा धर्म के मौलिक सिद्धात की सुरक्षा हुई किन्तु शब्दो की सुरक्षा नहीं हुई। परिणाम स्पष्ट था कि वे संस्कृत को नही, किन्तु लोकभाषा प्राकृत को ही महत्त्व दे सकते थे। प्राकृत अपनी प्रकृति के अनुसार सदैव एकरूप रह ही नहीं सकती थी, वह बदलती ही गई जब कि वैदिक संस्कृत उसी रूप में आज वेदो मे उपलब्ध है। उपनिषदो के पहले के काल में वैदिकधर्म मे ब्राह्मणो का प्रभुत्व स्पष्टरूप से विदित होता है, जब कि जबसे जैनधर्म का इतिहास ज्ञात है तबसे उसमे ब्राह्मण नहीं किन्तु क्षत्रियवर्ग ही नेता माना गया है। उपनिषद् काल मे वैदिकधर्म मे ब्राह्मणो के समक्ष

क्षत्रियो ने अपना सिर उठाया है और वह भी विद्या के क्षेत्र मे। किन्तु वह विद्या वेद न होकर आत्मविद्या थी और उपनिषदो में आत्मविद्या का ही प्राधान्य हो गया है। यह ब्राह्मणवर्ग के ऊपर स्पष्टरूप से क्षत्रियो के प्रभुत्व की सूचना देता है।

वैदिक और जैनधर्म मे इस प्रकार का विरोध देखकर आधुनिक पश्चिम के विद्वानो ने प्रारंभ मे यह लिखना शुरू किया कि बौद्धधर्म की ही तरह जैनधर्म भी वैदिकधर्म के विरोध के लिए खडा हुआ एक क्रान्तिकारी नया धर्म है या वह बौद्धधर्म की एक शाखामात्र है। किन्तु जैसे-जैसे जैनधर्म और बौद्धधर्म के मौलिक साहित्य का विशेष अध्ययन बढा, पश्चिमी विद्वानो ने ही उनका भ्रम दूर किया और अब सुलझे हुए पश्चिमी विद्वान् और भारतीय विद्वान् भी यह उचित ही मानने लगे हैं कि जैनधर्म एक स्वतन्त्र धर्म है—वह वैदिक धर्म की शाखा नहीं है। किन्तु हमारे यहाँ के कुछ अधकचरे विद्वान् अभी भी उन पुराने पश्चिमी विद्वानो का अनुकरण करके यह लिख रहे हैं कि जैनधर्म तो वैदिकधर्म की शाखामात्र है या वेदधर्म के विरोध मे खडा हुआ नया धर्म है। यद्यपि हम प्राचीनता के पक्षपाती नहीं हैं, प्राचीन होनेमात्र से ही जैनधर्म अच्छा नही हो जाता किन्तु जो परिस्थिति है उसका यथार्थरूप से निरूपण जरूरी होने से ही यह कह रहे हैं कि जैनधर्म वेद के विरोध मे खडा होनेवाला नया धर्म नहीं है। अन्य विद्वानो का अनुसरण करके हम यह कहने के लिए बाध्य हैं कि भारत के बाहरी प्रदेश मे रहनेवाले आर्य लोग जब भारत मे आये तब जिस धर्म से भारत मे उनकी टक्कर हुई थी उस धर्म का ही विकसित रूप जैनधर्म है—ऐसा अधिक संभव है। यदि वेद से ही इस धर्म का विकास होता या केवल वैदिकधर्म का विरोध ही करना होता तो जैसे अन्य वैदिको ने वेद का प्रामाण्य मानकर ही वेदविरोधी बातो का प्रवर्तन कर दिया, जैसे उपनिषद् के ऋषियो ने, वैसे ही जैनधर्म मे भी होता किन्तु ऐसा नहीं हुआ है, ये तो नास्तिक ही गिने गये—वेद निंदक ही गिने गये हैं—इन्होंने वेदप्रामाण्य कभी स्वीकृत किया ही नही। ऐसी परिस्थिति मे उसे वैदिकधर्म की शाखा नहीं गिना जा सकता। सत्य तो यह है कि वेद के माननेवाले आर्य जैसे-जैसे पूर्व की ओर बढे हैं वैसे-वैसे वे भौतिकता से दूर हटकर आध्यात्मिकता में अग्रसर होते रहे हैं—ऐसा क्यो हुआ? इसके कारणो की जब खोज की जाती है तब यही फलित होता है कि वे जैसे-जैसे सरकारी प्रजा के प्रभाव मे आये हैं वैसे-वैसे उन्होंने अपना रवैया बदला है—उसी बदलते हुए रवैये की गूंज उपनिषदो की रचना मे देखी जा सकती है। उपनिषदो मे कई वेद-मान्यताओ का विरोध तो है फिर भी वे वेद के अंग बने और वेदान्त कहलाए,

यह एक ओर वेद का प्रभाव और दूसरी ओर नई सूझ का समन्वय ही तो है। वेद का अंग बनकर वेदान्त कहलाए और एक तरह से वेद का अन्त भी कर दिया। उपनिषद् बन जाने के बाद दार्शनिकों ने वेद को एक ओर रखा और उपनिषदों के सहारे ही वेद की प्रतिष्ठा बढानी शुरू की। वेदभक्ति रही किन्तु निष्ठा तो उपनिषद् मे ही बढी। एक समय यह भी आया कि वेद को ध्वनिमात्र रह गई और अर्थ नदारद हो गया। उसके अर्थ का उद्धार मध्यकाल म हुआ भी तो वह वेदान्त के अर्थ को अग्रसर करके ही हुआ। आधुनिक काल म भी दयानद जैसो ने भी यह साहस नही किया कि वेद के मौलिक हिंसा-प्रधान अर्थ की प्रतिष्ठा करें। वेद के ह्रास का यह कारण पूर्वभारत की प्रजा के सस्कारो मे निहित है और जैनधर्म के प्रवर्तक महापुरुष जितने भी हुए हैं व मुख्यरूप मे पूर्वभारत की ही देन है। जब हम यह देखते है तो सहज ही अनुमान होता है कि पूर्वभारत का यह धर्म ही जैनधर्म के उदय का कारण हो सकता है जिसने वैदिक धर्म को भी नया रूप दिया और हिंसक तथा भौतिक धर्म को अहिंसा और आध्यात्मिकता का नया पाठ पढाया।

जब तक पश्चिमी विद्वानो ने केवल वेद और वैदिक साहित्य का अध्ययन किया था और जब तक सिंधुसस्कृति को प्रकाश मे लानेवाले खुदाई कार्य नही हुए थे तब तक—भारत मे जो कुछ सस्कृति है उसका मूल वेद मे ही होना चाहिए—ऐसा प्रतिपादन वे करते रहे। किन्तु जब से मोहेन-जोदारो और हरप्पा की खुदाई हुई है तब से पश्चिम के विद्वानो ने अपना मत बदल दिया है और वेद के अलावा वेद से भी बढ-चढकर वेदपूर्वकाल मे भारतीय सस्कृति थी इस नतीजे पर पहुँचे हैं। और अब तो उन तथाकथित सिंधुसस्कृति के अवशेष प्राय समग्र भारतवर्ष मे दिखाई देते हैं—ऐसी परिस्थिति मे भारतीय धर्मों के इतिहास को इस नये प्रकाश मे देखने का प्रारभ पश्चिमीय और भारतीय विद्वानो ने किया है और कई विद्वान् इस नतीजे पर पहुँचे हैं कि जैनधर्म वैदिकधर्म से स्वतत्र है। वह उसकी शाखा नहीं है और न वह केवल उसके विरोध मे ही खडा हुआ है।

प्राचीन यति—मुनि—श्रमण:

मोहेन-जोदारो मे और हरप्पा मे जो खुदाई हुई उसके अवशेषो का अध्ययन करके विद्वानो ने उसकी सस्कृति को सिन्धुसस्कृति नाम दिया था और खुदाई मे सबसे निम्नस्तर में मिलने वाले अवशेषो को वैदिक सस्कृति से भी प्राचीन संस्कृति के अवशेष है—ऐसा प्रतिपादन किया था। सिन्धुसस्कृति के समान ही सस्कृति

के अवशेष अब तो भारत के कई भागो मे मिले है—उसे देखते हुए उस प्राचीन सस्कृति का नाम सिन्धुसस्कृति अव्याप्त हो जाता है। वैदिक सस्कृति यदि भारत के बाहर से आने वाले आर्यो की सस्कृति है तो सिन्धुसस्कृति का यथार्थ नाम भारतीय सस्कृति ही हो सकता है।

अनेक स्थलो मे होनेवाली खुदाई मे जो नाना प्रकार की मोहरें मिली हैं उन पर कोई न कोई लिपि मे लिखा हुआ भी मिला है। वह लिपि सभव है कि चित्रलिपि हो। किन्तु दुर्भाग्य है कि उस लिपि का यथार्थ वाचन अभी तक हो नहीं पाया है। ऐसी स्थिति मे उसकी भाषा के विषय मे कुछ भी कहना सभव नहीं है। और वे लोग अपने धर्म को क्या कहते थे, यह किसी लिखित प्रमाण से जानना सभव नही है। किन्तु अन्य जो सामग्री मिली है उस पर से विद्वानो का अनुमान है कि उस प्राचीन भारतीय सस्कृति मे योग को अवश्य स्थान था। यह तो हम अच्छी तरह से जानते हैं कि वैदिक आर्यो मे वेद और ब्राह्मणकाल मे योग की कोई चर्चा नही है। उनमे तो यज्ञ को ही महत्त्व का स्थान मिला हुआ है। दूसरी ओर जैन-बौद्ध मे यज्ञ का विरोध था और योग का महत्त्व। ऐसी परिस्थिति मे यदि जैनधर्म को तथाकथित सिन्धुसस्कृति से भी सबद्ध किया जाय तो उचित होगा।

अब प्रश्न यह है कि वेदकाल मे उनका नाम क्या रहा होगा? आर्यो ने जिनके साथ युद्ध किया उन्हे दास, दस्यु जैसे नाम दिये हैं। किन्तु उससे हमारा काम नहीं चलता। हमे तो वह शब्द चाहिए जिससे उस सस्कृति का बोध हो जिसमे योगप्रक्रिया का महत्त्व हो। ये दास-दस्यु पुर मे रहते थे और उनके पुरो का नाश करके आर्यो के मुखिया इन्द्र ने पुरन्दर की पदवी को प्राप्त किया। उसी इन्द्र ने यतियो और मुनियो की भी हत्या की है—ऐसा उल्लेख मिलता है (अथर्व० २ ५ ३)। अधिक सभव यही है कि ये मुनि और यति शब्द उन मूल भारत के निवासियो की सस्कृति के सूचक है और इन्ही शब्दो की विशेष प्रतिष्ठा जैनसस्कृति मे प्रारभ से देखी भी जाती है। अतएव यदि जैनधर्म का पुराना नाम यतिधर्म या मुनिधर्म माना जाय तो इसमे आपत्ति की बात न होगी। यति और मुनिधर्म दीर्घकाल के प्रवाह मे बहता हुआ कई शाखा-प्रशाखाओ में विभक्त हो गया था। यही हाल वैदिको का भी था। प्राचीन जैन और बौद्ध शास्त्रो में धर्मो के विविध प्रवाहो को सूत्रबद्ध करके श्रमण और ब्राह्मण इन दो विभागो मे बाटा गया है। इनमे ब्राह्मण तो वे हैं जो वैदिक सस्कृति के अनुयायी हैं और शेष सभी का समावेश श्रमणो मे होता था। अतएव इस

दृष्टि से हम कह सकते हैं कि भ० महावीर और बुद्ध के समय में जैनधर्म का समावेश श्रमणवर्ग में था।

ऋग्वेद (१० १३६ २) में 'वातरशना मुनि' का उल्लेख हुआ है जिसका अर्थ है नग्न मुनि। और आरण्यक में जाकर तो श्रमण और 'वातरशना' का एकीकरण भी उल्लिखित है। उपनिषद् में तापस और श्रमणों को एक बताया गया है (बृहदा० ४ ३ २२)। इन सबका एक साथ विचार करने पर श्रमणों की तपस्या और योग की प्रवृत्ति ज्ञात होती है। ऋग्वेद के वातरशना मुनि और यति भी ये ही हो सकते हैं। इस दृष्टि से भी जैनधर्म का संबंध श्रमण-परंपरा से सिद्ध होता है और इस श्रमण-परंपरा का विरोध वैदिक या ब्राह्मण-परंपरा से चला आ रहा है, इसकी सिद्धि उक्त वैदिक तथ्य से होती है कि इन्द्र ने यतियों और मुनियों की हत्या की तथा पतंजलि के उस वक्तव्य में भी होती है जिसमें कहा गया है कि श्रमण और ब्राह्मणों का शाश्वतिक विरोध है (पातंजल महाभाष्य ५ ४ ९)। जैनशास्त्रों में पांच प्रकार के श्रमण गिनाए हैं उनमें एक निग्रन्थ श्रमण का प्रकार है—यही जैनधर्म के अनुयायी श्रमण हैं। उनका बौद्धग्रन्थों में निर्ग्रन्थ नाम से परिचय कराया गया है—इससे इस मत की पुष्टि होती है कि जैन मुनि या यति को भ० बुद्ध के समय में निग्रन्थ कहा जाता था और वे श्रमणों के एक वर्ग में थे।

सारांश यह है कि वेदकाल में जैनों के पुरखे मुनि या यति में शामिल थे। उसके बाद उनका समावेश श्रमणों में हुआ और भगवान् महावीर के समय वे निर्ग्रन्थ नाम से विशेषरूप से प्रसिद्ध थे। जैन नाम जैनों की तरह बौद्धों के लिए भी प्रसिद्ध रहा है क्योंकि दोनों में जिन की आराधना समानरूप से होती थी। किन्तु भारत से बौद्धधर्म के प्राय लोप के बाद केवल महावीर के अनुयायियों के लिए जैन नाम रह गया जो आज तक चालू है।

तीर्थंकरों की परंपरा :

जैन-परंपरा के अनुसार इस भारतवर्ष में कालचक्र उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी में विभक्त है। प्रत्येक में छ आरे होते हैं। अभी अवसर्पिणी काल चल रहा है। इसके पूर्व उत्सर्पिणी काल था। अवसर्पिणी के समाप्त होने पर पुन उत्सर्पिणी कालचक्र शुरू होगा। इस प्रकार अनादिकाल से यह कालचक्र चल रहा है और अनन्तकाल तक चलेगा। उत्सर्पिणी में सभी भाव उन्नति को प्राप्त होते हैं और अवसर्पिणी में ह्रास को। किन्तु दोनों में तीर्थंकरों का जन्म होता है। उनकी

सख्या प्रत्येक मे २४ की मानी गई है। तदनुसार प्रस्तुत अवसर्पिणी मे अवतक २४ तीर्थंकर हो चुके हैं। अतिम तीर्थंकर वर्धमान महावीर हुए और प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव। इन दोनो के बीच का अन्तर असख्य वर्ष है। अर्थात् जैन-परपरा के अनुसार ऋषभदेव का समय भारतीय ज्ञात इतिहासकाल मे नहीं आता। उनके अस्तित्वकाल की यथार्थता सिद्ध करने का हमारे पास कोई साधन नही। अतएव हम उन्हें पौराणिक काल के अन्तर्गत ले सकते हैं। उनकी अवधि निश्चित नहीं करते। किन्तु ऋषभदेव का चरित्र जैनपुराणो में वर्णित है और उसमे जो समाज का चित्रण है वह ऐसा है कि उसे हम सस्कृति का उप काल कह सकते हैं। उस समाज मे राजा नही था, लोगो को लिखना-पढना, खेती करना और हथियार चलाना नही आता था। समाज मे अभी सुसस्कृत लग्नप्रथा ने प्रवेश नहीं किया था। भाई-बहन पति-पत्नी की तरह व्यवहार करते और सतानोत्पत्ति होती थी। इस समाज को सुसस्कृत बनाने का प्रारभ ऋषभदेव ने किया।

यहाँ हमें ऋग्वेद के यम-यमी सवाद की याद आती है। उसमे यमी जो यम की बहन है वह यम के साथ सभोग की इच्छा करती है किन्तु यम ने नहीं माना, और दूसरे पुरुष की तलाश करने को कहा। उससे यह झलक मिलती है कि भाई-बहन का पति-पत्नी होकर रहना किसी समय समाज मे जायज था किन्तु उस प्रथा के प्रति ऋग्वेद के समय मे अरुचि स्पष्ट है। ऋग्वेद का समाज ऋषभदेवकालीन समाज से आगे बढा हुआ है—इसमे सदेह नही है। कृषि आदि का उस समाज मे प्रचलन स्पष्ट है। इस दृष्टि से देखा जाय तो ऋषभदेव के समाज का काल ऋग्वेद से भी प्राचीन हो जाता है। कितना प्राचीन, यह कहना सभव नहीं अतएव उसकी चर्चा करना निरर्थक है। जिस प्रकार जैन शास्त्रो मे राजपरपरा की स्थापना की चर्चा है और उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी काल की व्यवस्था है वैसे ही काल की दृष्टि से उन्नति और ह्रास का चित्र तथा राजपरपरा की स्थापना का चित्र बौद्धपरपरा मे भी मिलता है। इसके लिए दीघनिकाय के चक्कवत्तिसुत्त (भाग ३, पृ० ४६) तथा अग्गञ्ञसुत्त (भाग ३, पृ० ६३) देखना चाहिए। जैनपरपरा के कुलकरो की परपरा मे नाभि और उनके पुत्र ऋषभ का जो स्थान है करीब वैसा ही स्थान बौद्धपरपरा मे महासमत का है (अग्गञ्ञसुत्त-दीघ० का) और सामयिक परिस्थिति भी दोनो मे करीब-करीब समानरूप से चित्रित है। सस्कृति के विकास का उसे प्रारभ काल कहा जा सकता है। ये सब वर्णन पौराणिक हैं, यही उसकी प्राचीनता मे प्रबल प्रमाण माना जा सकता है।

हिन्दु पुराणो मे ऋषभचरित ने स्थान पाया है और उनके माता-पिता मरुदेवी और नाभि के नाम भी वही है जैसा जैनपरपरा मानती है और उनके त्याग और तपस्या का भी वही रूप है जैसा जैनपरपरा मे वर्णित है। और आश्चर्य तो यह है कि उनको वेदविरोधी मान कर भी विष्णु के अवताररूप से बुद्ध की तरह माना गया है।[1] यह इस बात का प्रमाण है कि ऋषभ का व्यक्तित्व प्रभावक था और जनता मे प्रतिष्ठित भी। ऐसा न होता तो वैदिक परपरा मे तथा पुराणो मे उनको विष्णु के अवतार का स्थान न मिलता। जैनपरपरा मे तो उनका स्थान प्रथम तीर्थंकर के रूप मे निश्चित किया गया है। उनकी साधना का क्रम यज्ञ न होकर तपस्या है—यह इस बात का प्रमाण है कि वे श्रमण-परपरा से मुख्यरूप से सबद्ध थे। श्रमणपरपरा मे यज्ञ द्वारा देव म नहीं किन्तु अपने कर्म द्वारा अपने मे विश्वास मुख्य है।

प० श्री कैलाशचन्द्र ने शिव और ऋषभ के एकीकरण की जो सभावना प्रकट की है और जैन तथा शैव धम का मूल एक परपरा मे खोजने का जो प्रयास किया है[2] वह सर्वमान्य हो या न हो किन्तु इतना तो कहा ही जा सकता है कि ऋषभ का व्यक्तित्व ऐसा था जो वैदिको को भी आकर्षित करता था और उनकी प्राचीनकाल से ऐसी प्रसिद्धि रही जिसकी उपेक्षा करना सभव नही था। अतएव ऋषभ-चरित ने एक या दूसरे प्रसग से वेदो से लेकर पुराणो और अत मे श्रीमद्भागवत मे भी विशिष्ट अवतारो मे स्थान प्राप्त किया है। अतएव डा जेकोबी ने भी जैनो की इस परपरा मे कि जैनधर्म का प्रारभ ऋषभदेव से हुआ है—सत्य की सभावना मानी है।[3]

डा राधाकृष्णन् ने यजुर्वेद मे ऋषभ, अजितनाथ और अरिष्टनेमि का उल्लेख होने की बात कही है किन्तु डा० शुब्रिग मानते हैं कि वैसी कोई सूचना उसमे नहीं है।[4] प श्री कैलाशचन्द्र ने[5] डा० राधाकृष्णन् का समर्थन किया है। किन्तु इस विषय मे निर्णय के लिए अधिक गवेषणा की आवश्यकता है।

---

१ History of Dharmaśāstra, Vol V part II p, 995, जैन साहित्य का इतिहास—पूर्वपीठिका, पृ० १२०

२ जै० सा० इ० पूर्वपीठिका, पृ० १०७

३ देखिये—जै० सा० इ० पू०, पृ० ५

४ डॉक्ट्रिन ऑफ दी जैन्स, पृ० २७, टि २

५ जै० सा० इ० पू०, पृ० १०८.

एक ऐसी भी मान्यता विद्वानो मे प्रचलित है[1] कि जैनो ने अपने २४ तीर्थकरो की नामावलि की पूर्ति प्राचीनकाल मे भारत मे प्रसिद्ध उन महापुरुषो के नामो को लेकर की है जो जैनधर्म का अपनानेवाले विभिन्न वर्गो के लोगो मे मान्य थे। इस विषय मे हम इतना ही कहना चाहते हैं कि ये महापुरुष यज्ञो की—हिंसक यज्ञो की प्रतिष्ठा करनेवाले नहीं थे किन्तु करुणा की और त्याग-तपस्या की तथा आध्यात्मिक साधना की प्रतिष्ठा करनेवाले थे—ऐसा माना जाय तो इसमे आपत्ति की कोई बात नहीं हो सकती।

जैनपरपरा मे ऋषभ से लेकर भ० महावीर तक २४ तीर्थंकर माने जाते हैं उनमे से कुछ ही का निर्देश जैनेतर शास्त्रो मे है। तीर्थंकरो की जो कथाएं जैनपुराणो मे दी गई हैं उनमे ऐसी कथाएं भी है जो अन्यत्र भी प्रसिद्ध हैं, किन्तु नामान्तरो से। अतएव उनपर विशेष विचार न करके यहाँ उन्हीं तीर्थंकरो पर विशेष विचार करना है जिनका नामसाम्य अन्यत्र उपलब्ध है या जिनके विषय मे विना नाम के भी निश्चित प्रमाण मिल सकते हैं।

वौद्ध अगुत्तरनिकाय मे पूर्वकाल मे होनेवाले सात शास्ता वीतराग तीर्थंकरो की बात भगवान् बुद्ध ने कही है—"भूतपुब्व भिक्खवे सुनेत्तो नाम सत्था अहोसि तित्थकरो कामेसु वीतरागो मुगपक्ख अरनेमि··· कुद्दालक हत्थिपाल जोतिपाल अरको नाम सत्था अहोसि तित्थकरो कामेसु वीतरागो। अरकस्स खो पन, भिक्खवे, सत्थुनो अनेकानि सावकसतानि अहेसु" (भाग ३ पृ० २५६-२५७)।

इसी प्रसग मे अरकसुत्त मे अरक का उपदेश कैसा था, यह भी भ० बुद्धने वर्णित किया है। उनका उपदेश था कि "अप्पक जीवित मनुस्सान परित्त, लहुक बहुदुक्ख बहुपायास मन्तय बोद्धब्ब, कत्तब्ब कुसल, चरितब्ब ब्रह्मचरिय, नत्थि जातस्स अमरण' (पृ० २५७)। और मनुष्यजीवन की इस नश्वरता के लिए उपमा दी है कि सूर्य के निकलने पर जैसे तृणाग्र मे स्थित (घास आदि पर पडा) ओसबिन्दु तत्काल विनष्ट हो जाता है वैसे ही मनुष्य का यह जीवन भी शीघ्र मरणाधीन होता है। इस प्रकार इस ओसबिन्दु की उपमा के अलावा पानी के बुद्बुद और पानी मे दण्डराजी आदि का भी उदाहरण देकर जीवन की क्षणिकता बताई गई है (पृ० २५८)।

अरक के इस उपदेश के साथ उत्तराध्ययनगत 'समय गोयम मा पमायए' उपदेश तुलनीय है (उत्तरा अ १०)। उसमे भी जीवन की क्षणिकता

---

1 Doctrine of the Jainas, p 28.

के ऊपर भार दिया गया है और अप्रमादी बनने को कहा गया है। उसमें भी कहा है—

कुसग्गे जह ओसबिन्दुए थोव चिट्ठइ लम्बमाणए।
एव मणुयाण जीवियं समय गोयम मा पमायए॥

अरक के समय के विषय में भ० बुद्ध ने कहा है कि अरक तीर्थंकर के समय मे मनुष्यो की आयु ६० हजार वर्ष की होती थी, ५०० वर्ष की कुमारिका पति के योग्य मानी जाती थी। उस समय के मनुष्यो को केवल छ प्रकार की पीडा होती थी—शीत, उष्ण, भूख, तृषा, पेशाब करना और मलोत्सर्ग करना। इनके अलावा कोई रोगादि की पीडा न होती थी। इतनी बडी आयु और इतनी कम पीडा फिर भी अरक का उपदेश जीवन की नश्वरता का और जीवन मे बहुदु ख का था।

भगवान् बुद्ध द्वारा वर्णित इस अरक तीर्थंकर की बात का अठारहवें जैन तीर्थंकर अर के साथ कुछ मेल बैठ सकता है या नहीं, यह विचारणीय है। जैनशास्त्रो के आधार से अर की आयु ८४००० वर्ष मानी गई है और उनके बाद होनेवाली मल्ली तीर्थंकर की आयु ५५ हजार वर्ष है। अतएव पौराणिक दृष्टि से विचार किया जाय तो अरक का समय अर और मल्ली के बीच ठहरता है। इस आयु के भेद को न माना जाय तो इतना कहा ही जा सकता है कि अर या अरक नामक कोई महान् व्यक्ति प्राचीन पुराणकाल मे हुआ था जिन्हे बौद्ध और जैन दोनो ने तीर्थंकर का पद दिया है। दूसरी बात यह भी ध्यान देने योग्य है कि इस अरक से भी पहले बुद्ध के मत से अरनेमि नामक एक तीर्थंकर हुए हैं। बुद्ध के बताये गये अरनेमि और जैन तीर्थंकर अर का भी कुछ सबध हो सकता है। नामसाम्य आशिक रूप से है ही और दोनो की पौराणिकता भी मान्य है।

बौद्ध थेरगाथा मे एक अजित थेर के नाम से गाथा है—

"मरणे मे भय नत्थि निकन्ति नत्थि जीविते।
सन्देह निक्खिपिस्सामि सम्पजानो पटिस्सतो॥"

—थेरगाथा १.२०

उसकी अट्ठकथा मे कहा गया है कि ये अजित ९१ कल्प के पहले प्रत्येकबुद्ध हो गये हैं। जैनो के दूसरे तीर्थंकर अजित और ये प्रत्येकबुद्ध अजित योग्यता और नाम के अलावा पौराणिकता मे भी साम्य रखते हैं। महाभारत मे अजित और शिव का ऐक्य वर्णित है। बौद्धो के, महाभारत के और जैनो के अजित एक हैं

या भिन्न, यह कहना कठिन है किन्तु इतना तो कहा ही जा सकता है कि अजित नामक व्यक्ति ने प्राचीनकाल मे प्रतिष्ठा पाई थी।

बौद्धपिटक मे निग्गन्थ नातपुत्त का कई बार नाम आता है और उनके उपदेश की कई बातें ऐसी हैं जिससे निग्गन्थ नातपुत्त की ज्ञातपुत्र भगवान् महावीर से अभिन्नता सिद्ध होती है। इस विषय में सर्वप्रथम डा० जेकोबी ने विद्वानो का ध्यान आकर्षित किया था और अब तो यह बात सर्वमान्य हो गई है। डॉ जेकोबी ने बौद्धपिटक से ही भ० पार्श्वनाथ के अस्तित्व को भी साबित किया है। भ० महावीर के उपदेशो मे बौद्धपिटको मे बारबार उल्लेख आता है कि उन्होंने चतुर्याम का उपदेश दिया है। डॉ जेकोबी ने इस परसे अनुमान लगाया है कि बुद्ध के समय मे चतुर्याम का पार्श्वनाथ द्वारा दिया गया उपदेश जैसा कि स्वय जैनधर्म की परपरा मे माना गया है, प्रचलित था। भ० महावीर ने उस चतुर्याम के स्थान मे पाँच महाव्रत का उपदेश दिया था। इस बात को बुद्ध जानते न थे। अतएव जो पार्श्वका उपदेश था उसे महावीर का उपदेश कहा गया। बौद्धपिटक के इस गलत उल्लेख से जैन परपरा को मान्य पार्श्व और उनके उपदेश का अस्तित्व सिद्ध हो जाता है। इस प्रकार बौद्धपिटक से हम पार्श्वनाथ के अस्तित्व के विषय मे प्रबल प्रमाण पाते हैं।

सोरेन्सन ने महाभारत के विशेषनामो का कोष बनाया है। उसके देखने से पता चलता है कि सुपार्श्व, चन्द्र और सुमति ये तीन नाम ऐसे हैं जो तीर्थंकरो के नामो से साम्य रखते हैं। विशेष बात यह भी ध्यान देने की है कि ये तीनो ही असुर हैं। और यह भी हम जानते हैं कि पौराणिक मान्यता के अनुसार अर्हतो ने जो जैनधर्म का उपदेश दिया है वह विशेषत असुरो के लिए था। अर्थात् वैदिक पौराणिक मान्यता के अनुसार जैनधर्म असुरो का धर्म है। ईश्वर के अवतारो मे जिस प्रकार ऋषभ को अवतार माना गया है उसी प्रकार सुपार्श्व को महाभारत मे कुपथ नामक असुर का अशावतार माना गया है। चन्द्र को भी अशावतार माना गया है। सुमति नामक असुर के लिए कहा गया है कि वरुणप्रासाद मे उनका स्थान दैत्यो और दानवो मे था। तथा एक अन्य सुमति नाम के ऋषि का भी महाभारत में उल्लेख है जो भीष्म के समकालीन बताए गए हैं।

जिस प्रकार भागवत मे ऋषभ को विष्णु का अवतार माना गया है उसी प्रकार अवतार के रूप में तो नहीं किन्तु विष्णु और शिव के जो सहस्रनाम महाभारत मे दिये गये हैं उनमे श्रेयस, अनन्त, धर्म, शान्ति और सभव—ये नाम विष्णु के भी हैं और ऐसे ही नाम जैन तीर्थंकरो के भी मिलते हैं। सहस्रनामो

के अभ्यास से यह पता चलता है कि पौराणिक महापुरुषों का अभेद विष्णु से और शिव से करना—यह भी उसका एक प्रयोजन था। प्रस्तुत मे इन नामो से जैन तीर्थंकर अभिप्रेत हैं या नहीं, यह विचारणीय है। शिव के नामो मे भी अनन्त, धर्म, अजित, ऋषभ—ये नाम आते हैं जो तत्तत् तीर्थंकरो के नाम भी हैं।

शान्ति विष्णु का भी नाम है, यह कहा ही गया है। महाभारत के अनुसार उस नाम के एक इन्द्र और ऋषि भी हुए हैं। इनका सबन्ध शान्ति नामक जैन तीर्थंकर से है या नही, यह विचारणीय है। बीसवें तीर्थंकर के नाम मुनि-सुव्रत मे मुनि को सुव्रत का विशेषण माना जाय तो सुव्रत नाम ठहरता है। महाभारत मे विष्णु और शिव का भी एक नाम सुव्रत मिलता है। नाम-साम्य के अलावा जो इन महापुरुषो का सबध असुरो से जोड़ा जाता है वह इस बात के लिए तो प्रमाण बनता ही है कि ये वेदविरोधी थे। उनका वेदविरोधी होना उनके श्रमणपरंपरा से सबद्ध होने की सभावना को दृढ करता है।

आगमों का वर्गीकरण :

साप्रतकाल मे आगम रूप से जो ग्रन्थ उपलब्ध हैं और मान्य हैं उनकी सूची नीचे दी जाती है। उनका वर्गीकरण करके यह सूची दी है क्योंकि प्राय उसी रूप मे वर्गीकरण साप्रतकाल मे मान्य है[1]—

११ अग—जो श्वेताम्बरो के सभी सप्रदायो को मान्य हैं वे हैं—

१ आयार (आचार), २ सूयगड (सूत्रकृत), ३ ठाण (स्थान), ४ सम-वाय, ५ वियाहपन्नत्ति (व्याख्याप्रज्ञप्ति), ६ नायाधम्मकहाओ (ज्ञात-धर्मकथा), ७ उवासगदसाओ (उपासकदशा), ८ अतगडदसाओ (अन्तकृद्दशा), ९ अनुत्तरो-ववाइयदसाओ (अनुत्तरौपपातिकदशा), १० पण्हावागरणाइ (प्रश्नव्याकरणानि), ११ विवागसुय (विपाकश्रुतम्) (१२ दृष्टिवाद, जो विच्छिन्न हुआ है)।

१२ उपाग—जो श्वेताम्बरो के तीनो सप्रदायो को मान्य हैं—

१ उववाइय (औपपातिक), २ रायपसेणइज्ज (राजप्रसेनजित्क) अथवा रायपसेणिय (राजप्रश्नीय), ३ जीवाजीवाभिगम, ४ पण्णवणा (प्रज्ञापना), ५ सूरपण्णत्ति (सूर्यप्रज्ञप्ति), ६ जबुद्दीवपण्णत्ति (जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति), ७ चदपण्णत्ति (चन्द्रप्रज्ञप्ति), ८-१२ निरयावलियासुयक्खध (निरयावलिकाश्रुतस्कन्ध) ८ निरयावलियाओ (निरयावलिका), ९ कप्पवडिंसियाओ (कल्पावतसिका),

---

१ विशेष विस्तृत चर्चा के लिए देखिए—प्रो० कापडिया का ए हिस्ट्री ऑफ दी केनोनिकल लिटरेचर ऑफ जैन्स, प्रकरण २

१० पुप्फियाओ (पुष्पिकाः), ११ पुप्फचूलाओ (पुष्पचूला), १२ वण्हिदसाओ (वृष्णिदशा)।

१० प्रकीर्णक—जो केवल श्वे० मूर्तिपूजक सम्प्रदाय को मान्य हैं—

१ चउसरण (चतु शरण), २ आउरपच्चक्खाण (आतुरप्रत्याख्यान), ३ भत्तपरिन्ना (भक्तपरिज्ञा), ४ संथार (संस्तार), ५ तंडुलवेयालिय (तंडुल वैचारिक), ६ चंदवेज्झय (चन्द्रवेध्यक), ७ देविन्दत्थय (देवेन्द्रस्तव), ८ गणिविज्जा (गणिविद्या), ९ महापच्चक्खाण (महाप्रत्याख्यान), १० वीरत्थय (वीरस्तव)।

६ छेद—१ आयारदसा अथवा दसा (आचारदशा), २ कप्प (कल्प[1]), ३ ववहार (व्यवहार), ४ निसीह (निशीथ), ५ महानिसीह (महानिशीथ), ६ जीयकप्प (जीतकल्प)। इनमे से अंतिम दो स्था० और तेरापंथी को मान्य नहीं हैं।

२ चूलिकासूत्र—१ नन्दी, २ अणुयोगदारा (अनुयोगद्वाराणि)।

४ मूलसूत्र—१ उत्तरज्झाया (उत्तराध्याया), २ दसवेयालिय (दशवैकालिक), ३ आवस्सय (आवश्यक), ४ पिण्डनिज्जुत्ति (पिण्डनिर्युक्ति)। इनमे से अंतिम स्था० और तेरा० को मान्य नहीं है।

यह जो गणना दी गई है उसमे एक के बदले कभी-कभी दूसरा भी आता है, जैसे पिण्डनिर्युक्ति के स्थान मे ओघनियुक्ति। दशप्रकीर्णकों मे भी नामभेद देखा जाता है। छेद मे भी नामभेद है। कभी-कभी पंचकल्प को इस वर्ग मे शामिल किया जाता है।[2]

प्राचीन उपलब्ध आगमो मे आगमो का जो परिचय दिया गया है उसमे यह पाठ है—"इह खलु समणेण भगवया महावीरेण आइगरेण तित्थगरेण इमे दुवालसंगे गणिपिडगे पण्णत्ते, तं जहा—आयारे सूयगडे ठाणे समवाए वियाहपन्नत्ति नायाधम्मकहाओ उवासगदसाओ अंतगडदसाओ अणुत्तरोववाइयदसाओ पण्हावागरण विवागसुए दिट्ठिवाए। तत्थ णं जे से चउत्थे अंगे समवाए त्ति आहिए तस्स णं अयमट्ठे पण्णत्ते" (समवाय अंग का प्रारंभ)।

---

१ दशाश्रुत में से पृथक् किया गया एक दूसरा कल्पसूत्र भी है। उसके नामसाम्य से भ्रम उत्पन्न न हो इसलिए इसका दूसरा नाम बृहत्कल्प रखा गया है।

२ देखिए—कापडिया—ए हिस्ट्री ऑफ दी केनोनिकल लिटरेचर ऑफ जैन्स, प्रकरण २

समवायाग मूल मे जहां १२ सख्या का प्रकरण चला है वहां द्वादशांग का परिचय न देकर एक कोटि समवाय के बाद वह दिया है। वहां का पाठ इस प्रकार प्रारभ होता है—"दुवालसगे गणिपिडगे पन्नत्ते, त जहा—आयारे दिट्ठिवाए। से क तं आयारे? आयारे ण समणाग · ·" इत्यादि क्रम से एक-एक का परिचय दिया है। परिचय मे "अगट्ठयाए पढमे ·····अगट्ठयाए दोच्चे · " इत्यादि देकर द्वादश अगो के क्रम को भी निश्चित कर दिया है। परिणाम यह हुआ कि जहां कहीं अगो की गिनती की गई, पूर्वोक्त क्रम का पालन किया गया। अन्य वर्गो मे जैसा व्युत्क्रम दीखता है वैसा द्वादशागो के क्रम मे नही देखा जाता।

दूसरी बात यह ध्यान देने की है कि "तस्स ण अयमट्ठे पण्णत्ते" (समवाय का प्रारभ) और "अगट्ठयाए पढमे"—इत्यादि मे 'अट्ठ' (अर्थ) शब्द का प्रयोग किया है वह विशेष प्रयोजन से है। जो यह परपरा स्थिर हुई है कि 'अत्थं भासइ अरहा' (आवनि० १९२)—उसी के कारण प्रस्तुत मे 'अट्ठ'—'अर्थ' शब्द का प्रयोग है। तात्पर्य यह है कि ग्रन्थरचना—शब्द-रचना तीर्थंकर भ० महावीर की नहीं है किन्तु उपलब्ध आगम मे जो ग्रन्थ-रचना है, जिन शब्दो मे यह आगम उपलब्ध है उससे फलित होनेवाला अर्थ या तात्पर्य भगवान् द्वारा प्रणीत है। ये ही शब्द भगवान् के नही हैं किन्तु इन शब्दो का तात्पर्य जो स्वय भगवान् ने बताया था उससे भिन्न नही है। उन्हीं के उपदेश के आधार पर "सुत्त गन्थन्ति गणहरा निउण" (आवनि० १९२)—गणधर सूत्रो की रचना करते हैं। साराश यह है कि उपलब्ध अग आगम की रचना गणधरो ने की है—ऐसी परपरा है। यह रचना गणधरो ने अपने मन से नहीं की किन्तु भ० महावीर के उपदेश के आधार पर की है अतएव ये आगम प्रमाण माने जाते है।

तीसरी बात जो ध्यान देने की है वह यह कि इन द्वादश ग्रन्थो को 'अंग' कहा गया है। इन्हीं द्वादश अगो का एक वर्ग है जिनका गणिपिटक के नाम से परिचय दिया गया है। गणिपिटक मे इन बारह के अलावा अन्य आगम ग्रन्थो का उल्लेख नहीं है इससे यह भी सूचित होता है कि मूलरूप से आगम ये ही थे और इन्हीं की रचना गणधरो ने की थी।

'गणिपिटक' शब्द द्वादश अगो के समुच्चय के लिए तो प्रयुक्त हुआ ही है किन्तु वह प्रत्येक के लिए भी प्रयुक्त होता होगा ऐसा समवायाग के एक उल्लेख से प्रतीत होता है—"तिण्हं गणिपिडगाण आयारचूलिया वज्जाण

सत्तावन्नं अज्झयणा पन्नत्ता त जहा-आयारे सूयगडे ठाणे।"—समवाय ५७वां। अर्थात् आचार आदि प्रत्येक की जैसे अग सज्ञा है वैसे ही प्रत्येक की 'गणिपिटक' ऐसी भी सज्ञा थी ऐसा अनुमान किया जा सकता है।

वैदिक साहित्य मे 'अग' (वेदाग) सज्ञा सहिताएं, जो प्रधान वेद थे, उनसे भिन्न कुछ ग्रन्थो के लिए प्रयुक्त है। और वहां 'अग' का तात्पर्य है वेदो के अध्ययन मे सहायभूत विविध विद्याओ के ग्रन्थ। अर्थात् वैदिकवाङ्मय मे 'अग' का तात्पर्यार्थ मौलिक नहीं किन्तु गौण ग्रन्थो से है। जैनो मे 'अग' शब्द का यह तात्पर्य नहीं है। आचार आदि अग ग्रन्थ किसी के सहायक या गौण ग्रन्थ नहीं हैं किन्तु इन्हीं बारह ग्रन्थो से बननेवाले एक वर्ग की इकाई होने से 'अग' कहे गये हैं[१] इसमे सन्देह नहीं। इसीसे आगे चलकर श्रुतपुरुष[२] की कल्पना की गई और इन द्वादश अगो को उस श्रुतपुरुष के अगरूप से माना गया।

अधिकाश जैनतीर्थंकरो की परपरा पौराणिक होने पर भी उपलब्ध समग्र जैनसाहित्य का जो आदि स्रोत समझा जाता है वह जैनागमरूप अगसाहित्य वेद जितना पुराना नही है, यह मानी हुई बात है। फिर भी उसे बौद्धपिटक का समकालीन तो माना जा सकता है।[३]

डा० जेकोबी आदि का तो कहना है कि समय की दृष्टि से जैनागम का रचना-समय जो भी माना जाय किन्तु उसमे जिन तथ्यो का सग्रह है वे तथ्य ऐसे नहो हैं जो उसी काल के हो। ऐसे कई तथ्य उसमें सगृहीत हैं जिनका सबध प्राचीन पूर्वपरपरा से है।[४] अतएव जैनागमो के समय का विचार करना हो तब विद्वानो की यह मान्यता ध्यान मे अवश्य रखनी होगी।

जैनपरपरा के अनुसार तीर्थंकर भले ही अनेक हो किन्तु उनके उपदेश मे साम्य होता है[५] और तत्तत्काल मे जो भी अतिम तीर्थंकर हो उन्हीं का उपदेश

---

१ Doctrine of the Jainas, p, 73

२ नदीचूर्णि, पृ० ४७, कापडिया—केनोनिकल लिटरेचर, पृ० २१

३ "बौद्धसाहित्य जैनसाहित्य का समकालीन ही है"—ऐसा पं० कैलाशचन्द्र जब लिखते है तब इसका अर्थ यही हो सकता है। देखिये—जैन सा इ पूर्वपीठिका, पृ० १७४

४ Doctrine of the Jainas, p 15

५ इसी दृष्टि से जैनागमों को अनादि-अनत कहा गया है—"इच्चेइय दुवालसगं गणिपिडग न कयाइ नासी, न कयाइ न भवइ, न कयाइ न भविस्सइ, भुविं च भवइ च भविस्सइ य, धुवे निअए सासए अक्खए अव्वए अवट्ठिए निच्चे"—नन्दी, सू० ५८, समवायाग, सू०, १४८

और शासन विचार और आचार के लिए प्रजा मे मान्य होता है। इस दृष्टि से भ महावीर अंतिम तीर्थंकर होने से उन्हीं का उपदेश अंतिम उपदेश है और वही प्रमाणभूत है। शेष तीर्थंकरो का उपदेश उपलब्ध भी नहीं और यदि हो तब भी वह भ० महावीर के उपदेश के अन्तर्गत हो गया है—ऐसा मानना चाहिए।

प्रस्तुत मे यह स्पष्ट करना जरूरी है कि भगवान् महावीर ने जो उपदेश दिया उसे सूत्रबद्ध किया है गणधरो ने। इसीलिए अर्थोपदेशक या अर्थरूप शास्त्र के कर्ता भ० महावीर माने जाते हैं और शब्दरूप शास्त्र के कर्ता गणधर हैं।[1] अनुयोगद्वारगत (सू० १४४, पृ० २१९) सुत्तागम, अत्थागम, अत्तागम, अणतरागम आदि जो लोकोत्तर आगम के भेद हैं उनसे भी इसी का समर्थन होता है। भगवान् महावीर ने यह स्पष्ट स्वीकार किया है कि उनके उपदेश का सवाद भ० पार्श्वनाथ के उपदेश से है। तथा यह भी शास्त्रो मे कहा गया है कि पार्श्व और महावीर के आध्यात्मिक सदेश मे मूलत कोई भेद नहीं है। कुछ बाह्याचार में भले ही भेद दीखता हो।[2]

जैन परपरा मे आज शास्त्र के लिए 'आगम' शब्द व्यापक हो गया है किन्तु प्राचीन काल में वह 'श्रुत' या 'सम्यक् श्रुत' के नाम से प्रसिद्ध था।[3] इसी से 'श्रुतकेवली' शब्द प्रचलित हुआ न कि आगमकेवली या सूत्रकेवली। और स्थविरो की गणना में भी श्रुतस्थविर[4] को स्थान मिला है यह भी 'श्रुत' शब्द की प्राचीनता सिद्ध कर रहा है। आचार्य उमास्वाति ने श्रुत के पर्यायो का सग्रह कर दिया है वह इस प्रकार है[5]—श्रुत, आप्तवचन, आगम, उपदेश, ऐतिह्य, आम्नाय, प्रवचन और जिनवचन। इनमे से आज 'आगम'[6] शब्द ही विशेषत प्रचलित है।

समवायाग आदि आगमो से मालूम होता है कि सर्वप्रथम भगवान् महावीर ने जो उपदेश दिया था उसकी सकलना 'द्वादशागो' मे हुई और वह 'गणिपिटक' इसलिए

---

१ अत्थ भासइ अरहा सुत्त गंथति गणहरा निउण।
सासणस्स हियट्ठाए तओ सुत्त पवत्तइ॥
—आवश्यकनिर्युक्ति, गा० १९२, धवला भा० १, पृ० ६४ तथा ७२

२ Doctrine of the Jainas, p 29

३ नन्दी, सू० ४१ ४ स्थानाग, सू० १५९ ५ तत्त्वार्थभाष्य, १ २०

६ सर्वप्रथम अनुयोगद्वार सूत्र में लोकोत्तर आगम में द्वादशाग गिणिपिटक का समावेश किया है और आगम के कई प्रकार के भेद किये है—सू० १४४, पृ० २१८

सत्तावन्नं अज्झयणा पन्नत्ता त जहा-आयारे सूयगडे ठाणे।"—समवाय ५७वाँ। अर्थात् आचार आदि प्रत्येक की जैसे अग सज्ञा है वैसे ही प्रत्येक की 'गणिपिटक' ऐसी भी सज्ञा थी ऐसा अनुमान किया जा सकता है।

वैदिक साहित्य मे 'अग' (वेदाग) सज्ञा सहिताएं, जो प्रधान वेद थे, उनसे भिन्न कुछ ग्रन्थो के लिए प्रयुक्त है। और वहाँ 'अग' का तात्पर्य है वेदो के अध्ययन मे सहायभूत विविध विद्याओ के ग्रन्थ। अर्थात् वैदिकवाङ्मय मे 'अग' का तात्पर्यार्थ मौलिक नहीं किन्तु गौण ग्रन्थो से है। जैनो मे 'अग' शब्द का यह तात्पर्य नहीं है। आचार आदि अंग ग्रन्थ किसी के सहायक या गौण ग्रन्थ नहीं हैं किन्तु इन्हीं बारह ग्रन्थो से बननेवाले एक वर्ग की इकाई होने से 'अग' कहे गये हैं[1] इसमे सन्देह नहीं। इसीसे आगे चलकर श्रुतपुरुष[2] की कल्पना की गई और इन द्वादश अगो को उस श्रुतपुरुष के अगरूप से माना गया।

अधिकाश जैनतीर्थंकरो की परपरा पौराणिक होने पर भी उपलब्ध समग्र जैनसाहित्य का जो आदि स्रोत समझा जाता है वह जैनागमरूप अगसाहित्य वेद जितना पुराना नहीं है, यह मानी हुई बात है। फिर भी उसे बौद्धपिटक का समकालीन तो माना जा सकता है।[3]

डा० जेकोबी आदि का तो कहना है कि समय की दृष्टि से जैनागम का रचना-समय जो भी माना जाय किन्तु उसमे जिन तथ्यो का सग्रह है वे तथ्य ऐसे नहो हैं जो उसी काल के हो। ऐसे कई तथ्य उसमे सगृहीत हैं जिनका सबध प्राचीन पूर्वपरपरा से है।[4] अतएव जैनागमो के समय का विचार करना हो तब विद्वानों की यह मान्यता ध्यान मे अवश्य रखनी होगी।

जैनपरपरा के अनुसार तीर्थंकर भले ही अनेक हो किन्तु उनके उपदेश मे साम्य होता है[5] और तत्तत्काल मे जो भी अंतिम तीर्थंकर हो उन्हीं का उपदेश

---

१ Doctrine of the Jainas, p, 73

२ नदीचूर्णि, पृ० ४७, कापडिया—केनोनिकल लिटरेचर, पृ० २१

३ "बौद्धसाहित्य जैनसाहित्य का समकालीन ही है"—ऐसा प० कैलाशचन्द्र जब लिखते हैं तब इसका अर्थ यही हो सकता है। देखिये—जैन सा इ पूर्वपीठिका, पृ० १७४

४ Doctrine of the Jainas, p 15

५ इसी दृष्टि से जैनागमों को अनादि-अनत कहा गया है—"इच्चेइय दुवालसगं गणिपिडग न कयाइ नासी, न कयाइ न भवइ, न कयाइ न भविस्सइ, भुविं च भवइ च भविस्सइ य, धुवे निअए सासए अक्खए अव्वए अवट्ठिए निच्चे"—नन्दी, सू० ५८, समवायाग, सू०, १४८

और शासन विचार और आचार के लिए प्रजा में मान्य होता है। इस दृष्टि से भ० महावीर अंतिम तीर्थंकर होने से उन्हीं का उपदेश अंतिम आदेश है और वही प्रमाणभूत है। शेष तीर्थंकरो का उपदेश उपलब्ध भी नहीं और यदि हो तब भी वह भ० महावीर के उपदेश के अन्तर्गत हो गया है—ऐसा मानना चाहिए।

प्रस्तुत मे यह स्पष्ट करना जरूरी है कि भगवान् महावीर ने जो उपदेश दिया उसे सूत्रबद्ध किया है गणधरो ने। इसीलिए अर्थोपदेशक या अर्थरूप शास्त्र के कर्ता भ० महावीर माने जाते हैं और शब्दरूप शास्त्र के कर्ता गणधर हैं।[1] अनुयोगद्वारगत (सू० १४४, पृ० २१६) सुत्तागम, अत्थागम, अत्तागम, अणंतरागम आदि जो लोकोत्तर आगम के भेद हैं उनसे भी इसी का समर्थन होता है। भगवान् महावीर ने यह स्पष्ट स्वीकार किया है कि उनके उपदेश का सवाद भ० पार्श्वनाथ के उपदेश से है। तथा यह भी शास्त्रो मे कहा गया है कि पार्श्व और महावीर के आध्यात्मिक सदेश मे मूलत कोई भेद नहीं है। कुछ बाह्याचार में भले ही भेद दीखता हो।[2]

जैन परपरा मे आज शास्त्र के लिए 'आगम' शब्द व्यापक हो गया है किन्तु प्राचीन काल में वह 'श्रुत' या 'सम्यक् श्रुत' के नाम से प्रसिद्ध था।[3] इसी से 'श्रुतकेवली' शब्द प्रचलित हुआ न कि आगमकेवली या सूत्रकेवली। और स्थविरो की गणना में भी श्रुतस्थविर[4] को स्थान मिला है यह भी 'श्रुत' शब्द की प्राचीनता सिद्ध कर रहा है। आचार्य उमास्वाति ने श्रुत के पर्यायो का सग्रह कर दिया है वह इस प्रकार है[5]—श्रुत, आप्तवचन, आगम, उपदेश, ऐतिह्य, आम्नाय, प्रवचन और जिनवचन। इनमे से आज 'आगम'[6] शब्द ही विशेषत प्रचलित है।

समवायाग आदि आगमो से मालूम होता है कि सर्वप्रथम भगवान् महावीर ने जो उपदेश दिया था उसकी सकलना 'द्वादशागो' मे हुई और वह 'गणिपिटक' इसलिए

---

१ अत्थं भासइ अरहा सुत्तं गंथंति गणहरा निउणं।
सासणस्स हियट्ठाए तओ सुत्तं पवत्तइ॥
—आवश्यकनिर्युक्ति, गा० १९२, धवला भा० १, पृ० ६४ तथा ७२

२ Doctrine of the Jainas, p 29

३ नन्दी, सू० ४१ ४ स्थानाग, सू० १५९ ५ तत्त्वार्थभाष्य, १ २०

६ सर्वप्रथम अनुयोगद्वार सूत्र में लोकोत्तर आगम में द्वादशाग गणिपिटक का समावेश किया है और आगम के कई प्रकार के भेद किये है—सू० १४४, पृ० २१८

कहलाया कि गरिग के लिए वही श्रुतज्ञान का भडार था ।[1]

समय के प्रवाह मे आगमो की सख्या बढती ही गई जो ८५ तक पहुँच गई है। किन्तु सामान्य तौर पर श्वेताम्बरो मे मूर्तिपूजक सप्रदाय मे वह ४५ और स्थानकवासी तथा तेरापथ मे ३२ सख्या मे सीमित है। दिगम्बरो में एक समय ऐसा था जब वह सख्या १२ अग और १४ अगबाह्य = २६ मे सीमित थी।[2] किन्तु अगज्ञान की परपरा वीरनिर्वाण के ६८३ वर्ष तक ही रही और उसके बाद वह आशिक रूप से चलती रही—ऐसी दिगम्बर-परपरा है।[3]

आगम की क्रमश जो सख्यावृद्धि हुई उसका कारण यह है कि गणधरो के अलावा अन्य प्रत्येकबुद्ध महापुरुषो ने जो उपदेश दिया था उसे भी प्रत्येकबुद्ध के केवली होने से आगम मे सनिविष्ट करने मे कोई आपत्ति नहीं हो सकती थी। इसी प्रकार गणिपिटक के ही आधार पर मदबुद्धि शिष्यो के हितार्थं श्रुतकेवली आचार्यो ने जो ग्रन्थ बनाए थे उनका समावेश भी, आगम के साथ उनका अविरोध होने से और आगमार्थ की ही पुष्टि करनेवाले होने से, आगमो मे कर लिया गया। अत मे सपूर्णदशपूर्व के ज्ञाता द्वारा ग्रथित ग्रन्थ भी आगम मे समाविष्ट इसलिए किये गये कि वे भी आगम को पुष्ट करने वाले थे और उनका आगम से विरोध इसलिए भी नहीं हो सकता था कि वे निश्चित रूप से सम्यग्दृष्टि होते थे। निम्न गाथा से इसी बात की सूचना मिलती है—

सुत्त गणहरकथिद तहेव पत्तेयबुद्धकथिद च ।
सुदकेवलिणा कथिद अभिण्णदसपुव्वकथिद च ॥[4]
—मूलाचार, ५ ८०

इससे कहा जा सकता है कि किसी ग्रन्थ के आगम मे प्रवेश के लिए यह मानदड था। अतएव वस्तुत जब से दशपूर्वी नही रहे तब से आगम की सख्या

---

१ "दुवालसगे गणिपिडगे"—समवायाग, सू० १ और १३६, नन्दी, सू० ४१ आदि।

२ जयधवला, पृ० २५, धवला, भा० १ पृ० ९६, गोम्मटसार—जीवकाड, गा० ३६७, ३६८ विशेष के लिए देखिए—आगमयुग का जैनदर्शन, पृ० २२—२७

३ जै० सा० इ० पूर्वपीठिका, पृ० ५२८, ५३४, ५३८ (इनमें सकलश्रुतज्ञान का विच्छेद उल्लिखित है। यह सगत नहीं जँचता)।

४ यही गाथा जयधवला में उद्धृत है—पृ० १५३ इसी भाव को व्यक्त करनेवाली गाथा सस्कृत में द्रोणाचार्य ने ओघनिर्युक्ति की टीका में पृ० ३ में उद्धृत की है।

मे वृद्धि होना रुक गया होगा, ऐसा माना जा सकता है। किन्तु श्वेताम्बरो के आगमरूप से मान्य कुछ प्रकीर्णक ग्रन्थ ऐसे भी है जो उस काल के बाद भी आगम मे समिलित कर लिये गये हैं। इसमे उन ग्रन्थो की निर्दोषता और वैराग्य भाव की वृद्धि मे उनका विशेष उपयोग—ये ही कारण हो सकते हैं। या कर्ता आचार्य की उस काल मे विशेष प्रतिष्ठा भी कारण हो सकती है।

जैनागमो की सख्या जब बढने लगी तब उनका वर्गीकरण भी आवश्यक हो गया। भगवान् महावीर के मौलिक उपदेश का गणधरकृत संग्रह द्वादश 'अग' या 'गणिपिटक' मे था अतएव यह स्वय एक वर्ग हो जाय और उससे अन्य का पार्थक्य किया जाय यह जरूरी था। अतएव आगमो का जो प्रथम वर्गीकरण हुआ वह अग और अंगबाह्य इस आधार पर हुआ। इसीलिए हम देखते हैं कि अनुयोग (सू० ३) के प्रारम्भ मे 'अगपविट्ठ' (अगप्रविष्ट) और 'अग-बाहिर' (अगबाह्य) ऐसे श्रुत के भेद किये गये है। नन्दी (सू० ४४) मे भी ऐसे ही भेद हैं। अगबाहिर के लिये वहाँ 'अणगपविट्ठ' शब्द भी प्रयुक्त है (सू० ४४ के अत मे)। अन्यत्र नदी (सू० ३८) मे ही 'अगपविट्ठ' और 'अणगपविट्ठ'—ऐसे दो भेद किये गए हैं।

इन अगबाह्य ग्रन्थो की सामान्य सज्ञा 'प्रकीर्णक' भी थी, ऐसा नन्दीसूत्र से प्रतीत होता है।[1] अगशब्द को ध्यान मे रख कर अगबाह्य ग्रन्थो की सामान्य सज्ञा 'उपाग' भी थी, ऐसा निरयावलिया सूत्र के प्रारभिक उल्लेख से प्रतीत होता है और उससे यह भी प्रतीत होता है कि कोई एक समय ऐसा था जब ये निरयावलियादि पाँच ही उपाग माने जाते होगे।

समवायाग, नदी, अनुयोग तथा पाक्षिकसूत्र के समय तक समग्र आगम के मुख्य विभाग दो ही थे—अग और अगबाह्य। आचार्य उमास्वाति के तत्त्वार्थसूत्रभाष्य[2] से भी यही फलित होता है कि उनके समय तक भी अगप्रविष्ट और अगबाह्य ऐसे ही विभाग प्रचलित थे।

स्थानाग सूत्र (२७७) मे जिन चार प्रज्ञप्तियो को अगबाह्य कहा गया है वे है—चन्द्रप्रज्ञप्ति, सूर्यप्रज्ञप्ति, जबूद्वीपप्रज्ञप्ति और द्वीपसागरप्रज्ञप्ति। इनमे से जबू-

---

१ "एवमाइयाइ चउरासीइ पइन्नगसहस्साइं अहवा जस्स जत्तिया सीसा उप्पत्तियाए चउव्विहाए बुद्धीए उववेआ तस्स तत्तिआइं पइण्णगसहस्साइं "—नन्दी, सू० ४४

२ तत्त्वार्थसूत्रभाष्य, १ २०

द्वीपप्रज्ञप्ति को छोड कर शेष तीन कालिक हैं—ऐसा भी उल्लेख स्थानाग (१५२) मे है।

अंग के अतिरिक्त आचारप्रकल्प (निशीथ) (स्थानाग, सू० ४३३, समवायाग, २८), आचारदशा (दशाश्रुतस्कध), बन्धदशा, द्विगृद्धिदशा, दीर्घदशा और सक्षेपितदशा का भी स्थानाग (७५५) में उल्लेख है। किन्तु बन्धदशादि शास्त्र अनुपलब्ध हैं। टीकाकार के समय मे भी यही स्थिति थी जिससे उनको कहना पडा कि ये कौन ग्रन्थ हैं, हम नहीं जानते। समवायाग मे उत्तराध्ययन के ३६ अध्ययनो के नाम दिये हैं (सम ३६) तथा दशा-कल्प-व्यवहार इन तीन के उद्देशनकाल की चर्चा है। किन्तु उनकी छेदसज्ञा नहीं दी गई है।

प्रज्ञप्ति का एक वर्ग अलग होगा ऐसा स्थानाग से पता चलता है। कुवलयमाला (पृ० ३४) मे अगबाह्य मे प्रज्ञापना के अतिरिक्त दो प्रज्ञप्तियो का उल्लेख है।

'छेद' सज्ञा कब से प्रचलित हुई और छेद मे प्रारभ मे कौन से शास्त्र समिलित थे—यह भी निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता। किन्तु आवश्यकनिर्युक्ति मे सर्वप्रथम 'छेदसुत्त' का उल्लेख मिलता है। उससे प्राचीन उल्लेख अभी तक मिला नहीं है।[1] इससे अभी इतना तो कहा ही जा सकता है कि आवश्यकनिर्युक्ति के समय मे छेदसुत्त का वर्ग पृथक् हो गया था।

कुवलयमाला जो ७-३-७७६ ई मे समाप्त हुई उसमे जिन नाना ग्रन्थो और विषयो का श्रमण चितन करते थे उनके कुछ नाम गिनाये हैं।[2] उसमे सर्वप्रथम आचार से लेकर दृष्टिवादपर्यंत[3] अगो के नाम हैं। तदनन्तर प्रज्ञापना, सूर्यप्रज्ञप्ति तथा चन्द्रप्रज्ञप्ति का उल्लेख है। तदनतर ये गाथाएं हैं—

अण्णाइ य गणहरभासियाइ सामण्णकेवलिकयाइ।
पच्चेयसयबुद्धेहि विरइयाइ गुणेंति महरिसिणो॥
कत्थइ पचावयवं दसह च्चिय साहण परूवेंति।
पच्चक्खमणुमाणपमाणचउक्कय च अण्णे वियारेंति॥

---

१ आव० नि० ७७७, केनोनिकल लिटरेचर, पृ० ३६ में उद्धृत।

२ कुवलयमाला, पृ० ३४

३ विपाक का नाम इनमें नहीं आता, यह स्वय लेखक की या लिपिकार की असावधानी के कारण है।

भवजलहिजाणवत्त पेम्ममहारायणियलणिद्दलए ।
कम्मट्ठगठिवज्ज अण्गे धम्म परिकहेंति ।।
मोहधयाररविणो परवायकुरंगदरियकेसरिणो ।
णयसयखरणहरित्ले अण्गे अह वाइणो तत्थ ।।
लोयालोयपयास दूरतरसण्हवत्थुपज्जोय ।
केवलिसुत्तणिवद्ध णिमित्तमण्गे वियारति ।।
णाणाजीवुप्पत्ती सुवण्णमणिरयगधाउसजोय ।।
जाणति जणियजोणी जोणीण पाहुड अण्गे ।।
ललियवयणत्थसार सव्वालकारणिव्वडियसोह ।
अमयप्पवाहमहुर अण्गे कव्व विइतति ।।
वहुततमतविज्जावियाणया सिद्धजोयजोइसिया ।
अच्छति अणुगुणेंता अवरे सिद्धतसाराइ ।।

कुवलयमालागत इस विवरण मे एक तो यह वात ध्यान देने योग्य है कि अग के वाद अगवाह्यो का उल्लेख है। उनमे अगो के अलावा जिन आगमो के नाम हैं वे मात्र प्रज्ञापना, चन्द्रप्रज्ञप्ति और सूर्यप्रज्ञप्ति के है। इसके वाद गणधर, सामान्यकेवली, प्रत्येकवुद्ध और स्वयसवुद्ध के द्वारा भापित या विरचित ग्रन्थो का सामान्य तौर पर उल्लेख है। वे कौन थे इसका नामपूर्वक उल्लेख नहीं है। दूसरी वात यह ध्यान देने की है कि इसमे दशपूर्वोक्त ग्रन्थो का उल्लेख नही है। गणधर का उल्लेख होने से श्रुतकेवली का उल्लेख सूचित होता है। दूसरी ओर कर्म, मन्त्र, तन्त्र, निमित्त आदि विद्याओ के विपय मे उल्लेख है और योनिपाहुड का नामपूर्वक उल्लेख है। काव्यो का चिंतन भी मुनि करते थे यह भी वताया है। निमित्त को केवलीसूत्रनिवद्ध कहा गया है। कुवलयमाला के दूसरे उल्लेख से यह फलित होता है कि लेखक के मन में केवल आगम ग्रन्थो का ही उल्लेख करना अभीष्ट नहीं है। प्रज्ञापना आदि तीन अगवाह्य ग्रन्थो का जो नामोल्लेख है वह अगवाह्यो में उनकी विशेप प्रतिष्ठा का द्योतक है। धवला[1] जो ८१० ८१६ ई० को समाप्त हुई उससे भी यही सिद्ध होता है कि उस काल तक आगम के अगवाह्य और अगप्रविष्ट ऐसे दो विभाग थे।

किन्तु साम्प्रतकाल मे श्वेताम्वरो मे आगमो का जो वर्गीकरण प्रसिद्ध है वह कब शुरू हुआ, या किसने शुरू किया—यह जानने का निश्चित साधन उपस्थित नहीं है।

---

१ धवला, पुस्तक १, पृ० ६६

श्रीचन्द्र आचार्य (लेखनकाल ई० ११११२ से प्रारभ) ने 'सुखबोधा सामाचारी' की रचना की है। उसमे उन्होंने आगम के स्वाध्याय की तपोविधि का जो वणन किया है उससे पता चलता है कि उनके कालतक अग और उपाग की व्यवस्था अर्थात् अमुक अग का अमुक उपाग ऐसी व्यवस्था बन चुकी थी। पठनक्रम मे सर्वप्रथम आवश्यक सूत्र, तदनतर दशवैकालिक और उत्तराध्ययन के बाद आचार आदि अग पढे जाते थे। सभी अग एक ही साथ क्रम से पढे जाते थे ऐसा प्रतीत नही होता। प्रथम चार आचारांग से समवायाग तक पढने के बाद निसीह, जीयकप्प, पचकप्प, कप्प, ववहार और दसा[1] पढ़े जाते थे। निसीह आदि की यहाँ छेदसज्ञा का उल्लेख नहीं है किन्तु इन सबको एक साथ रखा है यह उनके एक वर्ग की सूचना तो देता ही है। इन छेदग्रन्थो के अध्ययन के बाद नायधम्मकहा (छठा अग), उवासगदसा, अतगडदसा, अणुत्तरोववाइयदसा, पण्हा-वागरण और विपाक—इन अगो की वाचना होती थी। विवाग के बाद एक पक्ति मे भगवई का उल्लेख है किन्तु यह प्रक्षिप्त हो—ऐसा लगता है क्योकि वहाँ कुछ भी विवरण नहीं है (पृ० ३१)। इसका विशेष वर्णन आगे चलकर "गणिजोगेसु य पचमग विवाहपन्नत्ति" (पृ० ३१) इन शब्दो से शुरू होता है। विपाक के बाद उवाग की वाचना का उल्लेख है। वह इस प्रकार है—उववाई, रायपसेणइय, जीवाभिगम, पन्नवणा, सूरपन्नत्ति, जम्बूदीवपन्नत्ति, चन्दपन्नत्ति। तीन पन्नत्तियो के विषय मे उल्लेख है कि 'तओ पन्नत्तिओ कालिआओ सघट्ट च कीरइ'—(पृ ३२)। तात्पर्य यह जान पडता है कि इन तीनो की तत्-तत् अग की वाचना के साथ भी वाचना दी जा सकती है। शेष पाच अगो के लिए लिखा है कि "सेसाण पचण्हमगाण मयतरेण निरयावलिया सुयक्खधो उवग।" (पृ ३२)। इस निरया-वलिया के पाँच वर्ग है—निरयावलिया, कप्पवर्डिसिया, पुप्फिया, पुप्फचूलिया और वण्हीदसा। इसके बाद 'इयाणि पइन्नगा' (पृ० ३२) इस उल्लेख के साथ नदी, अनुयोगद्वार, देविन्दत्थअ, तदुलवेयालिय, चदावेज्झय, आउरपचक्खाण और गणिविज्जा का उल्लेख करके 'एवमाइया' लिखा है। इस उल्लेख से यह सिद्ध होता है कि प्रकीर्णक मे उल्लिखित के अलावा अन्य भी थे। यहा यह भी ध्यान देने की बात है कि नन्दी और अनुयोगद्वार को साप्रतकाल मे प्रकीर्णक से पृथक् गिना जाता है किन्तु यहा उनका समावेश प्रकीर्णक मे है। इस प्रकरण के

---

१ सुखबोधा सामाचारी में "निसीहं सम्मत्तं" ऐसा उल्लेख है और तदनन्तर जीयकप्प आदि से सबधित पाठ के अंत में "कप्पववहारदसासुयक्खंधो सम्मत्तो"—ऐसा उल्लेख है। अतएव जीयकप्प और पचकप्प की स्थिति सदिग्ध बनती है—पृ० ३०

मत मे 'वाहिरजोगविहिसमत्तो' ऐसा लिखा है उससे यह भी पता चलता है कि उपाग और प्रकीर्णक दोनो की सामान्य सज्ञा या वर्ग अगवाह्य था। इसके बाद भगवती की वाचना का प्रसग उठाया है। यह भगवती का महत्त्व सूचित करता है। भगवती के बाद महानिसीह का उल्लेख है और उसका उल्लेख अन्य निसीहादि छेद के साथ नहीं है—इससे सूचित होता है कि वह बाद की रचना है। मतान्तर देने के बाद अत मे एक गाथा दी है जिसमे सूचना मिलती है कि किस अग का कौन उपाग है—

"उ० रा० जी० पन्नवणा सू० ज० च० नि० क० क० पु० पु० वह्रिदसनामा।
आयाराइउवगा नायव्वा आणुपुव्वीए ॥"
—सुखबोधा सामाचारी, पृ० ३४.

श्रीचन्द्र के इस विवरण से इतना तो फलित होता है कि उनके समय तक अग उपाग, प्रकीर्णक इतने नाम तो निश्चित हो चुके थे। उपागो मे कौन ग्रन्थ समाविष्ट हैं यह भी निश्चित हो चुका था जो साप्रतकाल मे भी वैसा ही है। प्रकीर्णक वर्ग मे नदी-अनुयोगद्वार शामिल था जो बाद मे जाकर पृथक् हो गया। मूलसज्ञा किसी को भी नहीं मिलती जो आगे जाकर आवश्यकादि को मिली है।

जिनप्रभ ने अपने 'सिद्धान्तागमस्तव' मे आगमो का नामपूर्वक स्तवन किया है किन्तु वर्गीकरण नहीं किया। उनका स्तवनक्रम इस प्रकार है—आवश्यक, विशेषावश्यक, दशवैकालिक, ओघनिर्युक्ति, पिण्डनिर्युक्ति, नन्दी, अनुयोगद्वार, उत्तराध्ययन, ऋषिभाषित, आचाराग आदि ग्यारह अग (इनमे कुछ को अग सज्ञा दी गई है), ओपपातिक आदि १२ (इनमे किसी को भी उपाग नही कहा है), मरणसमाधि आदि १३ (इनमे किसी को भी प्रकीर्णक नहीं कहा है), निशीथ, दशाश्रुत, कल्प, व्यवहार, पचकल्प, जीतकल्प, महानिशीथ—इतने नामो के बाद निर्युक्ति आदि टीकाओ का स्तवन है। तदनतर दृष्टिवाद और अन्य कालिक, उत्कालिक ग्रन्थों की स्तुति की गई है। तदनतर अगविद्या, विशेषणवती, समति, नयचक्रवाल, तत्त्वार्थ, ज्योतिष्करड, सिद्धप्राभृत, वसुदेवहिंडी, कर्मप्रकृति आदि प्रकरण ग्रन्थो का उल्लेख है। इस सूची से एक बात तो सिद्ध होती है कि भले ही जिनप्रभ ने वर्गो के नाम नहीं दिये किन्तु उस समय तक कौन ग्रन्थ किसके साथ उल्लिखित होना चाहिए ऐसा एक क्रम तो बन गया होगा। इसीलिए हम मूलसूत्रों और चूलिकासूत्रो के नाम एक साथ ही पाते हैं। यही बात अग, उपाग, छेद और प्रकीर्णक मे भी लागू होती है।

आचार्य उमास्वाति भाष्य मे अग के साथ उपाग[1] शब्द का निर्देश करते हैं और अगबाह्य ग्रन्थ उपागशब्द से उन्हे अभिप्रेत है। आचार्य उमास्वाति ने अग-बाह्य की जो सूची दी है वह भी जिनप्रभकी सूची का पूर्वरूप है। उसमें प्रथम सामायिकादि छ आवश्यको का उल्लेख है, तदनतर "दशवैकालिक, उत्तराध्याया, दशा, कल्पव्यवहारी, निशीथ, ऋषिभाषितान्येवमादि"—इस प्रकार उल्लेख है। इसमे जो आवश्यकादि मूलसूत्रो का तथा दशा आदि छेदग्रथो का एक साथ निर्देश है वह उनके वर्गीकरण की पूर्वसूचना देता ही है। धवला मे १४ अग-बाह्यो की जो गणना की गई है उनमे भी प्रथम छ आवश्यको का निर्देश है, तदनतर दशवैकालिक और उत्तराध्ययन का और तदनतर कप्पववहार, कप्पाकप्पिय, महाकप्पिय, पुडरीय, महापुडरीय और निसीह का निर्देश है। इसमें केवल पुडरीय, महापुडरीय का उल्लेख ऐसा है जो निसीह को अन्य छेद से पृथक् कर रहा है। अन्यथा यह भी मूल और छेद के वर्गीकरण की सूचना दे ही रहा है।

आचार्य जिनप्रभ ने ई १३०६ मे विधिमार्गप्रपा ग्रन्थ की समाप्ति की है। उसमे भी (पृ० ४८ से) उन्होने आगमो के स्वाध्याय की तपोविधि का वर्णन किया है। क्रम से निम्न ५१ ग्रन्थो का उसमे उल्लेख है—१ आवश्यक[2], २ दशवैकालिक, ३ उत्तराध्ययन, ४ आचाराग, ५ सूयगडग, ६ ठागग, ७ समवायाग, ८ निसीह, ९-११ दसा-कप्प-ववहार[3], १२ पचकप्प, १३ जीयकप्प, १४ विवाहपन्नत्ति, १५ नायाधम्मकहा, १६ उवासगदसा, १७ अतगडदसा, १८ अनुत्तरोववाइयदसा, १९ पण्हावागरण, २० विवागसुय (दिट्ठिवाओ दुवालसमग त च वोच्छिन्न) (पृ० ५६)। इसके बाद यह पाठ प्रासगिक है—"इत्थ य दिक्खापरियाएण तिवासो आयारपकप्प वहिज्जा वाइज्जा य। एव चउवासो सूयगड। पचवासो दसा-कप्प-ववहारे। अट्ठवासो ठाण-समवाए। दसवासो भगवई। इक्कारसवासो खुड्डियाविमाणाइपचज्झयणे। बारसवासो अरुणोववायाइपचज्झयणे। तेरसवासो उट्ठाणसुयाइचउरज्झयणे। चउदसाइअट्ठारसतवासो कमेण कमेण

---

१. 'अन्यथा हि अनिबद्धमङ्गोपाङ्गश समुद्रप्रतरणवद् दुरध्यवसेय स्यात्"—तत्त्वार्थ भाष्य, १ २०

२ "ओहनिज्जुत्ती आवस्सय चेव अणुपविट्ठा"—विधिमार्गप्रपा, पृ० ४९

३ दसा-कप्प-ववहार का एक श्रुतस्कंध है यह सामान्य मान्यता है। किन्तु किसी के मत से कप्प-ववहार का एक स्कंध है—वही पृ० ५२

आसीविसभावणा-दिट्ठिविसभावणा-चारणभावणा-महासुमिणभावणा-तेयनिसग्गो ।
एगूणवीसवासो दिट्ठीवाय सपुन्नवीसवासो सव्वसुत्तजोगो त्ति" ॥ (पृ० ५६) ।

इसके बाद "इयार्णि उवगा" ऐसा लिखकर जिस अग का जो उपाग है उसका निर्देश इस प्रकार किया है—

अग		उपाग	
१	आचार	२१	ओवाइय
२	सूयगड	२२	रायपसेणइय
३	ठाग	२३	जीवाभिगम
४	समवाय	२४	पण्णवणा
५	भगवई	२५	सूरपण्णत्ति
६	नाया(धम्म)	२६	जबुद्दीवपण्णत्ति
७	उवासगदसा	२७	चदपण्णत्ति
८-१२	अंतगडदसादि	२८-३२	निरयावलिया सुयक्खध (२८ 'कप्पियो' २९ कप्पवडिसिया, ३० पुप्फिया, ३१ पुप्फचूलिया, ३२ वण्हिदसा)

आ० जिनप्रभ ने मतान्तर का भी उल्लेख किया है कि "अण्गे पुण चदपण्णत्ति, सूरपण्णत्ति च भगवईउवगे भगति। तेंसि मएण उवासगदसाईण पचण्हमगाग उवग निरयावलियासुयक्खधो"—पृ० ५७

इस मत का उत्थान इस कारण से हुआ होगा कि जब ११ अग उपलब्ध हैं और बारहवाँ अग उपलब्ध ही नहीं तो उसके उपाग की अनावश्यकता है। अतएव भगवती के दो उपाग मान कर ग्यारह अग और बारह उपाग की सगति बैठाने का यह प्रयत्न है। अत मे श्रीचन्द्र की सुखबोधा सामाचारी मे प्राप्त गाथा उद्धृत करके 'उवगविही' की समाप्ति की है।

१ श्रीचद्र की सुखबोधा सामाचारी में इसके स्थान में निरयावलिया का निर्देश है।

तदनन्तर 'सपय पइण्णगा'—इस उल्लेख के साथ ३३ नदी, ३४ अनुयोगदाराइ, ३५ देविदत्यय, ३६ तदुलवेयालिय, ३७ मरणसमाहि, ३८ महापच्चक्खाण, ३९ आउरपच्चक्खाण, ४० सथारय, ४१ चन्दाविज्झय, ४२ भत्तपरिण्णा, ४३ चउसरण, ४४ वीरत्यय, ४५ गणिविज्जा, ४६ दीवसागरपण्णत्ति, ४७ सगहणी, ४८ गच्छायार, ४९ दीवसागरपण्णत्ति, ५० इसिभासियाइ—इनका उल्लेख करके 'पइण्णगविही' की समाप्ति की है। इससे सूचित होता है कि इनके मत मे १८ प्रकीर्णक थे। अन्त मे महानिसीह का उल्लेख होने से कुल ५१ ग्रथो का जिनप्रभ ने उल्लेख किया है।[1]

जिनप्रभ ने सग्रहरूप जोगविहाण नामक गाथाबद्ध प्रकरण का भी उद्धरण अपने ग्रन्थ मे दिया है—पृ० ६०। इस प्रकरण मे भी सख्याक देकर अगो के नाम दिये गये हैं। योगविधिक्रम मे आवस्सय और दसयालिय का सर्वप्रथम उल्लेख किया है और ओघ और पिण्डनिर्युक्ति का समावेश इन्हो मे होता है—ऐसी सूचना भी दी है (गाथा ७, पृ० ५८)। तदनतर नन्दी और अनुयोग का उल्लेख करके उत्तराध्ययन का निर्देश किया है। इसमें भी समवाय अग के बाद दसा-कप्प-ववहार-निसीह का उल्लेख करके इन्हीं की 'छेदसूत्र' ऐसी सज्ञा भी दी है—गाथा—२२, पृ० ५९। तदनतर जीयकप्प और पचकप्प (पणकप्प) का उल्लेख होने से प्रकरणकार के समय तक सभव है ये छेदसूत्र के वर्ग मे सम्मिलित न किये गए हो। पचकल्प के बाद ओवाइय आदि चार उपागो की बात कह कर विवाहपण्णत्ति से लेकर विवाग अगो का उल्लेख है। तदनन्तर चार प्रज्ञप्ति—सूर्यप्रज्ञप्ति आदि निर्दिष्ट हैं। तदनन्तर निरयावलिया का उल्लेख करके उपागदर्शक पूर्वोक्त गाथा (न ६०) निर्दिष्ट है। तदनन्तर देविदत्यय आदि प्रकीर्णक की तपस्या का निर्देश कर के इसिभासिय का उल्लेख है। यह भी मत उल्लिखित है जिसके अनुसार इसिभासिय का समावेश उत्तराध्ययन मे हो जाता है (गाथा ६२, पृ० ६२)। अन्त में सामाचारीविषयक परम्परा भेद को देखकर शका नहीं करनी चाहिए यह भी उपदेश है—गाथा ६६

जिनप्रभ के समय तक साप्रतकाल मे प्रसिद्ध वर्गीकरण स्थिर हो गया था इसका पता 'वायणाविही' के उत्थानमे उन्होने जो वाक्य दिया उससे लगता है—"एव कप्पतिप्पाइविहिपुरस्सर साहू समाणियसयलजोगविही मूलग्गन्थ-नन्दि-अणुओगदार-उत्तरज्झयण-इसिभासिय-अग-उवग-पइन्नय-छेयगन्थआगमे

---

१ गच्छायार के बाद—'इच्चाइ पइण्णगाणि' ऐसा उल्लेख होने से कुछ अन्य भी प्रकीर्णक होंगे जिनका उल्लेख नामपूर्वक नहीं किया गया—पृ० ५८

वाइज्जा"—पृ० ६४। इससे यह भी पता लगता है कि 'मूल' मे आवश्यक और दशवैकालिक ये दो ही शामिल थे। इस सूची मे 'मूलग्रन्थ' ऐसा उल्लेख है किन्तु पृथक् रूपसे आवश्यक और दशवैकालिक का उल्लेख नहीं है—इसीसे इसकी सूचना मिलती है।

जिनप्रभ ने अपने सिद्धान्तागमस्तव मे वर्गों के नामकी सूचना नहीं दी किन्तु विधिमार्गप्रपा मे दी है—इसका कारण यह भी हो सकता है कि उनको ही यह सूझ हो, जब उन्होने विधिमार्गप्रपा लिखी। जिनप्रभ का लेखनकाल सुदीर्घ था यह उनके विविधतीर्थकल्प की रचना से पता लगता है। इसकी रचना उन्होने ई० १२७० मे शुरू की और ई० १३३२ मे इसे पूर्ण किया[1] इसी बीच उन्होंने १३०६ ई० मे विधिमार्गप्रपा लिखी है। स्तवन सभवत इससे प्राचीन होगा।

उपलब्ध आगमों और उनकी टीकाओ का परिमाणः

समवाय और नन्दीसूत्र मे अगो की जो पदसख्या दी है उसमे पद से क्या अभिप्रेत है यह ठीक रूप से ज्ञात नहीं होता। और उपलब्ध आगमो से पदसंख्या का मेल भी नहीं है। दिगबर षट्खडागम मे गणित के आधार पर स्पष्टीकरण करने का जो प्रयत्न है[2] वह भी काल्पनिक ही है, तथ्य के साथ उसका कोई सबध नहीं दीखता।

अतएव उपलब्ध आगमो का क्या परिमाण है इसकी चर्चा की जाती है। ये सख्याएँ हस्तप्रतियो मे ग्रन्थाग्ररूप से निर्दिष्ट हुई हैं। उसका तात्पर्य होता है—३२ अक्षरो के श्लोको से। लिपिकार अपना लेखन-पारिश्रमिक लेने के लिए गिनकर प्राय अन्त मे यह सख्या देते हैं। कभी स्वय ग्रन्थकार भी इस सख्या का निर्देश करते हैं।[3] यहा दी जानेवाली सख्याएँ, भाडारकर ओरिएण्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट के वोल्युम १७ के १-३ भागो मे आगमो और उनकी टीकाओ की हस्तप्रतियो की जो सूची छपी है उसके आधार से हैं—इससे दो कार्य सिद्ध होगे—श्लोकसख्या के बोध के अलावा किस आगम की कितनी टीकाएँ लिखी गई इसका भी पता लगेगा।

---

१ जै० सा० स० इ०, पृ० ४१६

२ जै० सा० इ० पूर्वपीठिका, पृ० ६२१, षट्खडागम, पु० १३, पृ० २४७–२५४

३ कभी कभी धूर्त लिपिकार सख्या गलत भी लिख देते हैं।

१ अग (१) आचारांग २६४४, २६५४

„ निर्युक्ति ४५०

„ चूर्णि ८७५०

„ वृत्ति १२३००

„ दीपिका (१) ६०००, १००००, १५०००

„ „ (२) ६०००

„ अवचूरि

„ पर्याय

(२) सूत्रकृतांग २१०० (प्रथम श्रुतस्कन्ध की १०००)

„ निर्युक्ति २०८ गाथा

„ निर्युक्ति मूल के साथ २५८०

„ निर्युक्ति } १२८५०, १३०००, १३३२५,
„ वृत्ति } १४०००

„ हर्षकुलकृत दीपिका (१) ६६००, ८६००, ७१००, ७००० (यह सख्या मूल के साथ की है)

„ साधुरगकृत दीपिका १३४१६

पार्श्वचन्द्रकृत वार्तिक (टबा) ८०००

चूर्णि

पर्याय

(३) स्थानांग ३७७०, ३७५०

„ टीका (अभयदेव) १४२५०, १४५००

„ सटीक १८०००

„ दीपिका (नागर्पिगणि) सह १८०००

„ बालावबोध

„ स्तबक १६०००

„ पर्याय

„ बोल

(४) समवाय १६६७, १७६७

„ वृत्ति ३५७५, ३७००

„ पर्याय

(५) भगवती १६०००, १५८००
„ वृत्ति १८६१६, १६७७६
„ अवचूर्णि ३११४
„ पर्याय

(६) ज्ञाताधर्म ५५००, ६०००, ५२५०, ५६२७,
५७५०, ६०००
„ वृत्ति ३७००, ३८१५, ४७००
„ सवृत्ति ६७५५
वालावबोधसह १८२००

(७) उपासकदशा ६१२, ८७२, ८१२
„ वृत्ति ६४४

(८) अन्तकृत ९००
„ वृत्ति (उपा० अन्त० अनुत्त०) १३००
„ स्तवक

(९) अनुत्तरौपपातिक १६२
„ वृत्ति ४३७

(१०) प्रश्नव्याकरण १२५०
„ वृत्ति ४६३०, ५६३०, ४८००, ५०१६
„ स्तवक
„ पर्याय

(११) विपाक १२५०
„ वृत्ति १०००, ६०६, ११६७
„ स्तवक

२ उपाग (१) औपपातिक ११६७, १५००
„ वृत्ति ३४५५, ३१३५, ३१२५

(२) राजप्रश्नीय २५०६, २०७६, २१२०
„ वृत्ति ३६५०, ३७००, ३७६८

१ अग (१) आचारांग २६४४, २६५४

„ निर्युक्ति ४५०

„ चूर्णि ८७५०

„ वृत्ति १२३००

„ दीपिका (१) ६०००, १००००, १५०००

„ „ (२) ६०००

„ अवचूरि

„ पर्याय

(२) सूत्रकृताग २१०० (प्रथम श्रुतस्कन्ध की १०००)

„ निर्युक्ति २०८ गाथा

„ निर्युक्ति मूल के साथ २५८०

„ निर्युक्ति } १२८५०, १३०००, १३३२५,
„ वृत्ति } १४०००

„ हर्षकुलकृत दीपिका (१) ६६००, ८६००, ७१००, ७००० (यह सख्या मूल के साथ की है)

„ साधुरगकृत दीपिका १३४१६

पार्श्वचन्द्रकृत वार्तिक (टबा) ८०००

चूर्णि

पर्याय

(३) स्थानांग ३७७०, ३७५०

„ टीका (अभयदेव) १४२५०, १४५००

„ सटीक १८०००

„ दीपिका (नागर्षिगणि) सह १८०००

„ बालावबोध

„ स्तबक १६०००

„ पर्याय

„ बोल

(४) समवाय १६६७, १७६७

„ वृत्ति ३५७५, ३७००

„ पर्याय

(५) भगवती १६०००, १५८००
„ वृत्ति १८६१६, १६७७६
„ अवचूर्णि ३११४
„ पर्याय

(६) ज्ञाताधर्म ५५००, ६०००, ५२५०, ५६२७,
५७५०, ६०००
„ वृत्ति ३७००, ३८१५, ४७००
„ सवृत्ति ६७५५
बालावबोधसह १८२००

(७) उपासकदशा ६१२, ८७२, ८१२
„ वृत्ति ६४४

(८) अन्तकृत ६००
„ वृत्ति (उपा० अन्त० अनुत्त०) १३००
„ स्तवक

(९) अनुत्तरौपपातिक १६२
„ वृत्ति ४३७

(१०) प्रश्नव्याकरण १२५०
„ वृत्ति ४६३०, ५६३०, ४८००, ५०१६
„ स्तबक
„ पर्याय

(११) विपाक १२५०
„ वृत्ति १०००, ६०६, ११६७
„ स्तबक

२. उपांग (१) औपपातिक ११६७, १५००
„ वृत्ति ३४५५, ३१३५, ३१२५

(२) राजप्रश्नीय २५०६, २०७६, २१२०
„ वृत्ति ३६५०, ३७००, ३७६८

(३) जीवाभिगम ४७००, ५२००

,, वृत्ति १४०००

,, स्तवक

,, पर्याय

(४) प्रज्ञापना ७९८९, ८१००, ७७८७

,, टीका १४०००, १५०००

,, प्रदेशव्याख्या

,, सग्रहणी

,, पर्याय

(५) सूर्यप्रज्ञप्ति

,, टीका

(६) जबूद्वीपप्रज्ञप्ति ४४५८, ४१४६

,, टीका (हीर०) १४२५२

,, ,, (शान्ति०)

टबासह १५०००

चूर्णि (करण) २०२३, १८२३, १८६०

,, विवृति (ब्रह्म)

(७) चन्द्रप्रज्ञप्ति २०५८

,, विवरण ९५००

(८-१२) निरयावलिका (५) ११०९

,, टीका ६०५, ६५०, ७३७, ६३७

,, टबा ११००

,, पर्याय

,, बालावबोध

३ प्रकीर्णक (१) चतु शरण गाथा ६३

,, अवचूरि

,, टबा

,, विषमपद

(२) आतुरप्रत्याख्यान गाथा ८४

,, विवरण ८५०

,, टबा

(३) भक्तपरिज्ञा गा० १७३,
ग्रन्याग्र १७१
„ अवचूरि
(४) सस्तारक गाथा १२१
„ विवरण
„ अवचूरि
„ वालाववोध
(५) तदुलवैचारिक ४००
„ वालाववोध
(६) चन्द्रावेध्यक गाथा १७४,
गा० १७५
(७) देवेन्द्रस्तव गा० ३०७, गा० २६२
(८) गणिविद्या गा० ८६, गा० ८५
(९) महाप्रत्याख्यान गा० १४३, गा० १४२
(१०) वीरस्तव गा० ४३, गा० ४२
(११) अगचूलिका
(१२) अगविद्या ६८००
(१३) अजीवकल्प गाथा ४४
(१४) आराधनापताका ६६०
(रचना स १०७८)
(१५) कवचद्वार गा० १२६
(१६) गच्छाचार १६७
विवृति ५८५० (विजयविमल)
„ वानरर्षि
„ अवचूरि
(१७) जबूस्वामिस्वाध्याय
„ टवा
„ „ (पद्मसुदर)
(१८) ज्योतिष्करडक
„ टीका ५५००

(१९) तीर्थोद्गालिक गा० १२५१, गा० १२३३
ग्रन्थाग्र १५६५

(२०) द्वीपसागरप्रज्ञप्ति

(२१) पर्यन्ताराधना ७४
„ बालावबोध २४५
„ ३००

(२२) पिंडविशुद्धि
„ टीका ४४००
„ सुबोधा २८००
„ दीपिका ७०३
„ बालावबोध
„ अवचूर्णि

(२३) मरणविधि

(२४) योनिप्राभृत

(२५) वकचूलिका

(२६) सारावली

(२७) सिद्धप्राभृत गाथा १२१

४ छेदसूत्र (१) निशीथ ८१२
„ निर्युक्ति-भाष्य गा० ६४३६
ग्रन्थाग्र ८४००
„ टिप्पणक ७७०५ (?)
„ चूर्णि (प्रथम उ०) ५३६५
„ विशोद्देशकव्या०
„ पर्याय

(२) महानिशीथ ४५४४
„ टवा

(३) व्यवहार
„ निर्युक्ति-भाष्य ५२००,
गा० ४६२६

„ टीका प्रथम खण्ड (उ० १-३) १६८५६

„ पीठिका २३५५

„ पीठिका और उ० १ १०८७८

„ उ० ३ २५६५

„ उ० १० ४१३३

„ उ० १—१० ३७६२५

„ द्वितीय खण्ड १०३६६

„ चूर्णि १०३६०

„ पीठिका २०००

„ पर्याय

(४) दशाश्रुत १३८०

„ निर्युक्ति गा० १५४

„ चूर्णि २२२५, ४३२१, २१६१, २३२५ (?)

„ टीका (ब्रह्म) ५१५२

„ टिप्पणक

„ पर्याय

कल्पसूत्र (दशाश्रुत का अंश) १२१६

„ संदेहविषौषधि (जिनप्रभ) २२६८

„ अवचूर्णि

„ किरणावली (धर्मदास) ८०१४ (?)

„ प्रदीपिका (संघविजय) ३२००

„ दीपिका (जयविजय) ३४३२

„ कल्पद्रुमकलिका (लक्ष्मीवल्लभ)

„ अवचूरि

„ टिप्पणक

„ वाचनिकाम्नाय

„ टबा

„ निर्युक्ति—संदेहविषौषधिसह ३०४१

„ वृत्ति (उदयसागर)

„ टिप्पण (पृथ्वीचन्द्र)

„ दुर्गपदनिरुक्ति ४१८

„ कल्पान्तर्वाच्य (कल्पसमर्थन) २७००
„ पर्युषणाष्टाह्निकाव्याख्यान
„ पर्युषणपर्वविचार
„ मंजरी (रत्नसागर) ५६६५ (?)
„ लता (समयसुंदर) ८०००
„ सुबोधिका (विनयविजय) ५४००
„ कौमुदी (शांतिसागर) ३७०७, ६५३८ (?)
„ ज्ञानदीपिका (ज्ञानविजय)

(५) बृहत्कल्प ४००, ४७३
„ लघुभाष्य सटीक (पीठिका) ५६००
„ उ० १-२ ६५००
„ „ २-४ १२५४०
„ लघुभाष्य ६६००
„ टबा
„ चूर्णि १४०००, १६०००
„ विशेषचूर्णि ११०००
„ बृहद्भाष्य ८६००
„ पर्याय

(६) पंचकल्प
„ चूर्णि ३१३५
„ बृहद्भाष्य ३१८५ (गा० २५७४)
„ पर्याय

(७) जीतकल्प गा० १०३, गा० १०५
„ विवरणलव (श्रीतिलक)
„ टीका ६७७३
„ चूर्णि (सिद्धसेन)
„ पर्याय

(८) यतिजीतकल्प
„ विवृत्ति ५७००

५—चूलिका सूत्र (१) नन्दी ७००
„ वृत्तिसह ८५३५
„ चूर्णि १४००

„ विवरण (हारि०) २३३६
„ „ (मलय०) ७७३२, ७८३२
„ दुर्गपदव्याख्या (श्रीचन्द्र)
„ पर्याय

स्थविरावलि (नदीगता)
„ अवचूरि
„ टवा
„ बालावबोध ।

(२) अनुयोगद्वार १३९९, १६०४, १८००, २००५
„ वृत्ति (हेम) ५७००, ६०००
„ वार्तिक

६—मूलसूत्र (१) उत्तराध्ययन २०००, २३००, २१००
„ सुखबोधा (देवेन्द्र = नेमिचन्द्र)।१४९१६, १४२००, १२०००, १४४२७, १४४५२, १४०००
„ अवचूरि
„ वृत्ति (कीर्तिवल्लभ) ८२६०
„ अक्षरार्थ
„ „ लवलेश ६५९८
„ वृत्ति (भावविजय) १४२५५
„ दीपिका (लक्ष्मीवल्लभ)
„ दीपिका ८६७०
„ बालावबोध ६२५०
„ टवा ७००० (पार्श्वचंद्र)
„ कथा ५००० (पद्मसागर), ४५००
„ निर्युक्ति ६०४
„ बृहद्वृत्ति (शांतिसूरि) १८०००
„ बृहद्वृत्तिपर्याय
„ अवचूर्णि (ज्ञानसागर) ५२५०

(२) दशवैकालिक ७००
„ निर्युक्ति ५५०
„ वृत्ति (हारि०)

" वृत्ति अवचूरि
" " पर्याय
" टीका (सुमति) २६५०
" टीका ३०००
" टीका २८००
" अवचूरि २१४३
" टबा (कनकसुदर) १५००

(३) आवश्यक

" चैत्यवन्दन-ललितविस्तरा १२७०
" पजिका
" टबा (देवकुशल) ३२५०
" वृत्ति (तरुणप्रभ)
" अवचूरि (कुलमडन)
" बालावबोध
" टबा
" निर्युक्ति २५७२, ३५५०, ३१००, ३३७५, ३१५०
" " पीठिका-बालावबोध
" शिष्यहिता (हरि०) १२३४३
" विवृति (मलय०)
" लघवृत्ति (तिलकाचार्य)
" नियुक्ति-अवचूरि (ज्ञानसागर) ६००५
" " बालावबोध
" " दीपिका
" " लघुवृत्ति १३०००
" " प्रदेशव्याख्या (हेमचन्द्र) ४६०० (?)
" " विशेपावश्यकभाष्य गा० ४३१४,
गा० ३६७२, ग्रन्याग्र ५०००,
गा० ४३३६
" " वृत्ति स्वोपज्ञ
" " वृत्ति (कोट्याचार्य) १३७००
" " वृत्ति (हेमचन्द्र) २८०००, २८६७६

(४) पिण्डनिर्युक्ति ७६६१
„ शिष्यहिता (वीरगणि = समुद्रघोष)
„ वृत्ति (माणिक्यशेखर)
„ अवचूरि (क्षमारत्न)
(५) ओघनिर्युक्ति १४६०, गा० ११६२, गा० ११५४,
गा० ११६५, गा० ११६४
„ टीका (द्रोण०) सह ७३८५, ८३८५
„ टीका (द्रोण०) ६५४५
„ अवचूर्णि (ज्ञानसागर) ३४००
(६) पाक्षिकसूत्र
„ वृत्ति (यशोदेव) २७००
„ अवचूरि ६२१, १०००

आगम और उनकी टीकाओ के परिमाण के उक्त निर्देश से यह पता चलता है कि आगमसाहित्य कितना विस्तृत है। उत्तराध्ययन, दशवैकालिक, कल्पसूत्र तथा आवश्यकसूत्र—इनकी टीकाओ की सूची भी काफी लम्बी है। सबसे अधिक टीकाएं लिखी गई हैं कल्पसूत्र और आवश्यकसूत्र पर। इससे इन सूत्रो का विशेष पठन-पाठन सूचित होता है। जब से पर्युषण मे सघसमक्ष कल्पसूत्र के वाचन की प्रतिष्ठा हुई है, इस सूत्र का अत्यधिक प्रचार हुआ है। आवश्यक तो नित्य-क्रिया का ग्रन्थ होने से उसपर अधिक टीकाएं लिखी जायं यह स्वाभाविक है।

आगमों का काल :

आधुनिक विदेशी विद्वानो ने इस बात को माना है कि भले ही देवर्धि ने पुस्तक-लेखन करके आगमो के सुरक्षा-कार्य को आगे बढाया किन्तु वे, जैसा कि कुछ आचार्य भी मानते हैं, उनके कर्ता नहीं हैं। आगम तो प्राचीन ही हैं। उन्होने उन्हें यत्र-तत्र व्यवस्थित किया।[1] आगमा मे कुछ अश प्रक्षिप्त हो सकता है किन्तु उस प्रक्षेप के कारण समग्र आगम का काल देवर्धि का काल नहीं हो जाता। उनमें कई अश ऐसे हैं जो मौलिक हैं। अतएव पूरे आगम का एक काल नहो किन्तु तत्तत् आगम का परीक्षण करके कालनिर्णय करना जरूरी है। सामान्य तौर पर विद्वानो ने अग आगमो का काल प्रक्षेपो को बाद किया जाय तो पाटलिपुत्र की वाचना के काल को माना है। पाटलिपुत्र की वाचना भगवान् महावीर के

१ देखें—सेक्रेड बुक्स ऑफ दी ईस्ट, भाग २२ की प्रस्तावना, पृ० ३९ में जेकोबी का कथन।

वाद छठे आचार्य के काल मे भद्रबाहु के समय मे हुई और उसका काल है ई पू ४थी शताब्दी का दूसरा दशक।[1] डा जेकोबी ने छन्द आदि की दृष्टि से अध्ययन करके यह निश्चय किया था कि किसी भी हालत में आगम के प्राचीन अश ई० पू० चौथी के अत से लेकर ई० पू० तीसरी के प्रारम्भ से प्राचीन नहीं ठहरते।[2] हर हालत मे हम इतना तो मान ही सकते हैं कि आगमो का प्राचीन अश ई० पूर्व का है। उन्हें देवर्धि के काल तक नहीं लाया जा सकता।

वलभी में आगमो का लेखनकाल ई० ४५३ (मतान्तर से ई० ४६६) माना जाता है। उस समय कितने आगम लेखबद्ध किये गये इसकी कोई सूचना नहीं मिलती। किन्तु इतनी तो कल्पना की जा सकती है कि अग आगमो का प्रक्षेपो के साथ यह लेखन अतिम था। अतएव अगो के प्रक्षेपो की यही अतिम मर्यादा हो सकती है। प्रश्नव्याकरण जैसे सर्वथा नूतन अग की वलभी लेखन के समय क्या स्थिति थी यह एक समस्या बनी ही रहेगी। इसका हल अभी तो कोई दीखता नहीं है।

कई विद्वान् इस लेखन के काल का और अग आगमो के रचनाकाल का समिश्रण कर देते हैं और इसी लेखनसमय को रचनाकाल भी मान लेते हैं। यह तो ऐसी ही बात होगी जैसे कोई किसी हस्तप्रति के लेखनकाल को देख कर उसे ही रचनाकाल भी मान ले। ऐसा मानने पर तो समग्र वैदिक साहित्य के काल का निर्णय जिन नियमो के आधार पर किया जाता है वह नहीं होगा और हस्तप्रतियो के आधार पर ही करना होगा। सच बात तो यह है कि जैसे वैदिक वाङ्मय श्रुत है वैसे ही जैन आगमो का अग विभाग भी श्रुत है। अतएव उसके कालनिर्णय के लिए उन्ही नियमो का उपयोग आवश्यक है जिन नियमो का उपयोग वैदिक वाङ्मय के कालनिर्णय मे किया जाता है। अग आगम भ० महावीर का उपदेश है और उसके आधार पर उनके गणधरो ने अगो की रचना की है। अत रचना का प्रारभ तो भ० महावीर के काल से ही माना जा सकता है। उसमे जो प्रक्षेप हो उन्हे अलग कर उनका समयनिर्णय अन्य आधारो से करना चाहिए।

आगमो मे अगबाह्य ग्रन्थ भी शामिल हुए हैं और वे तो गणधरो की रचना नहीं है अत उनका समयनिर्धारण जैसे अन्य आचार्यों के ग्रन्थो का समय निर्धारित

---

१ Doctrine of the Jainas, p 73

२ सेक्रेड बुक्स ऑफ दी ईस्ट, भाग २२, प्रस्तावना, पृ० ३१ से, डोक्ट्रिन ऑफ दी जैन्स, पृ० ७३, ८१

किया जाता है वैसे ही होना चाहिए। अगवाह्यो का सबध विविध वाचनाओ से भी नहीं है और सकलन से भी नहीं है। उनमे जिन ग्रन्थो के कर्ता का निश्चित रूप से पता है उनका समय कर्ता के समय के निश्चय से ही होना चाहिए। वाचना और सकलना और लेखन जिन आगमो के हुए उनके साथ जोड कर इन अगवाह्य ग्रन्थो के समय को भी अनिश्चित कोटि मे डाल देना अन्याय है और इसमें सचाई भी नही है।

अगवाह्यो मे प्रज्ञापना के कर्ता आर्यश्याम हैं अतएव आर्यश्याम का जो समय है वही उसका रचनासमय है। आर्यश्याम को वीरनिर्वाण सवत् ३३५ मे युगप्रधान पद मिला और वे ३७६ तक युगप्रधान रहे। अतएव प्रज्ञापना इसी काल की रचना है, इसमे सदेह को स्थान नही है। प्रज्ञापना आदि से अत तक एक व्यवस्थित रचना है जैसे कि षट्खडागम आदि ग्रन्थ हैं। तो क्या कारण है कि उसका रचनाकाल वही न माना जाय जो उसके कर्ता का काल है और उसके काल को वलभी के लेखनकाल तक खींचा जाय ? अतएव प्रज्ञापना का रचनाकाल ई० पू० १९२ से ई० पू० १५१ के बीच का निश्चित मानना चाहिए।

चन्द्रप्रज्ञप्ति, सूर्यप्रज्ञप्ति[1] और जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति – ये तीन प्रज्ञप्तियां प्राचीन हैं इसमे भी सदेह को स्थान नहीं है। दिगवर परपरा ने दृष्टिवाद के परिकर्म मे इन तीनो प्रज्ञप्तियो का समावेश किया है और दृष्टिवाद के अश का अविच्छेद भी माना है। तो यही अधिक सभव है कि ये तीनो प्रज्ञप्तियां विच्छिन्न न हुई हो। इनका उल्लेख श्वेताम्बरो के नन्दी आदि मे भी मिलता है। अतएव यह तो माना ही जा सकता है कि इन तीनो की रचना श्वेताम्बर-दिगम्बर के मतभेद के पूर्व हो चुकी थी। इस दृष्टि से इनका रचनासमय विक्रम के प्रारभ से इधर नही आ सकता। दूसरी बात यह है कि सूर्य-चन्द्रप्रज्ञप्ति मे जो ज्योतिष की चर्चा है वह भारतीय प्राचीन वेदाग के समान है। बाद का जो ज्योतिष का विकास है वह उसमे नहीं है। ऐसी परिस्थिति मे इनका समय विक्रम पूर्व ही हो सकता है, बाद मे नही।

छेदसूत्रो मे दशाश्रुत, बृहत्कल्प और व्यवहार सूत्रो की रचना भद्रबाहु ने की थी। इनके ऊपर प्राचीन निर्युक्ति-भाष्य आदि प्राकृत टीकाएँ भी लिखी गई हैं। अतएव इनके विच्छेद की कोई कल्पना करना उचित नहीं है। धवला में कल्प-व्यवहार को अगवाह्य गिना गया है और उसके विच्छेद की वहाँ कोई चर्चा नहीं है। भद्रबाहु का समय ई० पू० ३५७ के आसपास निश्चित है। अत उनके द्वारा रचित दशाश्रुत, बृहत्कल्प और व्यवहार का समय भी वही होना

---

१ साम्प्रतकाल में उपलब्ध चन्द्रप्रज्ञप्ति और सूर्यप्रज्ञप्ति में कोई भेद नहीं दीखता।

चाहिए । निशीथ आचाराग की चूला है और किसी काल मे उसे आचाराग से पृथक् किया गया है । उस पर भी निर्युक्ति, भाष्य, चूर्णि आदि प्राकृत टीकाएँ हैं । धवला (पृ० ९६) मे अगबाह्य रूप से इसका उल्लेख है और उसके विच्छेद की कोई चर्चा उसमे नहीं है अतएव उसके विच्छेद की कोई कल्पना नहीं की जा सकती । डा० जेकोबी और शुब्रिंग के अनुसार प्राचीन छेदसूत्रो का समय ई० पू० चौथी का अन्त और तीसरी का प्रारभ माना गया है वह उचित ही है ।[1] जीतकल्प आचार्य जिनभद्र की कृति होने से उसका भी समय निश्चित ही है । यह स्वतत्र ग्रन्थ नहीं किन्तु पूर्वोक्त छेद ग्रन्थो का साररूप है । आचार्य जिनभद्र के समय के निर्धारण के लिए विशेपावश्यक की जैसलमेर की एक प्रति के अन्त मे जो गाथा दी गई है वह उपयुक्त साधन है । उसमे शक सवत् ५३१ का उल्लेख है । तदनुसार ई० ६०९ बनता है । उससे इतना सिद्ध होता है कि जिनभद्र का काल इससे बाद तो किसी भी हालत मे नहीं ठहरता । गाथा मे जो शक सवत् का उल्लेख है वह सभवत उस प्रति के किसी स्थान पर रखे जाने का है । इससे स्पष्ट है कि वह उससे पहले रचा गया था । अतएव इसी के आस-पास का काल जीतकल्प की रचना के लिए भी लिया जा सकता है ।

महानिशीथ का जो सस्करण उपलब्ध है वह आचाय हरिभद्र के द्वारा उद्धार किया हुआ है । अतएव उसका भी वही समय होगा जो आचार्य हरिभद्र का है । आचार्य हरिभद्र का समयनिर्धारण अनेक प्रमाणो से आचार्य जिनविजयजी ने किया है और वह है ई० ७०० से ८०० के बीच का ।

मूलसूत्रो मे दशवैकालिक की रचना आचार्य शय्यभव ने की है और यह तो साधुओ को नित्य स्वाध्याय के काम मे आता है अतएव उसका विच्छेद होना सभव नहीं था । अपराजित सूरि ने सातवीं-आठवीं शती मे उसकी टीका भी लिखी थी । उससे पूर्व निर्युक्ति, चूर्णि आदि टीकाएँ भी उस पर लिखी गई हैं । पाचवीं-छठी शती मे होने वाले आचार्य पूज्यपाद ने (सर्वार्थसिद्धि, १. २०) भी दशवैकालिक का उल्लेख किया है और उसे प्रमाण मानना चाहिए ऐसा भी कहा है । उसके विच्छेद की कोई चर्चा उन्होंने नहीं की है । धवला (पृ० ९६) मे भी अगबाह्य रूप से दशवैकालिक का उल्लेख है और उसके विच्छेद की कोई चर्चा नही है । दशवैकालिक मे चूलाएँ बाद मे जोडी गई हैं यह निश्चित है किन्तु उसके जो दस अध्ययन हैं जिनके आधार पर उसका नाम निष्पन्न है वे तो मौलिक ही हैं । ऐसी परिस्थिति मे उन दस अध्ययनो के कर्ता तो शय्यभव हैं ही और

---

१ डोक्ट्रिन ऑफ दी जैन्स, पृ० ८१

जो समय शय्यभव का है वही उसका भी है। शय्यभव वीर नि ७५ से ६० तक युगप्रधान पद पर रहे हैं अतएव उनका समय ई० पू ४५२ से ४२६ है। इसी समय के बीच दशवैकालिक की रचना आचार्य शय्यभव ने की होगी।

उत्तराध्ययन किसी एक आचार्य की कृति नही है किन्तु सकलन है। उत्तराध्ययन का उल्लेख अगबाह्य रूप से धवला (पृ० ६६) और सर्वार्थसिद्धि मे (१ २०) है। उसपर निर्युक्ति-चूर्णि टीकाएँ प्राकृत मे लिखी गई हैं। इसी कारण उसकी सुरक्षा भी हुई है। उसका समय जो विद्वानो ने माना है वह है ई० पू० तीसरी-चौथी शती।[1]

आवश्यक सूत्र तो अगागम जितना ही प्राचीन है। जैन निर्ग्रन्थो के लिए प्रतिदिन करने की आवश्यक क्रियासबधी पाठ इसमे हैं। अगो मे जहां स्वाध्याय का उल्लेख आता है वहा प्राय यह लिखा रहता है कि 'सामाइयाइणि एकादसगाणि' (भगवती सूत्र ६३, ज्ञाता ५६, ६४, विपाक ३३), 'सामाइयमाइयाइ चोद्दसपुव्वाइ' (भगवती सूत्र ६१७, ४३२, ज्ञाता० ५४, ५५, १३०)। इससे सिद्ध होता है कि अग से भी पहले आवश्यक सूत्र का अध्ययन किया जाता था। आवश्यक सूत्र का प्रथम अध्ययन सामायिक है। इस दृष्टि से आवश्यक सूत्र के मौलिक पाठ जिन पर निर्युक्ति, भाष्य, विशेपावश्यक-भाष्य, चूर्णि आदि प्राकृत टीकाएं लिखी गई हैं वे अग जितने पुराने होगे। अगबाह्य आगम के भेद आवश्यक और आवश्यकव्यतिरिक्त—इस प्रकार किये गये है। इससे भी इसका महत्त्व सिद्ध होता है। आवश्यक के छहो अध्ययनो के नाम धवला मे अगबाह्य मे गिनाए है। ऐसी परिस्थिति मे आवश्यक सूत्र की प्राचीनता सिद्ध होती ही है। आवश्यक चूंकि नित्यप्रति करने की क्रिया है अतएव ज्ञानवृद्धि और ध्यानवृद्धि के लिए उसमे पर समय-समय उपयोगी पाठ बढते गये हैं। आधुनिक भाषा के पाठ भी उसमे जोडे गये हैं किन्तु मूल पाठ कौन से थे इसका तो पृथक्करण प्राचीन प्राकृत टीकाओ के आधार पर करना सहज है। और वैसा श्री प० सुखलालजी ने अपने 'प्रतिक्रमण' ग्रन्थ मे किया भी है। अतएव उन पाठो के ही समय का विचार यहाँ प्रस्तुत हैं। उन पाठो का समय भ० महावीर के जीवनकाल के आसपास नहीं तो उनके निर्वाण के निकट या बाद की प्रथम शती मे तो रखा जा सकता है।

पिण्डनिर्युक्ति दशवैकालिक की टीका है और वह आ० भद्रबाहु की कृति है।

१ डोक्ट्रिन ऑफ दी जैनस्, पृ० ८१

ये भद्रबाहु अधिक सभव यह है कि द्वितीय हो। यदि यह स्थिति सिद्ध हो तो उनका समय पाचवी शताब्दी ठहरता है।

नन्दी सूत्र देववाचक की कृति है अतएव उसका समय पाचवीं-छठी शतान्दी हो सकता है। अनुयोगद्वार सूत्र के कर्ता कौन हैं यह कहना कठिन है किन्तु इतना कहा जा सकता है कि वह आवश्यक सूत्र की व्याख्या है अतएव उसके बाद का तो है ही। उसमे कई ग्रन्थो के उल्लेख हैं। यह कहा जा सकता है कि वह विक्रम पूर्व का ग्रन्थ है। यह ग्रन्थ ऐसा है कि सभव है उसमें कुछ प्रक्षेप हुए हो। इसकी एक सक्षिप्त वाचना भी मिलती है।

प्रकीर्णको मे से चउसरण, आउरपच्चक्खाण और भत्तपरिन्ना—ये तीन वीरभद्र की रचनाएं हैं ऐसा एक मत है। यदि यह सच है तो उनका समय ई० ९५१ होता है। गच्छाचार प्रकीर्णक का आधार है—महानिशीथ, कल्प और व्यवहार। अतएव यह कृति उनके बाद की हो इसमे सदेह नहीं है।[1]

वस्तुस्थिति यह है कि एक-एक ग्रन्थ लेकर उसका बारीकी से अध्ययन करके उसका समय निर्धारित करना अभी बाकी है। अतएव जबतक यह नहीं होता तबतक ऊपर जो समय की चर्चा की गई है वह कामचलाऊ समझी जानी चाहिए। कई विद्वान् इन ग्रन्थो के अध्ययन मे लगें तभी यथार्थ और सर्वग्राही निर्णय पर पहुचा जा सकेगा। जबतक ऐसा नही होता तबतक ऊपर जो समय के बारे मे लिखा है वह मान कर हम अपने शोधकार्य को आगे बढा सकते हैं।

आगम-विच्छेद का प्रश्न :

व्यवहार सूत्र मे विशिष्ट आगम-पठन की योग्यता का जो वर्णन है (दशम उद्देशक) उस प्रसग मे निर्दिष्ट आगम, तथा नदी और पाक्षिकसूत्र मे जो आगम-सूची दी है तथा स्थानाग में प्रासगिक रूप से जिन आगमो का उल्लेख है—इत्यादि के आधार पर श्री कापडिया ने श्वेताम्बरो के अनुसार अनुपलब्ध आगमो की विस्तृत चर्चा की है।[2] अतएव यहा विस्तार अनावश्यक है। निम्न अग आगमो का अश श्वेताम्बरो के अनुसार साम्प्रतकाल मे अनुपलब्ध हैं —

१ आचाराग का महापरिज्ञा अध्ययन, २ ज्ञाताधर्मकथा की कई कथाएं, ३ प्रश्नव्याकरण का वह रूप जो नदी, समवाय आदि मे निर्दिष्ट है तथा दृष्टिवाद—इतना अश तो अगो मे से विच्छिन्न हो गया यह स्पष्ट है। अगो के जो परिमाण निर्दिष्ट हैं उसे देखते हुए और यदि वह वस्तुस्थिति का बोधक है तो

१ कापडिया—केनोनिकल लिटरेचर, पृ० ५२

२ केनोनिकल लिटरेचर, प्रकरण ४

मानना चाहिए कि अगो का जो भाग उपलब्ध है उससे कहीं अधिक विलुप्त हो गया है। किन्तु अगो का जो परिमाण बताया गया है वह वस्तुस्थिति का बोधक हो ऐसा जचता नही क्योकि अधिकाश को उत्तरोत्तर द्विगुण-द्विगुण बताया गया है किन्तु वे यथार्थ मे वैसे ही रूप मे हो ऐसी सभावना नहीं है। केवल महत्त्व समर्पित करने के लिए वैसा कह दिया हो यह अधिक सभव है। ऐसी ही बात द्वीप-समुद्रो के परिमाण मे भी देखी गई है। वह भी गणितिक सचाई हो सकती है पर यथार्थ से उसका कोई मेल नही है।

दिगम्बर आम्नाय जो धवला टीका मे निर्दिष्ट है तदनुसार गौतम से सकल श्रुत (द्वादशाग और चौदह पूर्व) लोहार्य को मिला, उनसे जबू को। ये तीनो ही सकल श्रुतसागर के पारगामी थे। उसके बाद क्रम से विष्णु आदि पाच आचार्य हुए जो चौदहपूर्वधर थे। यहाँ यह समझ लेना चाहिए कि जब उन्हे चौदहपूर्वधर कहा है तो वे शेष अगो के भी ज्ञाता थे ही। अर्थात् ये भी सकलश्रुतधर थे। गौतम आदि तीन अपने जीवन के अन्तिम वर्षों मे सर्वज्ञ भी हुए और ये पाच नही हुए इतना ही इन दोनो वर्गो मे भेद है।

उसके बाद विशाखाचार्य आदि ग्यारह आचार्य दशपूर्वधर हुए। तात्पर्य यह है कि ये सकलश्रुत मे से केवल दशपूर्व अश के ज्ञाता थे, सपूर्ण के नही। इसके बाद नक्षत्रादि पाच आचार्य ऐसे हुए जो एकादशागधारी थे और बारहवें अग के चौदहपूर्वो के अशधर ही थे। एक भी पूर्व सपूर्ण इन्हे ज्ञात नहीं था। उसके बाद सुभद्रादि चार आचार्य ऐसे हुए जो केवल आचाराग को सपूर्ण रूप से किन्तु शेष अगो और पूर्वो के एक देश को ही जानते थे। इसके बाद सपूर्ण आचाराग के धारक भी कोई नही हुए और केवल सभी अगो के एक देश को और सभी पूर्वो के एक देश को जानने वाले आचार्यो की परपरा चली। यही परपरा धरसेन तक चली है।[1]

इस विवरण से यह स्पष्ट है कि सकलश्रुतधर होने मे द्वादशाग का जानना जरूरी है। अगबाह्य ग्रन्थो का आधार ये ही द्वादशाग थे अतएव सकलश्रुतधर होने मे अगबाह्य महत्त्व के नही। यह भी स्पष्ट होता है कि इसमे क्रमश अगधरो अर्थात् अगविच्छेद की ही चर्चा है। धवला मे ही आवश्यकादि १४ अगबाह्यो का उल्लेख है[2] किन्तु उनके विच्छेद की चर्चा नहीं है। इससे यह फलित होता है कि कम से कम धवला के समय तक अगबाह्यो के विच्छेद की

१ धवला पु० १, पृ० ६५-६७, जयधवला, पृ० ८२

२ धवला, पृ० ९६ (पु० १)

कोई चर्चा दिगम्बर आम्नाय मे थी ही नही। आचार्य पूज्यपाद ने श्रुतविवरण मे सर्वार्थसिद्धि मे अगबाह्य और अगो की चर्चा की है किन्तु उन्होंने आगमविच्छेद की कोई चर्चा नही की। आचार्य अकलक जो धवला से पूर्व हुए हैं उन्होने भी अग या अगवाह्य आगमविच्छेद की कोई चर्चा नहीं की है। अतएव धवला की चर्चा से हम इतना ही कह सकते हैं कि धवलाकार के समय तक दिगबर आम्नाय मे अगविच्छेद की बात तो थी किन्तु आवश्यक आदि अगवाह्य के विच्छेद की कोई मान्यता नहीं थी। अतएव यह सशोधन का विषय है कि अगवाह्य के विच्छेद की मान्यता दिगम्बर परपरा मे कब से चली? खेद इस बात का है कि प० कैलाशचन्द्रजी ने आगमविच्छेद की बहुत बडी चर्चा अपनी पीठिका मे की है किन्तु इस मूल प्रश्न की छानबीन किये बिना ही दिगबरो की साप्रतकालीन मान्यता का उल्लेख कर दिया है और उसका समर्थन भी किया है।

वस्तुस्थिति तो यह है कि आगम की सुरक्षा का प्रश्न जब आचार्यो के समक्ष था तब द्वादशागरूप गणिपिटक की सुरक्षा का ही प्रश्न था क्योकि ये ही मौलिक आगम थे। अन्य आगम ग्रन्थ तो समय और शक्ति के अनुसार बनते रहते हैं और लुप्त होते रहते हैं। अतएव आगमवाचना का प्रश्न मुख्यरूप से अगो के विषय मे ही है। इन्हीं की सुरक्षा के लिए कई वाचनाएं की गई है। इन वाचनाओ के विषय मे प० कैलाशचन्द्र ने जो चित्र उपस्थित किया है (पीठिका पृ० ४९६ से) उस पर अधिक विचार करने की आवश्यकता है। वह यथासमय किया जायगा।

यहाँ तो हम विद्वानो का ध्यान इस बात की ओर खींचना चाहते हैं कि आगम पुस्तकाकार रूप मे लिखे जाते थे या नहीं, और इस पर भी कि श्रुतविच्छेद की जो बात है वह लिखित पुस्तक की है या स्मृत श्रुत की? आगम पुस्तक मे लिखे जाते थे इसका प्रमाण अनुयोगद्वार सूत्र जितना तो प्राचीन है ही। उसमे आवश्यक सूत्र की व्याख्या के प्रसग से स्थापना-आवश्यक की चर्चा मे पोत्थकम्म को स्थापना-आवश्यक कहा है।[1] इसी प्रकार श्रुत के विषय में स्थापना-श्रुत मे भी पोत्थकम्म को स्थापना-श्रुत कहा है (अनुयोगद्वार सू० ३१ पृ० ३२ अ)। द्रव्यश्रुत के भेद रूप से ज्ञायकशरीर और भव्यशरीर के अतिरिक्त जो द्रव्यश्रुत का भेद है उसमे स्पष्ट रूप से लिखा है कि "पत्तयपोत्थय-

---

१ अनुयोग की टीका में लिखा है—"अथवा पोत्थ पुस्तक तच्चेह सपुटकरूप गृह्यते तत्र कर्म तन्मध्ये वर्तिकालिखित रूपकमित्यर्थ। अथवा पोत्थ ताडपत्रादि तत्र कर्म तच्छेदनिष्पन्न रूपकम्" पृ० १३ अ

लिहियं" (सूत्र ३७)। उस पद की टीका में अनुयोगद्वार के टीकाकार ने लिखा है —"पत्रकाणि तलताल्यादिसम्बन्धीनि, तत्संघातनिष्पन्नास्तु पुस्तका, ततश्च पत्रकाणि च पुस्तकाश्च, तेषु लिखित पत्रकपुस्तकलिखितम्। अथवा 'पोत्थय'त्ति पोत वस्त्र पत्रकाणि च पोत च, तेषु लिखित पत्रकपोतलिखित ज्ञशरीर-भव्यशरीर-व्यतिरिक्त द्रव्यश्रुतम्। अत्र च पत्रकादिलिखितस्य श्रुतस्य भावश्रुत-कारणत्वात् द्रव्यश्रुतत्वमेव अवसेयम्।"—पृ० ३४।

इस श्रुतचर्चा मे अनुयोगद्वार को भावश्रुतरूप से कौन सा श्रुत विवक्षित है यह भी आगे की चर्चा से स्पष्ट हो जाता है। आगे लोकोत्तर नोआगम भावश्रुत के भेद मे तीर्थंकरप्रणीत द्वादशाग गणिपिटक आचार आदि को भावश्रुत मे गिना है।[1] इससे शका को कोई स्थान नहीं रहना चाहिए और यह स्पष्ट हो जाना चाहिए कि अनुयोगद्वार के समय मे आचार आदि अग पुस्तकरूप मे लिखे जाते थे।

अग आगम पुस्तक मे लिखे जाते थे किन्तु पठन-पाठन प्रणाली मे तो गुरुमुख से ही आगम की वाचना लेनी चाहिए यह नियम था। अन्यथा करना अच्छा नहीं समझा जाता था। अतएव प्रथम गुरुमुख से पढ कर ही पुस्तक मे लेखन या उसका उपयोग किया जाता होगा ऐसा अनुमान होता है। विशेषावश्यकभाष्य मे वाचना के शिक्षित आदि गुणो[2] के वर्णन में आचार्य जिनभद्र ने 'गुरुवायणो-वगय'—गुरुवाचनोपगत का स्पष्टीकरण किया है कि "ण चोरित पोत्थयातो-वा"—गा० ८५२। उसको स्वकृत व्याख्या मे लिखा है कि "गुरुनिर्वाचितम्, न चौर्यात् कर्णाघाटित, स्वतत्रेण वाऽधीत पुस्तकात्"—विशेषा० स्वोपज्ञ व्याख्या गा० ८५२। तात्पर्य यह है कि गुरु किसी अन्य को पढाते हो और उसे चोरी से सुनकर या पुस्तक से श्रुत का ज्ञान लेना यह उचित नही है। वह तो गुरुमुख से उनकी समति से सुन कर ही करना चाहिए। इससे भी स्पष्ट है कि अनुयोगद्वार के पहले ग्रन्थ लिखे जाते थे किन्तु उनका पठन सर्वप्रथम गुरुमुख से होना जरूरी था। यह परपरा जिनभद्र तक तो मान्य थी ही ऐसा भी कहा जा सकता है। गुरु के मुख से सुनकर अपनी स्मृति का भार हलका करने के लिए कुछ नोधरूप (टिप्पणरूप) आगम प्रारम्भ मे लिखे जाते होगे। यह भी कारण है कि उसका मूल्य उतना नहीं हो सकता जितना श्रुतधर की स्मृति में रहे हुए आगमो का।

---

१ अनुयोगद्वार—सूत्र ४२, पृ० ३७ अ

२ अनुयोगद्वार में शिक्षित, स्थित, जित आदि गुणों का निर्देश है उनकी व्याख्या जिनभद्र ने की है—अनु० सू० १३

यह सब अनुमान ही है। किन्तु जब आगम पुस्तको मे लिखे गये थे फिर भी वाचनाओ का महत्त्व माना गया, तो उससे यही अनुमान हो सकता है जो सत्य के निकट है। गुरुमुख से वाचना मे जो आगम मिले वही आगम परंपरागत कहा जाएगा। पुस्तक से पढ कर किया हुआ ज्ञान, या पुस्तक मे लिखा हुआ आगम उतना प्रमाण नहीं माना जायगा जितना गुरुमुख से पढा हुआ। यही गुरुपरपरा की विशेषता है। अतएव पुस्तक मे जो कुछ भी लिखा हो किन्तु महत्त्व तो उसका है जो वाचक की स्मृति मे है। अतएव पुस्तको मे लिखित होने पर भी उसके प्रामाण्य को यदि महत्त्व नहीं मिला तो उसका मूल्य भी कम हुआ। इसी के कारण पुस्तक मे लिखे रहने पर भी जब-जब सघ को मालूम हुआ हो कि श्रुतधरो का ह्रास हो रहा है, श्रुतसकलन के प्रयत्न की आवश्यकता पडी होगी और विभिन्न वाचनाएं हुई होगी।

अब आगमविच्छेद के प्रश्न पर विचार किया जाय। आगमविच्छेद के विषय मे भी दो मत हैं। एक के अनुसार सुत्त विनष्ट हुआ है, तब दूसरे के अनुसार सुत्त नहीं किन्तु सुत्तधर—प्रधान अनुयोगधर विनष्ट हुए हैं।[1] इन दोनो मान्यताओ का निर्देश नदी-चूर्णि जितना तो पुराना है ही। आश्चर्य तो इस बात का है कि दिगबर परपरा के धवला (पृ० ६५) मे तथा जयधवला (पृ० ८३) मे दूसरे पक्ष को माना गया है अर्थात् श्रुतधरो के विच्छेद को चर्चा प्रधानरूप से की गई है और श्रुतधरो के विच्छेद से श्रुत का विच्छेद फलित माना गया है। किन्तु आज का दिगबर समाज श्रुत का ही विच्छेद मानता है। इससे भी सिद्ध है कि पुस्तक मे लिखित आगमो का उतना महत्त्व नहीं है जितना श्रुतधरो की स्मृति मे रहे हुए आगमो का।

जिस प्रकार धवला मे क्रमश श्रुतधरो के विच्छेद की बात कही है उसी प्रकार तित्थोगाली प्रकीर्णक मे श्रुत के विच्छेद की चर्चा की गई है। वह इस प्रकार है—

प्रथम भ० महावीर से भद्रबाहु तक की परपरा दी गई है और स्थूलभद्र भद्रबाहु के पास चौदहपूर्व की वाचना लेने गये इस बात का निर्देश है। यह निर्दिष्ट है कि दशपूर्वधरो मे अतिम सर्वमित्र थे। उसके बाद निर्दिष्ट है कि वीरनिर्वाण के १००० वर्ष बाद पूर्वो का विच्छेद हुआ। यहाँ पर यह ध्यान देना जरूरी है कि यही उल्लेख भगवती सूत्र मे (२ ८) भी है। तित्थोगाली मे उसके बाद निम्न प्रकार से क्रमश श्रुतविच्छेद की चर्चा को गई है—

---

१ देखिए—नदीचूर्णि, पृ० ८

ई० ७२३ = वीर-निर्वाण १२५० मे विवाहप्रज्ञप्ति और छ अगो का विच्छेद
ई० ७७३ = „ १३०० मे समवायाग का विच्छेद
ई० ८२३ = „ १३५० मे ठाणाग का „
ई० ८७३ = „ १४०० मे कल्प-व्यवहार का „
ई० ९७३ = „ १५०० मे दशाश्रुत का „
ई० १३७३ = „ १९०० मे सूत्रकृताग का „
ई० १४७३ = „ २००० मे विशाख मुनि के समय मे निशीथ का „
ई० १७७३ = „ २३०० मे आचाराग का „

दुसमा के अत मे दुप्पसह मुनि के होने के उल्लेख के बाद यह कहा गया है कि वे ही अतिम आचारधर होंगे। उसके बाद अनाचार का साम्राज्य होगा। इसके बाद निर्दिष्ट है कि—

ई० १९९७३ = वीरनि० २०५०० मे उत्तराध्ययन का विच्छेद
ई० २०३७३ = „ २०९०० मे दशवै० सूत्र का विच्छेद
ई० २०४७३ = „ २१००० मे दशवै० के अर्थ का विच्छेद दुप्पसह मुनि की मृत्यु के बाद।
ई० २०४७३ = „ २१००० पर्यन्त आवश्यक, अनुयोगद्वार और नदी सूत्र अव्यवच्छिन्न रहेंगे।

—तित्थोगाली गा० ६९७—८६६

तित्थोगालीय प्रकरण श्वेताम्बरो के अनुकूल ग्रन्थ है ऐसा उसके अध्ययन से प्रतीत होता है। उसमें तीर्थंकरो की माताओ के १४ स्वप्नो का उल्लेख है गा० १००, १०२४, स्त्री-मुक्ति का समर्थन भी इसमें किया गया है गा० ५५६, आवश्यक-निर्युक्ति की कई गाथाएं इसमे आती हैं गा० ७० से, ३८३ से इत्यादि, अनुयोग-द्वार और नन्दी का उल्लेख और उनके तीर्थपर्यन्त टिके रहने की बात, दशआश्चर्य की चर्चा गा० ८८७ से, नन्दीसूत्रगत सघस्तुतिका अवतरण गा० ८४८से है।

आगमो के क्रमिक विच्छेद की चर्चा जिस प्रकार जैनो मे है उसी प्रकार बौद्धो के अनागतवश में भी त्रिपिटक के विच्छेद की चर्चा की गई है। इससे प्रतीत होता है कि श्रमणो की यह एक सामान्य धारणा है कि श्रुत का विच्छेद क्रमश होता है। तित्थोगाली में अगविच्छेद की चर्चा है इस बात को व्यवहारभाष्य के कर्ता ने भी माना है—

"तित्थोगाली एत्थ वत्तव्वा होइ आणुपुव्वीए ।
जे तस्स उ अगस्स वुच्छेदो जहिं विणिद्दिट्ठो"

—व्य० भा० १० ७०४

इससे जाना जा सकता है कि अगविच्छेद की चर्चा प्राचीन है और यह दिगवर-श्वेताम्बर दोनो सप्रदायो मे चली है। ऐसा होते हुए भी यदि श्वेताम्बरो ने अगो के अश को सुरक्षित रखने का प्रयत्न किया और वह अश आज हमे उपलब्ध है—यह माना जाय तो इसमे क्या अनुचित है ?

एक बात का और भी स्पष्टीकरण जरूरी है कि दिगम्बरो मे भी धवला के अनुसार सर्व अगो का सपूर्ण रूप से विच्छेद माना नही गया है किन्तु यह माना गया है कि पूर्व और अग के एकदेशधर हुए हैं और उनकी परपरा चली है। उस परपरा के विच्छेद का भय तो प्रदर्शित किया है किन्तु वह परपरा विच्छिन्न हो गई ऐसा स्पष्ट उल्लेख धवला या जयधवला मे भी नहीं है। वहाँ स्पष्टरूप से यह कहा गया है कि वीरनिर्वाण के ६८३ वर्ष बाद भारतवर्ष मे जितने भी आचार्य हुए हैं वे सभी "सव्वेसिमगपुव्वाणमेकदेसधारया जादा" अर्थात् सर्व अग-पूर्व के एकदेशधर हुए हैं—जयधवला भा० १, पृ० ८७, धवला पृ० ६७।

तिलोयपण्णत्ति मे भी श्रुतविच्छेद की चर्चा है और वहाँ भी आचारागधारी तक का समय वीरनि० ६८३ बताया गया है। तिलोयपण्णत्ति के अनुसार भी अग श्रुत का सर्वथा विच्छेद मान्य नहीं है। उसे भी अग-पूर्व के एकदेशधर के अस्तित्व मे सदेह नही है। उसके अनुसार भी अगबाह्य के विच्छेद का कोई प्रश्न उठाया नहीं गया है। वस्तुत तिलोयपण्णत्ति के अनुसार श्रुततीर्थ का विच्छेद वीरनि० २०३१७ मे होगा अर्थात् तब तक श्रुत का एकदेश विद्यमान रहेगा ही (देखिए, ४ गा० १४७५—१४९३)।

तिलोयपन्नत्ति मे प्रक्षेप की मात्रा अधिक है फिर भी उसका समय डा० उपाध्ये ने जो निश्चित किया है वह माना जाय तो वह ई० ४७३ और ६०९ के बीच है। तदनुसार भी उस समय तक सर्वथा श्रुतविच्छेद की चर्चा नहीं थी। तिलोयपण्णत्ति का ही अनुसरण धवला मे माना जा सकता है।

ऐसी ही बात यदि श्वेताबर परपरा में भी हुई हो तो इसमे कोई आश्चर्य की बात नहीं है। उसमे भी सपूर्ण नही होने से अग आगमो का एकदेश सुरक्षित रहा हो और उसे ही सकलित कर सुरक्षित रखा गया हो तो इसमे क्या असगति है ? दोनो परपराओ मे अग आगमो का

जो परिमाण बताया गया है उसे देखते हुए श्वेताम्बरो के अग आगम एकदेश ही सिद्ध होते हैं। ये आगम आधुनिक दिगम्बरो को मान्य हो या न हो यह एक दूसरा प्रश्न है। किन्तु श्वेतावरो ने जिन अगो को सकलित कर सुरक्षित रखा है उसमे अगो का एक अश—बडा अश विद्यमान है—इतनी बात मे तो शका का कोई स्थान होना नहीं चाहिए। साथ ही यह भी स्वीकार करना चाहिए कि उन अगो में यत्र-तत्र प्रक्षेप भी हैं और प्रश्नव्याकरण तो नया ही बनाया गया है।

इस चर्चा के प्रकाश मे यदि हम निम्न वाक्य जो प० कैलाशचन्द्र ने अपनी पीठिका मे लिखा है उसे निराधार कहे तो अनुचित नही माना जायगा। उन्होने लिखा है—"और अन्त मे महावीरनिर्वाण से ६८३ वर्ष के पश्चात् अगो का ज्ञान पूर्णतया नष्ट हो गया।" पीठिका पृ० ५१८। उनका यह मत स्वय धवला और जयधवला के अभिमतो से विरुद्ध है और अपनी ही कल्पना के आधार पर खडा किया गया है।

श्रुतावतार :

श्रुतावतार की परपरा श्वेतावर-दिगबरो मे एक सी ही है किन्तु प० कैलाशचन्द्रजी ने उसमे भी भेद बताने का प्रयत्न किया है अतएव यहाँ प्रथम दोनो सप्रदायो मे इसी विषय मे किस प्रकार ऐक्य है, सर्वप्रथम इसकी चर्चा करके बाद मे पडितजी के कुछ प्रश्नो का समाधान करने का प्रयत्न किया जाता है। भ० महावीर शासन के नेता थे और उनके अनेक गणधर थे इस विषय मे दोनो सप्रदायो मे कोई मतभेद नहीं। भगवान् महावीर या अन्य कोई तीर्थंकर अर्थ का ही उपदेश देते हैं, सूत्र की रचना नहीं करते इसमे भी दोनो सप्रदायो का ऐकमत्य है।

श्रुतावतार का क्रम बताते हुए अनुयोगद्वार मे कहा गया है—

"अहवा आगमे तिविहे पण्णत्ते। त जहा अत्तागमे अणतरागमे परपरागमे। तित्थगराण अत्थस्स अत्तागमे, गणहराण सुत्तस्स अत्तागमे अत्थस्स अणतरागमे, गणहरसीसाण सुत्तस्स अणतरागमे अत्थस्स परपरागमे। तेण पर सुत्तस्स वि अत्थस्स वि णो अत्तागमे, णो अणतरागमे, परपरागमे।"—अनुयोगद्वार सू० १४४, पृ० २१९। इसी का पुनरावर्तन निशीथचूर्णि (पृ० ४) आदि मे भी किया गया है।

"तित्थोगाली एत्थ वत्तव्वा होइ आणुपुव्वीए।
जे तस्स उ अगस्स वुच्छेदो जहिं विणिद्दिट्ठो"

—व्य० भा० १०७०४

इससे जाना जा सकता है कि अगविच्छेद की चर्चा प्राचीन है और यह दिगवर-श्वेताम्वर दोनो सप्रदायो में चली है। ऐसा होते हुए भी यदि श्वेताम्वरो ने अगो के अश को सुरक्षित रखने का प्रयत्न किया और वह अश आज हमे उपलब्ध है—यह माना जाय तो इसमे क्या अनुचित है?

एक वात का और भी स्पष्टीकरण जरूरी है कि दिगम्वरो मे भी धवला के अनुसार सर्व अगो का सपूर्ण रूप से विच्छेद माना नहीं गया है किन्तु यह माना गया है कि पूर्व और अग के एकदेशधर हुए हैं और उनकी परपरा चली है। उस परपरा के विच्छेद का भय तो प्रदर्शित किया है किन्तु वह परपरा विच्छिन्न हो गई ऐसा स्पष्ट उल्लेख धवला या जयधवला मे भी नहीं है। वहाँ स्पष्टरूप से यह कहा गया है कि वीरनिर्वाण के ६८३ वर्ष वाद भारतवर्ष मे जितने भी आचार्य हुए हैं वे सभी "सव्वेसिमगपुव्वाणमेकदेसधारया जादा" अर्थात् सर्व अग-पूर्व के एकदेशधर हुए हैं—जयधवला भा० १, पृ० ८७, धवला पृ० ६७।

तिलोयपण्णत्ति मे भी श्रुतविच्छेद की चर्चा है और वहाँ भी आचारागधारी तक का समय वीरनि० ६८३ वताया गया है। तिलोयपण्णत्ति के अनुसार भी अग श्रुत का सर्वथा विच्छेद मान्य नहीं है। उसे भी अग-पूर्व के एकदेशधर के अस्तित्व मे सदेह नहीं है। उसके अनुसार भी अगबाह्य के विच्छेद का कोई प्रश्न उठाया नहीं गया है। वस्तुत तिलोयपण्णत्ति के अनुसार श्रुततीर्थ का विच्छेद वीरनि० २०३१७ मे होगा अर्थात् तव तक श्रुत का एकदेश विद्यमान रहेगा ही (देखिए, ४ गा० १४७५—१४९३)।

तिलोयपन्नत्ति मे प्रक्षेप की मात्रा अधिक है फिर भी उसका समय डा० उपाध्ये ने जो निश्चित किया है वह माना जाय तो वह ई० ४७३ और ६०९ के बीच है। तदनुसार भी उस समय तक सर्वथा श्रुतविच्छेद की चर्चा नहीं थी। तिलोयपण्णत्ति का ही अनुसरण धवला मे माना जा सकता है।

ऐसी ही वात यदि श्वेताबर परपरा मे भी हुई हो तो इसमे कोई आश्चर्य की वात नहीं है। उसमे भी सपूर्ण नहीं होने से अग आगमो का एकदेश सुरक्षित रहा हो और उसे ही सकलित कर सुरक्षित रखा गया हो तो इसमे क्या असगति है? दोनो परपराओ मे अग आगमो का

जो परिमाण बताया गया है उसे देखते हुए श्वेताम्वरो के अग आगम एकदेश ही सिद्ध होते हैं। ये आगम आधुनिक दिगम्वरो को मान्य हो या न हो यह एक दूसरा प्रश्न है। किन्तु श्वेतावरो ने जिन अगो को सकलित कर सुरक्षित रखा है उसमे अगो का एक अश—वडा अश विद्यमान है—इतनी वात मे तो शका का कोई स्थान होना नहीं चाहिए। साथ ही यह भी स्वीकार करना चाहिए कि उन अगो में यत्र-तत्र प्रक्षेप भी हैं और प्रश्नव्याकरण तो नया ही वनाया गया है।

इस चर्चा के प्रकाश मे यदि हम निम्न वाक्य जो प० कैलाशचन्द्र ने अपनी पीठिका मे लिखा है उसे निराधार कहे तो अनुचित नही माना जायगा। उन्होने लिखा है—"और अन्त मे महावीरनिर्वाण से ६८३ वर्ष के पश्चात् अगों का ज्ञान पूर्णतया नष्ट हो गया।" पीठिका पृ० ५१८। उनका यह मत स्वय धवला और जयधवला के अभिमतो से विरुद्ध है और अपनी ही कल्पना के आधार पर खडा किया गया है।

श्रुतावतार :

श्रुतावतार की परपरा श्वेतावर-दिगबरो मे एक सी ही है किन्तु प० कैलाशचन्द्रजी ने उसमे भी भेद वताने का प्रयत्न किया है अतएव यहाँ प्रथम दोनो सप्रदायो मे इसी विषय मे किस प्रकार ऐक्य है, सर्वप्रथम इसकी चर्चा करके वाद मे पडितजी के कुछ प्रश्नो का समाधान करने का प्रयत्न किया जाता है। भ० महावीर शासन के नेता थे और उनके अनेक गणधर थे इस विषय में दोनो सप्रदायो मे कोई मतभेद नहीं। भगवान् महावीर या अन्य कोई तीर्थंकर अर्थ का ही उपदेश देते हैं, सूत्र की रचना नहीं करते इसमे भी दोनो सप्रदायो का ऐकमत्य है।

श्रुतावतार का क्रम वताते हुए अनुयोगद्वार मे कहा गया है—

"अहवा आगमे तिविहे पण्णत्ते। त जहा अत्तागमे अणतरागमे परपरागमे। तित्थगराग अत्थस्स अत्तागमे, गणहराण सुत्तस्स अत्तागमे अत्थस्स अणतरागमे, गणहरसीसाग सुत्तस्स अणतरागमे अत्थस्स परपरागमे। तेण पर सुत्तस्स वि अत्थस्स वि णो अत्तागमे, णो अणतरागमे, परपरागमे।"—अनुयोगद्वार सू० १४४, पृ० २१६। इसी का पुनरावर्तन निशीथचूर्णि (पृ० ४) आदि मे भी किया गया है।

पूज्यपादकृत सर्वार्थसिद्धि ग्रन्थ मे इस विषय मे जो लिखा है वह इस प्रकार है—"तत्र सर्वज्ञेन परमर्षिणा परमाचिन्त्यकेवलज्ञानविभूतिविशेषेण अर्थत आगम उद्दिष्टः । तस्य साक्षात् शिष्यै बुद्धयतिशयर्द्धियुक्तै गणधरै श्रुतकेवलिभिरनुस्मृतग्रन्थरचनम्—अङ्गपूर्वलक्षणम् ।"—सर्वार्थसिद्धि १ २० । '

स्पष्ट है कि पूज्यपाद के समय तक ग्रन्थरचना के विषय मे श्वेताम्बर-दिगबर म कोई मतभेद नहीं है । यह भी स्पष्ट है कि केवल एक ही गणधर सूत्र रचना नहीं करते किन्तु अनेक गणधर सूत्ररचना करते है । पूज्यपाद को तो यही परपरा मान्य है जो श्वेताम्बरो के समत अनुयोग मे दी गई है यह स्पष्ट है। इसी परपरा का समर्थन आचार्य अकलक और विद्यानन्द ने भी किया है—

"बुद्धयतिशयर्द्धियुक्तैर्गणधरै अनुस्मृतग्रन्थरचनम्—आचारादिद्वादशविधमङ्गप्रविष्टमुच्यते ।"—राजवार्तिक १ २०, १२, पृ० ७२ । "तस्याप्यर्थत. सर्वज्ञवीतरागप्रणेतृकत्वसिद्धे, 'अर्हद्भाषितार्थं गणधरदेवै ग्रथितम्' इति वचनात् ।" तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक पृ० ६, "द्रव्यश्रुत हि द्वादशाङ्ग वचनात्मकमाप्तोपदेशरूपमेव, तदर्थज्ञान तु भावश्रुतम्, तदुभयमपि गणधरदेवाना भगवदर्हत्सर्वज्ञवचनातिशयप्रसादात् स्वमतिश्रुतज्ञानावरणवीर्यान्तिरायक्षयोपशमातिशयाच्च उत्पद्यमान कथमाप्तायत्त न भवेत् ?" वही पृ० १ ।

इस तरह आचार्य पूज्यपाद, आचार्य अकलक और आचार्य विद्यानन्द ये सभी दिगबर आचार्य स्पष्ट रूप से मानते हैं कि सभी गणधर सूत्र-रचना करते हैं ।

ऐसी परिस्थिति मे इन आचार्यो के मत के अनुसार यही फलित होता है कि गौतम गणधर ने और अन्य सुधर्मा आदि ने भी ग्रन्थरचना की थी । केवल गौतम ने ही ग्रन्थरचना की हो और सुधर्मा आदि ने न की हो यह फलित नहीं होता । यह परिस्थिति विद्यानन्द तक तो मान्य थी ऐसा प्रतीत होता है । ऐसा ही मत श्वेताम्बरो का भी है ।

प० कैलाशचन्द्र ने यह लिखा है कि "हमने इस बात को खोजना चाहा कि जैसे दिगबर परपरा के अनुसार प्रधान गणधर गौतम ने महावीर की देशना को अगो में गूथा वैसे श्वेताम्बर परपरा के अनुसार महावीर की वाणी को सुनकर उसे अगो में किसने निबद्ध किया ? किन्तु खोजने पर भी हम किसी खास गणधर का निर्देश इस सबध मे नहीं मिला ।"—पीठिका पृ० ५३० ।

इस विषय म प्रथम यह बता देना जरूरी है कि यहाँ प० कैलाशचन्द्रजी यह बात 'केवल गौतम ने ही अगरचना की थी'—इस मन्तव्य को मानकर ही

कह रहे हैं। और यह मन्तव्य धवला से उन्हे मिला है जहाँ यह कहा गया है कि गौतम ने अगज्ञान सुधर्मा को दिया। अतएव यह फलित किया गया कि सुधर्मा ने अगग्रथन नहीं किया था, केवल गौतम ने किया था।

हमने ऊपर जो पूज्यपाद आदि धवला से प्राचीन आचार्यों के अवतरण दिये हैं उससे तो यही फलित होता है कि धवलाकार ने अपना यह नया मन्तव्य प्रचलित किया है यदि—जैसा कि पडित कैलाशचन्द्र ने माना है—यही सच हो। अतएव धवलाकार के वाक्य की सगति बैठाना हो तो इस विषय मे दूसरा ही मार्ग लेना होगा या यह मानना होगा कि धवलाकार प्राचीन आचार्यों से पृथक् मतान्तर को उपस्थित कर रहे है, जिसका कोई प्राचीन आधार नहीं है। यह केवल उन्हीं का चलाया हुआ मत है। हमारा मत तो यही है कि धवलाकार के वाक्य की सगति बैठाने का दूसरा ही मार्ग लेना चाहिए, न कि पूर्वाचार्यों के मत के साथ उनकी विसगति का।

अब यह देखा जाय कि क्या श्वेताम्बरो ने किसी गणधर व्यक्ति का नाम सूत्र के रचयिता के रूप मे दिया है कि नही जिसकी खोज तो प० कैलाशचन्द्र ने की किन्तु वे विफल रहे।

आवश्यकनिर्युक्ति की गाथा है—

"एक्कारस वि गणधरे पवायए पवयणस्स वदामि।
सव्व गणधरवस वायगवस पवयग च ॥ ८० ॥

—विशेषा० १०६२

इसकी टीका मे आचार्य मलधारी ने स्पष्टरूप से लिखा है—

"गौतमादीन् वन्दे। कथ भूतान् प्रकर्षेण प्रधाना आदौ वा वाचका प्रवाचका प्रवचनस्य आगमस्य।"—पृ० ४६०।[१]

इसी निर्युक्तिगाथा की भाष्यगाथाओ की स्वोपज्ञ टीका मे जिनभद्र ने भी लिखा है—

"यथा अर्हन्नर्थस्य वक्तेति पूज्यस्तथा गणधरा गौतमादय सूत्रस्य वक्तार इति पूज्यन्ते मङ्गलत्वाच्च।"

प्रस्तुत मे गौतमादि का स्पष्ट उल्लेख होने से 'श्वेताम्बरो में साधारण रूप से गणधरो का उल्लेख है किन्तु खास नाम नहीं मिलता'—यह पडितजी का कथन निर्मूल सिद्ध होता है।

---

१ यह पुस्तक पडितजी ने देखी है अतएव इसका अवतरण यहाँ दिया है।

यहाँ यह भी बता देना जरूरी है कि पडितजी ने अपनी पीठिका में जिन "तवनियमनाण" इत्यादि निर्युक्ति की दो गाथाओ को विशेषावश्यक से उद्धृत किया है (पीठिका पृ० ५३० की टिप्पणी) उनकी टीका तो पडितजी ने अवश्य ही देखी होगी—उसमे आचार्य हेमचन्द्र स्पष्टरूप से लिखते हैं—

"तेन विमलबुद्धिमयेन पटेन गणधरा गौतमादयो"—विशेषा० टीका० गा० १०६५, पृ० ५०२। ऐसा होते हुए भी पडितजी को श्वेताम्बरो मे सूत्र के रचयिता के रूप मे खास गणधर के नाम का उल्लेख नहीं मिला—यह एक आश्चर्यजनक घटना ही है। और यदि पडितजी का मतलब यह हो कि किसी खास = एक ही व्यक्ति का नाम नहीं मिलता तो यह बता देना जरूरी है कि श्वेताम्बर और दिगबर दोनो के मत से जब सभी गणधर प्रवचन की रचना करते हैं तो किसी एक ही का नाम तो मिल ही नहीं सकता। ऐसी परिस्थिति मे इसके आधार पर पडितजी ने श्रुतावतार की परपरा मे दोनो सप्रदायो के भेद को मान कर जो कल्पनाजाल खडा किया है वह निरर्थक है।

प० कैलाशचन्द्रजी मानते हैं कि श्वेताम्बर-वाचनागत अगज्ञान सार्वजनिक है "किन्तु दिगबर-परपरा मे अगज्ञान का उत्तराधिकार गुरु-शिष्य परपरा के रूप मे ही प्रवाहित होता हुआ माना गया है। उसके अनुसार अगज्ञान ने कभी भी सार्वजनिक रूप नहीं लिया।"—पीठिका पृ० ५४३। यहाँ पडितजी का तात्पर्य ठीक समझ मे नही आता। गुरु अपने एक ही शिष्य को पढाता था और वह फिर गुरु बन कर अपने शिष्य को—इस प्रकार की परपरा दिगबरो मे चली है—क्या पडितजी का यह अभिप्राय है? यदि गुरु अनेक शिष्यो को पढाता होगा तब तो अगज्ञान श्वेताम्बरो की तरह सार्वजनिक हो जायगा। और यदि यह अभिप्राय है कि एक ही शिष्य को, तब शास्त्रविरोध पडितजी के ध्यान के बाहर गया है—यह कहना पडता है। षट्खडागम की धवला में परिपाटी और अपरिपाटी से सकल श्रुत के पारगामी का उल्लेख है। उसमे अपरिपाटी से—'अपरिवाडिए पुण सयलसुदपारगा सखेज्जसहस्सा" (धवला पृ० ६५) का उल्लेख है—इसका स्पष्टीकरण पडितजी क्या करेंगे? हमे तो यह समझ मे आता है कि युगप्रधान या वशपरपरा मे जो क्रमश आचार्य-गणधर हुए अर्थात् गण के मुखिया हुए उनका उल्लेख परिपाटीक्रम मे समझना चाहिए और गण के मुख्य आचार्य के अलावा जो श्रुतधर थे वे परिपाटीक्रम से सबद्ध न होने से अपरिपाटी मे गिने गये। वैसे अपरिपाटी मे सहस्रो की सख्या मे सकल श्रुतधर थे। तो यह अगश्रुत श्वेतावरो की तरह दिगवरो मे भी सार्वजनिक था ही यह मानना

पडता है। यहाँ यह भी स्पष्ट कर देना जरूरी है कि जयधवला मे यह स्पष्ट लिखा है कि सुधर्मा ने केवल एक जबू को ही नही किन्तु अगो की वाचना अपने अनेक शिष्यो को दी थी—"तद्दिवसे चेव सुहम्माइरियो जबूसामियादीणमणेयाणमाइरियाण वक्खाणिददुवालसगो घाइचउक्कक्खयेण केवली जादो।"—जयधवला पृ० ८४।

यहाँ स्पष्टरूप से जबू ने अपने शिष्य ऐसे एक नहीं किन्तु अनेक आचार्यों को द्वादशाग पढाया है—ऐसा उल्लेख है। इस पर से क्या हम कल्पना नही कर सकते कि सघ मे श्रुतधरो की सख्या बहुत बडी होती थी ? ऐसी स्थिति मे श्वेताम्बर-दिगबरो मे जिस विषय मे कभी भेद रहा नही उस विषय मे भेद की कल्पना करना उचित नहीं है। प्राचीन परपरा के अनुसार श्वेताम्बर और दिगबर दोनो मे यही मान्यता फलित होती है कि सभी गणधर सूत्ररचना करते थे और अपने अनेक शिष्यो को उसकी वाचना देते थे। एक बात और यह भी है कि अगज्ञान सार्वजनिक हो गया श्वेताम्बरो मे और दिगबरो मे नहीं हुआ—इससे पडितजी का विशेष तात्पर्य क्या यह है कि केवल दिगबर परपरा मे ही गुरु-शिष्य परपरा से ही अगज्ञान प्रवाहित हुआ और श्वेताम्बरो मे नहीं ? यदि ऐसा ही उनका मन्तव्य है जैसा कि उनके आगे उद्धृत अवतरण से स्पष्ट है तो यह भी उनका कहना उचित नही जंचता। हमने आचार्य जिनभद्र के अवतरणो से यह स्पष्ट किया ही है कि उनके समय तक यही परपरा थी कि शिष्य को गुरुमुख से ही और वह भी उनकी अनुमति से ही, चोरी से नही, श्रुत का पाठ लेना जरूरी था और यही परपरा विशेषावश्यक के टीकाकार हेमचन्द्र ने भी मानी है। इतना ही नहीं आज भी यह परपरा श्वेताम्बरो मे प्रचलित है कि योगपूर्वक, तपस्यापूर्वक गुरुमुख से ही श्रुतपाठ शिष्य को लेना चाहिए। ऐसा होने पर ही वह उसका पाठी कहा जायगा। ऐसी स्थिति मे श्वेताम्बर-परपरा में वह सार्वजनिक हो गया और दिगबर-परपरा मे गुरुशिष्य परपरा तक सीमित रहा—पडितजी का यह कहना कहाँ तक सगत है ?

सार्वजनिक' से तात्पर्य यह हो कि कई साधुओ ने मिल कर अग की वाचना निश्चित की अतएव श्वेताम्बरों में वह व्यक्तिगत न रहा और सार्वजनिक हो गया। इस प्रकार सार्वजनिक हो जाने से ही दिगबरो ने अगशास्त्र को मान्यता न दी हो यह बात हमारी समझ से तो परे है। कोई एक व्यक्ति कहे वही सत्य और अनेक मिलकर उसकी सचाई की मोहर दें तो वह सत्य नहीं—ऐसा मानने वाला उस काल का दिगंबर सप्रदाय होगा—ऐसा मानने को हमारा मन तो तैयार

नहीं। इसके समर्थन मे कोई उल्लेख भी नहीं है। आज का दिगबर समाज जिस किसी कारण से श्वेताम्बरसम्मत आगमो को न मानता हो उसकी खोज करना जरूरी है किन्तु उसका कारण यह तो नहीं हो सकता कि चूकि अग सार्वजनिक हो गये थे अतएव वे दिगबर समाज मे मान्य नहीं रहे। अतएव पडितजी का यह लिखना कि "उसने इस विषय मे जन-जन की स्मृति को प्रमाण नहीं माना" निराधार है, कोरी कल्पना है। आखिर जिनके लिए पडितजी ने 'जन-जन' शब्द का प्रयोग किया है वे कौन थे ? क्या उन्होंने अपने गुरुओ से अगज्ञान लिया ही नही था ? अपनी कल्पना से ही अगो का सकलन कर दिया था ? हमारा तो विश्वास है कि जिनको पडितजी ने 'जन-जन' कहा है वे किसी आचार्य के शिष्य ही थे और उन्होंने अपने आचार्य से सीखा हुआ श्रुत ही वहा उपस्थित किया था। इसीलिए तो कहा गया है कि जिसको जितना याद था उसने उतना वहां उपस्थित किया।

प्रस्तुत पुस्तक में

पृष्ठ

१. जैन . . ५-२१
जैन श्रमण व शास्त्रलेखन ७
अचेलक परपरा व श्रुतसाहित्य ९
श्रुतज्ञान १०
अक्षरश्रुत व अनक्षरश्रुत १२
सम्यक्श्रुत व मिथ्याश्रुत १४
सादिक, अनादिक, सपर्यवसित व अपर्यवसित श्रुत २१
गमिक-अगमिक, अगप्रविष्ट-अनगप्रविष्ट व कालिक-
उत्कालिक श्रुत . २७

२. अंगग्रन्थों का बाह्य परिचय ३५-५८
आगमों की ग्रथबद्धता ३५
अचेलक परपरा में अगविषयक उल्लेख ३६
अगों का बाह्य रूप ३७
नाम-निर्देश ३९
आचारादि अगों के नामों का अर्थ ४२
अगों का पद-परिमाण ४५
पद का अर्थ ५१
अगों का क्रम ५२
अगों की शैली व भाषा ५४
प्रकरणों का विषयनिर्देश ५५
परपरा का आधार ५५
परमतों का उल्लेख ५६
विषय-वैविध्य ५७
जैन परम्परा का लक्ष्य ५७

३ अगग्रन्थों का अंतरंग परिचय : आचारांग ६१-१२३
विषय ६३

	पृष्ठ
अचेलकता व सचेलकता	६५
आचार के पर्याय	६७
प्रथम श्रुतस्कन्ध के अध्ययन	६८
द्वितीय श्रुतस्कन्ध की चूलिकाएँ	७३
एक रोचक कथा	७५
पद्यात्मक अंश	७५
आचारांग की वाचनाएँ	७६
आचारांग के कर्ता	७८
अंगसूत्रों की वाचनाएँ	७८
देवर्धिगणि क्षमाश्रमण	८०
महाराज खारवेल	८२
आचारांग के शब्द	८२
ब्रह्मचर्य एवं ब्राह्मण	८३
चतुर्वर्ण	८५
सात वर्ण व नव वर्णान्तर	८६
शस्त्रपरिज्ञा	८७
आचारांग में उल्लिखित परमत	९०
निर्ग्रन्थसमाज	९४
आचारांग के वचनों से मिलते वचन	९५
आचारांग के शब्दों से मिलते शब्द	९८
जाणइ-पासइ का प्रयोग भाषाशैली के रूप में	१०२
वसुपद	१०३
वेद	१०४
आमगंध	१०४
आस्रव व परिस्रव	१०६
वर्णाभिलाषा	१०६
मुनियों के उपकरण	१०७
महावीर-चर्या	१०८
कुछ सुभाषित	१०९
द्वितीय श्रुतस्कन्ध	१११

	पृष्ठ
आहार	१११
भिक्षा के योग्य कुल	११२
उत्सव के समय भिक्षा .	११३
भिक्षा के लिए जाते समय	११४
राजकुलों मे . .	११४
मक्खन, मधु, मद्य व मास .	११४
सम्मिलित सामग्री	११५
ग्राह्य जल	११५
अग्राह्य भोजन .	११६
शय्यैषणा	११६
ईर्यापथ	११७
भाषाप्रयोग	११८
वस्त्रधारण ..	११८
पात्रैषणा .	११९
अवग्रहैषणा	११९
मलमूत्रविसर्जन	११९
शब्दश्रवण व रूपदर्शन	११६
परक्रियानिषेध	१२०
महावीर-चरित .	१२०
ममत्वमुक्ति ...	१२३
वीतरागता एव सर्वज्ञता	१२३
४. सूत्रकृतांग	१२७-१६८
सूत्रकृत की रचना	१२९
नियतिवाद तथा आजीविक सम्प्रदाय	१३०
साख्यमत .	१३१
अज्ञानवाद	१३२
कर्मचयवाद	१३३
बुद्ध का शूकर-मासभक्षण .	१३६
हिंसा का हेतु .	१३७
जगत-कर्तृत्व .	१३८

	पृष्ठ
सयमधर्म	१३६
वेयालिय	१३६
उपसर्ग	१४२
स्त्री-परिज्ञा	१४५
नरक-विभक्ति	१४६
वीरस्तव	१४६
कुशील	१४८
वीर्य अर्थात् पराक्रम	१४८
धर्म	१४९
समाधि	१५०
मार्ग	१५१
समवसरण	१५१
याथातथ्य	१५३
ग्रन्थ अर्थात् परिग्रह	१५४
आदान अथवा आदानीय	१५५
गाथा	१५५
ब्राह्मण, श्रमण, भिक्षु व निर्ग्रन्थ	१५६
सात महाअध्ययन	१५६
पुण्डरीक	१५६
क्रियास्थान	१५८
बौद्धदृष्टि से हिंसा	१६०
आहारपरिज्ञा	१६१
प्रत्याख्यान	१६२
आचारश्रुत	१६३
आर्द्रकुमार	१६४
नालंदा	१६५
उदय पेढालपुत्त	१६६
५. स्थानांग व समवायांग	१७१-१८३
शैली	१७५
विषय-सम्बद्धता	१७६

		पृष्ठ
	विषय-वैविध्य	१७७
	प्रव्रज्या	१७८
	स्थविर	१७९
	लेखन-पद्धति	१८०
	अनुपलब्ध शास्त्र	१८१
	गर्भधारण	१८२
	भूकम्प	१८२
	नदियाँ	१८२
	राजधानियाँ	१८२
	वृष्टि	१८३
६.	व्याख्याप्रज्ञप्ति	१८७--२१४
	मगल	१८९
	प्रश्नकार गौतम	१९०
	प्रश्नोत्तर	१९१
	देवगति	१९२
	कांक्षामोहनीय	१९५
	लोक का आधार	१९५
	पार्श्वापत्य	१९६
	वनस्पतिकाय	१९७
	जीव की समानता	१९८
	केवली	१९८
	श्वासोच्छ्वास	१९९
	जमालि-चरित	१९९
	शिवराजर्षि	२००
	परिव्राजक तापस	२०१
	स्वर्ग	२०२
	देवभाषा	२०३
	गोशालक	२०४
	वायुकाय व अग्निकाय	२०५
	जरा व शोक	२०६

पृष्ठ

समयधर्म १३६
वैतालिय १३६
उपसर्ग १४२
स्त्री-परिज्ञा १४५
नरकविभक्ति १४६
वीरस्तव १४६
कुशील १४८
वीर्य अर्थात् पराक्रम १४८
धर्म १४९
समाधि १५०
मार्ग १५१
समवसरण १५१
याथातथ्य १५३
ग्रन्थ अर्थात् परिग्रह १५४
आदान अथवा आदानीय १५५
गाथा १५५
ब्राह्मण, श्रमण, भिक्षु व निर्ग्रन्थ १५६
सात महाअध्ययन १५६
पुण्डरीक १५६
क्रियास्थान १५८
बौद्धदृष्टि से हिंसा १६०
आहारपरिज्ञा १६१
प्रत्याख्यान १६२
आचारश्रुत १६३
आर्द्रकुमार १६४
नालन्दा १६५
उदय पेढालपुत्त १६६

५. स्थानांग व समवायाग १७१-१८३
शैली १७५
विषय-सम्बद्धता १७६

		पृष्ठ
	विषय-वैविध्य	१७७
	प्रव्रज्या	१७८
	स्थविर	१७९
	लेखन-पद्धति	१८०
	अनुपलब्ध शास्त्र	१८१
	गर्भधारण	१८२
	भूकम्प	१८२
	नदियाँ	१८२
	राजधानियाँ	१८२
	वृष्टि	१८३
६.	व्याख्याप्रज्ञप्ति	१८७—२१४
	मंगल	१८९
	प्रश्नकार गौतम	१९०
	प्रश्नोत्तर	१९१
	देवगति	१९२
	कांक्षामोहनीय	१९४
	लोक का आधार	१९५
	पार्श्वापत्य	१९६
	वनस्पतिकाय	१९७
	जीव की समानता	१९८
	केवली	१९८
	श्वासोच्छ्वास	१९९
	जमालि-चरित	१९९
	शिवराजर्षि	२००
	परिव्राजक तापस	२०१
	स्वर्ग	२०२
	देवभाषा	२०३
	गोशालक	२०४
	वायुकाय व अग्निकाय	२०५
	जरा व शोक	२०६

		पृष्ठ
	सावद्य व निरवद्य भाषा	२०६
	सम्यग्दृष्टि व मिथ्यादृष्टि देव	२०६
	स्वप्न	२०७
	कोणिक का प्रधान हाथी	२०७
	कम्प	२०८
	नरकस्थ एव स्वर्गस्थ पृथ्वीकायिक आदि जीव	२०८
	प्रथमता-अप्रथमता	२०८
	कार्तिक सेठ	२०८
	माकदी अनगार	२०९
	युग्म	२०९
	पुद्गल	२०९
	मद्रुक श्रमणोपासक	२०९
	पुद्गल-ज्ञान	२१०
	यापनीय	२११
	मास	२११
	विविध	२११
	उपसहार	२१४
७	ज्ञाताधर्मकथा	२१७-२२४
	कारागार ...	२१८
	शैलक मुनि	२१६
	शुक परिव्राजक	२१६
	थावच्चा सार्थवाही	२२०
	चोक्खा परिव्राजिका	२२१
	चीन एवं चीनी	२२१
	डूबती नौका	२२१
	उदकज्ञात	२२१
	विविध मतानुयायी	२२२
	दयालु मुनि	२२३
	पाण्डव-प्रकरण	२२३
	सुसुमा	२२४

		पृष्ठ
८.	उपासकदशा	२२७-२३०
	मर्यादा-निर्धारण	२२८
	विघ्नकारी देव	२२९
	मासाहारिणी स्त्री व नियतिवादी श्रावक	२२९
	आनद का अवधिज्ञान	२२९
	उपसहार	२३०
९	अन्तकृतदशा	२३३-२३८
	द्वारका-वर्णन	२३४
	गजसुकुमाल	२३४
	दयाशील कृष्ण	२३६
	कृष्ण की मृत्यु	२३६
	अर्जुनमाली एव युवक सुदर्शन	२३६
	अन्य अतकृत	२३८
१०.	अनुत्तरौपपातिकदशा	२४१-२४३
	जालि आदि राजकुमार	२४२
	दीर्घसेन आदि राजकुमार	२४३
	धन्यकुमार	२४३
११.	प्रश्नव्याकरण	२४७-२५२
	असत्यवादी मत	२४९
	हिंसादि आस्रव	२४९
	अहिंसादि सवर	२५०
१२	विपाकसूत्र	२५५-२६३
	मृगापुत्र	२५६
	कामध्वजा व उज्झितक	२५८
	अभग्नसेन	२५९
	शकट	२५९
	बृहस्पतिदत्त	२५९
	नदिवर्धन	२६०

अं

ग

आ

ग

		पृष्ठ
	उवरदत्त व धन्वन्तरि वैद्य	२६०
	शौरिक मछलीमार	२६१
	देवदत्ता	२६१
	अजू	२६२
	सुखविपाक	२६२
	विपाक का विषय	२६२
	अध्ययन-नाम	२६३
१	**परिशिष्ट**	२६५
	दृष्टिवाद	२६५
२.	**परिशिष्ट**	२६६-२६८
	अचेलक परपरा के प्राचीन ग्रथो मे सचेलकसम्मत अगादिगत अवतरणों का उल्लेख	२६६
३.	**परिशिष्ट**	२६९-२७१
	आगमों का प्रकाशन व सशोधन	२६९
	अनुक्रमणिका	२७३
	सहायक ग्रथों की सूची	३१३

अं

ग

आ

ग

प्रकरण १

जैन श्रुत

जैन श्रमण व शास्त्रलेखन

अचेलक परम्परा व श्रुतसाहित्य

श्रुतज्ञान

अक्षरश्रुत व अनक्षरश्रुत

सम्यक्श्रुत व मिथ्याश्रुत

सादिक, अनादिक, सपर्यवसित व अपर्यवसित श्रुत

गमिक-अगमिक, अंगप्रविष्ट-अनंगप्रविष्ट व कालिक-उत्कालिक श्रुत

प्रथम प्रकरण

जैन श्रुत

महान् लिपिशास्त्री श्री ओझाजी का निश्चित मत है कि ताडपत्र, भोजपत्र, कागज, स्याही, लेखनी आदि का परिचय हमारे पूर्वजों को प्राचीन समय से ही था। ऐसा होते हुए भी किसी भारतीय अथवा एशियाई धर्म-परम्परा के मूलभूत धर्मशास्त्र अधिकांशतया रचना के समय ही ताडपत्र अथवा कागज पर लिपिबद्ध हुए हों, ऐसा प्रतीत नहीं होता।

आज से पचीस सौ वर्ष अथवा इससे दुगुने समय पहले के जिज्ञासु अपने-अपने धर्मशास्त्रों को आदर व विनयपूर्वक अपने-अपने गुरुओं द्वारा प्राप्त कर सकते थे। वे इस प्रकार से प्राप्त होनेवाले शास्त्रों को कंठाग्र करते तथा कंठाग्र पाठों को बार-बार स्मरण कर याद रखते। धर्मवाणी के शुद्ध उच्चारण सुरक्षित रहें, इसका वे पूरा ध्यान रखते। कहीं काना, मात्रा, अनुस्वार, विसर्ग आदि निरर्थकरूप से प्रविष्ट न हो जायँ अथवा निकल न जायँ, इसकी भी वे पूरी सावधानी रखते।

अवेस्ता एवं वेदों के विशुद्ध उच्चारणों की सुरक्षा का आवेस्तिक पंडितों एवं वैदिक पुरोहितों ने पूरा ध्यान रखा है। इसका समर्थन वर्तमान में प्रचलित अवेस्ता-गाथाओं एवं वेद-पाठों की उच्चारण-प्रक्रिया से होता है।

जैन परम्परा मे भी आवश्यक क्रियाकाण्ड के सूत्रो की अक्षरसख्या, पदसख्या, लघु एव गुरु अक्षरसख्या आदि का खास विधान है। सूत्र का किस प्रकार उच्चारण करना, उच्चारण करते समय किन किन दोषो से दूर रहना—इत्यादि का अनुयोगद्वार आदि में स्पष्ट विधान किया गया है। इससे प्रतीत होता है कि प्राचीन काल मे जैन परम्परा में भी उच्चारण विषयक कितनी सावधानी रखी जाती थी। वर्तमान मे भी विधिज्ञ इसी प्रकार परम्परा के अनुसार सूत्रोच्चारण करते हैं एव यति आदि का पालन करते हैं।

इस प्रकार विशुद्ध रीति से सचित श्रुतसम्पत्ति को गुरु अपने शिष्यो को सौंपते तथा शिष्य पुन अपनी परम्परा के प्रशिष्यों को सौंपते। इस तरह श्रुत की परम्परा भगवान् महावीर के निर्वाण के बाद लगभग एक हजार वर्ष तक निरन्तर प्रवाह के रूप मे चलती रही।

महावीर-निर्वाण के लगभग एक हजार वर्ष बाद अर्थात् विक्रम की चौथी-पांचवी शताब्दी मे जब वलभी मे आगमो को पुस्तकारूढ किया गया तब से कठाग्र-प्रथा धीरे-धीरे कम होने लगी और अब तो यह बिलकुल मद हो गई है।

जिस समय कठाग्रपूर्वक शास्त्रों को स्मरण रखने की प्रथा चालू थी उस समय इस कार्य को सुव्यवस्थित एव अविसवादी रूप से सम्पन्न करने के लिए एक विशिष्ट एव आदरणीय वर्ग विद्यमान था जो उपाध्याय के रूप में पहचाना जाता था। जैन परम्परा मे अरिहत आदि पाच परमेष्ठी माने जाते हैं। उनमें इस वर्ग का चतुर्थ स्थान है। इस प्रकार सघ मे इस वर्ग की विशेष प्रतिष्ठा है।

धर्मशास्त्र प्रारभ मे लिखे गये न थे अपितु कठाग्र थे एव स्मृति द्वारा सुरक्षित रखे जाते थे, इस तथ्य को प्रमाणित करने के लिए शास्त्रो के लिए वर्तमान में प्रयुक्त श्रुति, स्मृति एव श्रुत शब्द पर्याप्त हैं।

विद्वज्जगत् जानता है कि ब्राह्मण परम्परा के मुख्य प्राचीन शास्त्रो का नाम श्रुति है एव तदनुवर्ती बाद के शास्त्रो का नाम स्मृति है। श्रुति एव स्मृति—ये दोनो शब्द रूढ नही अपितु यौगिक हैं तथा सर्वथा अन्वर्थक हैं। जैन परम्परा के मुख्य प्राचीन शास्त्रो का नाम श्रुत है। श्रुति एव स्मृति की ही भाति श्रुत शब्द भी यौगिक है। अत इन नामों वाले शास्त्र सुन सुन कर सुरक्षित रखे गये हैं, ऐसा स्पष्टतया फलित होता है। आचाराग आदि सूत्र 'सुयं मे' आदि वाक्यो से शुरू होते हैं। इसका अर्थ यही है कि शास्त्र सुने हुए हैं एव सुनते-सुनते चलते आये हैं।

प्राचीन जैन आचार्यों ने जो श्रुतज्ञान का स्वरूप बताया है एव उसके विभाग किये हैं उसके मूल मे भी यह 'सुय' शब्द रहा हुआ है, ऐसा मानने मे कोई हर्ज नहीं है।

वैदिक परम्परा मे वेदो के सिवाय अन्य किसी भी ग्रंथ के लिए श्रुति शब्द का प्रयोग नहीं हुआ है जबकि जैन परम्परा में शास्त्रों के लिए, फिर चाहे वे प्राचीन हो अथवा अर्वाचीन, श्रुत शब्द का प्रयोग प्रचलित है। इस प्रकार श्रुत शब्द मूलत यौगिक होते हुए भी अब वह रूढ हो गया है।

जैसा कि पहले कहा गया है, हजारो वर्ष पूर्व भी धर्मोपदेशको को लिपियो तथा लेखन-साधनो का ज्ञान था। वे लेखन-कला में निपुण भी थे। ऐसा होते हुए भी जो जैन धर्मशास्त्रों को सुव्यवस्थित रखने की व्यवस्था करने वाले थे अर्थात् जैन शास्त्रो में काना-मात्रा जितना भी परिवर्तन न हो, इसका सतत ध्यान रखने वाले महानुभाव थे उन्होंने इन शास्त्रो को सुन-सुन कर स्मरण रखने का महान् मानसिक भार क्यों कर उठाया होगा ?

अति प्राचीन काल से चली आने वाली जैन श्रमणो की चर्या, साधना एवं परिस्थिति का विचार करने पर इस प्रश्न का समाधान स्वत हो जाता है।

जैन श्रमण व शास्त्रलेखन

जैन मुनियो की मन, वचन व काया से हिंसा न करने, न करवाने एव करते हुए का अनुमोदन न करने की प्रतिज्ञा होती है। प्राचीन जैन मुनि इस प्रतिज्ञा का अक्षरश पालन करने का प्रयत्न करते थे। जिसे प्राप्त करने मे हिंसा की तनिक भी सभावना रहती ऐसी वस्तुओ को वे स्वीकार न करते थे। आचाराग आदि उपलब्ध सूत्रो को देखने से उनकी यह चर्या स्पष्ट मालूम होती है। बौद्ध ग्रथ भी उनके लिए 'दीघतपस्सी' (दीर्घतपस्वी) शब्द का प्रयोग करते हैं। इस प्रकार अत्यन्त कठोर आचार-परिस्थिति के कारण ये श्रमण धर्मरक्षा के नाम पर भी अपनी चर्या मे अपवाद की आकाक्षा रखने वाले न थे। यही कारण है कि उन्होने हिंसा एव परिग्रह की सभावना वाली लेखन-प्रवृत्ति को नहीं अपनाया।

यद्यपि धर्म-प्रचार उन्हें इष्ट था किन्तु वह केवल आचरण एव उपदेश द्वारा ही। हिंसा एव परिग्रह की सभावना के कारण व्यक्तिगत निर्वाण के अभिलाषी इन नि स्पृह मुमुक्षुओ ने शास्त्र-लेखन की प्रवृत्ति की उपेक्षा की। उनकी इस

जैन परम्परा मे भी आवश्यक क्रियाकाण्ड के सूत्रों की अक्षरसख्या, पदसख्या, लघु एव गुरु अक्षरसख्या आदि का खास विधान है। सूत्र का किस प्रकार उच्चारण करना, उच्चारण करते समय किन-किन दोषों से दूर रहना—इत्यादि का अनुयोगद्वार आदि मे स्पष्ट विधान किया गया है। इससे प्रतीत होता है कि प्राचीन काल में जैन परम्परा मे भी उच्चारण विषयक कितनी सावधानी रखी जाती थी। वर्तमान मे भी विधिज्ञ इसी प्रकार परम्परा के अनुसार सूत्रोच्चारण करते हैं एव यति आदि का पालन करते हैं।

इस प्रकार विशुद्ध रीति से सचित श्रुतसम्पत्ति को गुरु अपने शिष्यों को सौंपते तथा शिष्य पुन अपनी परम्परा के प्रशिष्यों को सौंपते। इस तरह श्रुत की परम्परा भगवान् महावीर के निर्वाण के बाद लगभग एक हजार वर्ष तक निरन्तर प्रवाह के रूप मे चलती रही।

महावीर-निर्वाण के लगभग एक हजार वर्ष बाद अर्थात् विक्रम की चौथी-पांचवीं शताब्दी में जब वलभी में आगमो को पुस्तकारूढ किया गया तब से कठाग्र-प्रथा धीरे-धीरे कम होने लगी और अब तो यह बिलकुल मद हो गई है।

जिस समय कंठाग्रपूर्वक शास्त्रों को स्मरण रखने की प्रथा चालू थी उस समय इस कार्य को सुव्यवस्थित एव अविसवादी रूप से सम्पन्न करने के लिए एक विशिष्ट एव आदरणीय वर्ग विद्यमान था जो उपाध्याय के रूप में पहचाना जाता था। जैन परम्परा मे अरिहत आदि पाच परमेष्ठी माने जाते हैं। उनमें इस वर्ग का चतुर्थ स्थान है। इस प्रकार सघ में इस वर्ग की विशेष प्रतिष्ठा है।

धर्मशास्त्र प्रारभ मे लिखे गये न थे अपितु कठाग्र थे एव स्मृति द्वारा सुरक्षित रखे जाते थे, इस तथ्य को प्रमाणित करने के लिए शास्त्रो के लिए वर्तमान मे प्रयुक्त श्रुति, स्मृति एव श्रुत शब्द पर्याप्त हैं।

विद्वज्जगत् जानता है कि ब्राह्मण परम्परा के मुख्य प्राचीन शास्त्रो का नाम श्रुति है एव तदनुवर्ती बाद के शास्त्रो का नाम स्मृति है। श्रुति एव स्मृति—ये दोनो शब्द रूढ नहीं अपितु यौगिक हैं तथा सर्वथा अन्वर्थक हैं। जैन परम्परा के मुख्य प्राचीन शास्त्रो का नाम श्रुत है। श्रुति एव स्मृति की ही भांति श्रुत शब्द भी यौगिक है। अत इन नामों वाले शास्त्र सुन सुन कर सुरक्षित रखे गये हैं, ऐसा स्पष्टतया फलित होता है। आचाराग आदि सूत्र 'सुय मे' आदि वाक्यो से शुरू होते हैं। इसका अर्थ यही है कि शास्त्र सुने हुए हैं एव सुनते-सुनते चलते आये हैं।

प्राचीन जैन आचार्यों ने जो श्रुतज्ञान का स्वरूप बताया है एव उसके विभाग किये हैं उसके मूल में भी यह 'सुय' शब्द रहा हुआ है, ऐसा मानने में कोई हर्ज नहीं है।

वैदिक परम्परा मे वेदो के सिवाय अन्य किसी भी ग्रथ के लिए श्रुति शब्द का प्रयोग नहीं हुआ है जबकि जैन परम्परा में समस्त शास्त्रों के लिए, फिर चाहे वे प्राचीन हो अथवा अर्वाचीन, श्रुत शब्द का प्रयोग प्रचलित है। इस प्रकार श्रुत शब्द मूलत यौगिक होते हुए भी अब वह रूढ हो गया है।

जैसा कि पहले कहा गया है, हजारो वर्ष पूर्व भी धर्मोपदेशको को लिपियो तथा लेखन-साधनो का ज्ञान था। वे लेखन-कला में निपुण भी थे। ऐसा होते हुए भी जो जैन धर्मशास्त्रों को सुव्यवस्थित रखने की व्यवस्था करने वाले थे अर्थात् जैन शास्त्रो मे काना-मात्रा जितना भी परिवर्तन न हो, इसका सतत ध्यान रखने वाले महानुभाव थे उन्होंने इन शास्त्रो को सुन-सुन कर स्मरण रखने का महान् मानसिक भार क्यो कर उठाया होगा ?

अति प्राचीन काल से चली आने वाली जैन श्रमणो की चर्या, साधना एवं परिस्थिति का विचार करने पर इस प्रश्न का समाधान स्वत हो जाता है।

जैन श्रमण व शास्त्रलेखन

जैन मुनियो की मन, वचन व काया से हिंसा न करने, न करवाने एव करते हुए का अनुमोदन न करने की प्रतिज्ञा होती है। प्राचीन जैन मुनि इस प्रतिज्ञा का अक्षरश पालन करने का प्रयत्न करते थे। जिसे प्राप्त करने में हिंसा की तनिक भी सभावना रहती ऐसी वस्तुओं को वे स्वीकार न करते थे। आचाराग आदि उपलब्ध सूत्रो को देखने से उनकी यह चर्या स्पष्ट मालूम होती है। बौद्ध ग्रथ भी उनके लिए 'दीघतपस्सी' (दीर्घतपस्वी) शब्द का प्रयोग करते हैं। इस प्रकार अत्यन्त कठोर आचार-परिस्थिति के कारण ये श्रमण धर्मरक्षा के नाम पर भी अपनी चर्या में अपवाद की आकाक्षा रखने वाले न थे। यही कारण है कि उन्होने हिंसा एव परिग्रह की सभावना वाली लेखन-प्रवृत्ति को नहीं अपनाया।

यद्यपि धर्म-प्रचार उन्हें इष्ट था किन्तु वह केवल आचरण एव उपदेश द्वारा ही। हिंसा एव परिग्रह की सभावना के कारण व्यक्तिगत निर्वाण के अभिलाषी इन नि स्पृह मुमुक्षुओ ने शास्त्र-लेखन की प्रवृत्ति की उपेक्षा की। उनको इस

अहिंसा-परायणता का प्रतिबिम्ब बृहत्कल्प नामक छेद सूत्र में स्पष्टतया प्रतिबिम्बित है। उसमें स्पष्ट विधान है कि पुस्तक पास में रखनेवाला श्रमण प्रायश्चित्त का भागी होता है (बृहत्कल्प, गा. ३८२१-३८३१, पृ. १०५४-१०५७)।

इस उल्लेख से यह भी सिद्ध होता है कि कुछ साधु पुस्तकें रखते भी होंगे। अत यह नहीं कहा जा सकता कि भगवान् महावीर के बाद हजार वर्ष तक कोई भी आगमग्रन्थ पुस्तकरूप में लिखा ही न गया हो। हां, यह कहा जा सकता है कि पुस्तक-लेखन की प्रवृत्ति विधानरूप से स्वीकृत न थी। अहिंसा के आचार को रूढरूप से पालने वाले पुस्तकें नहीं लिखते किन्तु जिन्हे ज्ञान से विशेष प्रेम था वे पुस्तकें अवश्य रखते होंगे। ऐसा मानने पर ही अग के अतिरिक्त समग्र विशाल साहित्य की रचना सभव हो सकती है।

बृहत्कल्प मे यह भी बताया गया है कि पुस्तक पास में रखने वाले श्रमण मे प्रमाद दोष उत्पन्न होता है। पुस्तक पास में रहने से धर्म-वचनों के स्वाध्याय का आवश्यक कार्य टल जाता है। धर्म वचनो को कठस्थ रख कर उनका बार-बार स्मरण करना स्वाध्यायरूप आन्तरिक तप है। पुस्तकें पास रहने से यह तप मन्द होने लगता है तथा गुरुमुख से प्राप्त सूत्रपाठो को उदात्त-अनुदात्त आदि मूल उच्चारणो में सुरक्षित रखने का श्रम भाररूप प्रतीत होने लगता है। परिणामत सूत्रपाठो के मूल उच्चारणो में परिवर्तन होना प्रारभ हो जाता है। इसका परिणाम यह होता है कि सूत्रों के मूल उच्चारण यथावत् नहीं रह पाते। उपर्युक्त तथ्यो को देखने से बहुत-कुछ स्पष्ट हो जाता है कि पहले से ही अर्थात् भगवान् महावीर के समय से ही धर्मपुस्तको के लेखन की प्रवृत्ति विशेष रूप में क्यों नही रही तथा महावीर के हजार वर्ष बाद आगमो को पुस्तकारूढ करने का व्यवस्थित प्रयत्न क्यो करना पडा ?

महावीर के निर्वाण के बाद श्रमणसघ के आचार में शिथिलता आने लगी। उसके विभिन्न सम्प्रदाय होने लगे। अचेलक एव सचेलक परम्परा प्रारम्भ हुई। वनवास कम होने लगा। लोकसम्पर्क बढने लगा। श्रमण चैत्यवासी भी होने लगे। चैत्यवास के साथ उनमे परिग्रह भी प्रविष्ट हुआ। ऐसा होते हुए भी धर्मशास्त्र के पठन-पाठन की परम्परा पूर्ववत् चालू थी। बीच में दुष्काल पडे। इससे धर्मशास्त्र कठाग्र रखना विशेष दुष्कर होने लगा। कुछ धर्मश्रुत नष्ट हुआ अथवा उसके ज्ञाता न रहे। जो धर्मश्रुत को सुरक्षित रखने की भक्तिरूप वृत्तिवाले थे उन्होने उसे पुस्तकबद्ध कर सचित रखने की प्रवृत्ति आवश्यक

समझी। इस समय श्रमणों ने जीवनचर्या मे अनेक अपवाद स्वीकार किये अत उन्हे इस लिखने-लिखाने की प्रवृत्ति का अपवाद भी आवश्यक प्रतीत हुआ। भगवान् महावीर के निर्वाण के लगभग एक हजार वर्ष बाद देवर्धिगणि क्षमाश्रमण-प्रमुख स्थविरो ने श्रुत को जब पुस्तकबद्ध कर व्यवस्थित करने का प्रयत्न किया तब वह अशत' लुप्त हो चुका था[1]।

अचेलक परम्परा व श्रुतसाहित्य

सम्पूर्ण अपरिग्रह-व्रत को स्वीकार करते हुए भी केवल लज्जा-निवारणार्थ जीर्ण-शीर्ण वस्त्र को आपवादिक रूप से स्वीकार करने वाली सचेलक परम्परा के अग्रगण्य देवर्धिगणि क्षमाश्रमण ने क्षीण होते हुए श्रुतसाहित्य को सुरक्षित रखने के लिए जिस प्रकार पुस्तकारूढ़ करने का प्रयत्न किया उसी प्रकार सर्वथा अचेलक अर्थात् शरीर एव पीछी व कमडल के अतिरिक्त अन्य समस्त बाह्य परिग्रह को चारित्र की विराधना समझने वाले मुनियो ने भी षट्खण्डागम आदि साहित्य को सुरक्षित रखने के लिये प्रयत्न प्रारभ किया। कहा जाता है कि आचार्य धरसेन[2] सोरठ (सौराष्ट्र) प्रदेश मे स्थित गिरनार की चन्द्रगुफा मे रहते थे। वे अष्टागमहानिमित्त शास्त्र में पारगत थे। उन्हें ऐसा मालूम हो गया कि अब श्रुतसाहित्य का विच्छेद हो जाएगा ऐसा भयकर समय आ गया है। यह जानकर भयभीत हुए प्रवचनप्रेमी धरसेन ने दक्षिण प्रदेश में विचरने वाले महिमा नगरी मे एकत्रित आचार्यों पर एक पत्र लिख भेजा। पत्र पढकर आचार्यों ने आन्ध्र प्रदेश के वेन्नातट नगर के विशेष बुद्धिसम्पन्न दो शिष्यो को आचार्य धरसेन के पास भेज दिया। आये हुए शिष्यों की परीक्षा करने के बाद उन्हें धरसेन ने अपनी विद्या अर्थात् श्रुतसाहित्य पढाना प्रारम्भ किया। पढते-पढते आषाढ शुक्ला एकादशी का दिवस आ पहुँचा। इस दिन ठीक दोपहर मे उनका अध्ययन पूर्ण हुआ। आचार्य दोनो शिष्यो पर बहुत प्रसन्न हुए एव उनमे से एक का नाम भूतबली व दूसरे का नाम पुष्पदन्त रखा। इसके बाद दोनो शिष्यो को वापस भेजा। उन्होने सोरठ से वापस जाते हुए अकुलेसर (अकुलेश्वर या अकलेश्वर) नामक ग्राम में चातुर्मास किया। तदनन्तर आचार्य पुष्पदन्त वनवास के लिए गये एव आचार्य भूतबली

---

[1] वेदसाहित्य विशेष प्राचीन है। तद्विषयक लिखने लिखाने की प्रवृत्ति का भी पुरोहितों ने पूरा ध्यान रखा है। ऐसा होते हुए भी वेदों की श्लोकसख्या जितनी प्राचीनकाल में थी उतनी वर्तमान में नहीं है।

[2] बृहट्टिप्पनिका में 'योनिप्राभृतम् वीरात् ६०० धारसेनम्' इस प्रकार का उल्लेख है। ये दोनों धरसेन एक ही हैं अथवा भिन्न भिन्न, एतद्विषयक कोई विवरण उपलब्ध नहीं है।

द्रमिल (द्रविड) में गये। आचार्य पुष्पदन्त ने जिनपालित नामक शिष्य को दीक्षा दी। फिर बीस सूत्रो की रचना की एव जिनपालित को पढाकर उसे द्रविड देश में आचार्य भूतबली के पास भेजा। भूतबली ने यह जानकर कि आचार्य पुष्पदन्त अल्प आयु वाले हैं तथा महाकर्मप्रकृतिप्राभृत सम्बन्धी जो कुछ श्रुतसाहित्य है वह उनकी मृत्यु के बाद नही रह सकेगा, द्रव्यप्रमाणानुयोग को प्रारभ मे रखकर पट्खण्डागम की रचना की। इस प्रकार इस खडसिद्धान्त-श्रुत के कर्ता के रूप मे आचार्य भूतबली तथा पुष्पदन्त दोनो माने जाते हैं।[1] इस कथानक मे सोरठ प्रदेश का उल्लेख आता है। श्री देवर्धिगणि की ग्रथलेखन-प्रवृत्ति का सम्बन्ध भी सोरठ प्रदेश की ही वलभी नगरी के साथ है।

जब विक्रम की तेरहवी शताब्दी मे आचार्य अभयदेव ने अगग्रथो पर वृत्तियाँ लिखीं तब कुछ श्रमण उनके इस कार्य से असहमत थे, यह अभयदेव के प्रबन्ध में स्पष्टतया उल्लिखित है।

इसे देखते हुए यह नही कहा जा सकता कि ग्रथलेखन की प्रवृत्ति प्रारभ हुई तब तत्कालीन समस्त जैन परम्परा की इस कार्य में सहमति रही होगी। फिर भी जिन्होंने अपवाद-मार्ग का अवलम्बन लेकर भी ग्रथलेखन द्वारा धर्मवचनो को सुरक्षित रखने का पवित्रतम कार्य किया है उनका हमपर—विशेषकर सशोधकों पर महान् उपकार है।

श्रुतज्ञान

जैन परम्परा में प्रचलित 'श्रुत' शब्द केवल जैन शास्त्रो के लिए ही रूढ नहीं है। शास्त्रो के अतिरिक्त 'श्रुत' शब्द में लिपियाँ भी समाविष्ट हैं। 'श्रुत' के जितने भी कारण अर्थात् निमित्तकारण हैं वे सब 'श्रुत' मे समाविष्ट होते हैं। ज्ञानरूप कोई भी विचार भावश्रुत कहलाता है। यह केवल आत्मगुण होने के कारण सदा अमूर्त्त होता है। विचार को प्रकाशित करने का निमित्त कारण शब्द है अत वह भी निमित्त-नैमित्तिक के कथचित् अभेद की अपेक्षा से 'श्रुत' कहलाता है। शब्द मूर्त्त होता है। उसे जैन परिभाषा में 'द्रव्यश्रुत' कहते हैं। शब्द की ही भाँति भावश्रुत को सुरक्षित एवं स्थायी रखने के जो भी निमित्त अर्थात् कारण हैं वे सभी 'द्रव्यश्रुत' कहलाते हैं। इनमें समस्त लिपियो का समावेश होता है। इनके अतिरिक्त कागज, स्याही, लेखनी आदि भी परम्परा

---

[1] षट्खण्डागम, प्रथम भाग, पृ० ६७-७१

की अपेक्षा से 'श्रुत' कहे जा सकते हैं। यही कारण है कि ज्ञानपचमी अथवा श्रुतपचमी के दिन सब जैन सामूहिक रूप से एकत्र होकर इन साधनो का तथा समस्त प्रकार की जैन पुस्तको का विशाल प्रदर्शन करते हैं एवं उत्सव मनाते है। देव-प्रतिमा के समान इनके पास घृत-दीपक जलाते हैं एव वंदन, नमन, पूजन आदि करते हैं। प्रत्येक शब्द, चाहे वह किसी भी प्रकार का हो—व्यक्त हो अथवा अव्यक्त—'द्रव्यश्रुत' मे समाविष्ट होता है। प्रत्येक भावसूचक सकेत—जैसे छींक खखार आदि—का भी व्यक्त शब्द के ही समान द्रव्यश्रुत मे समावेश होता है। द्रव्यश्रुत एव भावश्रुत के विषय में आचार्य देववाचक ने स्वरचित नन्दिसूत्र में विस्तृत एव स्पष्ट चर्चा की है।

नन्दिसूत्रकार ने ज्ञान के पाच प्रकार बताये हैं मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मन पर्यायज्ञान व केवलज्ञान। जैन परम्परा मे 'प्रत्यक्ष' शब्द के दो अर्थ स्वीकृत हैं। पहला अक्ष अर्थात् आत्मा। जो ज्ञान सीधा आत्मा द्वारा ही हो, जिसमें इन्द्रियों अथवा मन की सहायता की आवश्यकता न हो वह ज्ञान पारमार्थिक प्रत्यक्ष कहलाता है। दूसरा अक्ष अर्थात् इन्द्रिया एव मन। जो ज्ञान इन्द्रियो एव मन की सहायता से उत्पन्न हो वह व्यावहारिक प्रत्यक्ष कहलाता है। उक्त पाच ज्ञानो में अवधि, मन.पर्याय व केवल—ये तीन पारमार्थिक प्रत्यक्ष हैं एव मति व्यावहारिक प्रत्यक्ष है।

श्री भद्रबाहुविरचित आवश्यक-निर्युक्ति, जिनभद्रगणि क्षमाश्रमणरचित विशेषावश्यकभाष्य, श्री हरिभद्रविरचित आवश्यक-वृत्ति आदि अनेक ग्रथो में पचज्ञानविषयक विस्तृत चर्चा की गई है। इसे देखते हुए ज्ञान अथवा प्रमाण के स्वरूप, प्रकार आदि की चर्चा प्रारम्भ मे कितनी सक्षिप्त थी तथा धीरे-धीरे कितनी विस्तृत होती गई, इसका स्पष्ट पता लग जाता है। ज्यो ज्यो तर्कदृष्टि का विकास होता गया त्यो त्यो इस चर्चा का भी विस्तार होता गया।

यहां इस लबी चर्चा के लिए अवकाश नहीं है। केवल श्रुतज्ञान का परिचय देने के लिए तत्सम्बद्ध प्रासगिक विषयो का स्पर्श करते हुए आगे बढा जाएगा।

इन्द्रियो तथा मन द्वारा होने वाले बोध को मतिज्ञान कहते हैं। इसे अन्य दार्शनिक 'प्रत्यक्ष' कहते हैं। जबकि जैन परम्परा में इसे 'व्यावहारिक प्रत्यक्ष' कहा जाता है। इन्द्रिय-मन निरपेक्ष सीधा आत्मा द्वारा न होने के कारण मतिज्ञान वस्तुतः परोक्ष ही है।

दूसरा श्रुतज्ञान है। जैसा कि पहले कहा जा चुका है, श्रुतज्ञान के मुख्य दो भेद हैं द्रव्यश्रुत और भावश्रुत। भावश्रुत आत्मोपयोगरूप अर्थात् चेतनारूप होता है। द्रव्यश्रुत भावश्रुत की उत्पत्ति मे निमित्तरूप व जनकरूप होता है एव भावश्रुत से जन्य भी होता है। यह भाषारूप एव लिपिरूप है। कागज, स्याही, लेखनी, दावात, पुस्तक इत्यादि समस्त श्रुतसाधन द्रव्यश्रुत के ही अन्तर्गत हैं।

श्रुतज्ञान के परस्पर विरोधी सात युग्म कहे गये हैं अर्थात् देववाचक ने श्रुतज्ञान के सब मिलाकर चौदह भेद बताए हैं। इन चौदह भेदो मे सब प्रकार का श्रुतज्ञान समाविष्ट हो जाता है। यहाँ निम्नोक्त छ युग्मो की चर्चा विवक्षित है —

१ अक्षरश्रुत व अनक्षरश्रुत, २. सम्यक्श्रुत व मिथ्याश्रुत, ३. सादिकश्रुत व अनादिकश्रुत, ४ सपर्यवसित अर्थात् सान्तश्रुत व अपर्यवसित अर्थात् अनन्तश्रुत, ५. गमिकश्रुत व अगमिकश्रुत, ६. अगप्रविष्टश्रुत व अनगप्रविष्ट अर्थात् अगबाह्यश्रुत।

अक्षरश्रुत व अनक्षरश्रुत

इस युग्म में प्रयुक्त 'अक्षर' शब्द भिन्न-भिन्न अपेक्षा से भिन्न-भिन्न अर्थ का बोध कराता है। अक्षरश्रुत भावरूप है अर्थात् आत्मगुणरूप है। उसे प्रकट करने में तथा उसकी वृद्धि एव विकास करने मे जो अक्षर अर्थात् ध्वनियाँ, स्वर अथवा व्यजन निमित्तरूप होते हैं उनके लिए 'अक्षर' शब्द का प्रयोग होता है। ध्वनियो के सकेत भी 'अक्षर' कहलाते हैं। सक्षेप में अक्षर का अर्थ है अक्षरात्मक ध्वनियाँ तथा उनके समस्त सकेत। ध्वनियो मे समस्त स्वर-व्यजन समाविष्ट होते हैं। सकेतो मे समस्त अक्षररूप लिपियो का समावेश होता है।

आज के इस विज्ञानयुग मे भी अमुक देश अथवा अमुक लोग अपनी अभीष्ट अमुक प्रकार की लिपियो अथवा अमुक प्रकार के सकेतों को ही विशेष प्रतिष्ठा प्रदान करते हैं तथा अमुक प्रकार की लिपियो व सकेतो को कोई महत्त्व नही देते, जब कि आज से हजारो वर्ष पहले जैनाचार्यो ने श्रुत के एक भेद अक्षरश्रुत में समस्त प्रकार की लिपियो एव अक्षर-सकेतो को समाविष्ट किया था। प्राचीन जैन परम्परा मे भाषा, लिपि अथवा सकेतों को केवल विचार-प्रकाशन के वाहन के रूप मे ही स्वीकार किया गया है। उन्हे ईश्वरीय समझ कर किसी प्रकार की विशेष पूजा-प्रतिष्ठा नहीं दी गई है। इतना ही नहीं, जैन आगम तो यहाँ तक

कहते हैं कि चित्र-विचित्र भाषाएँ, लिपियाँ अथवा सकेत मनुष्य को वासना के गर्त मे गिरने से नहीं बचा सकते। वासना के गर्त मे गिरने से बचाने के असाधारण साधन विवेकयुक्त सदाचरण, सयम, शील, तप इत्यादि हैं। जैन परम्परा एव जैन शास्त्रो मे प्रारम्भ से ही यह घोषणा चली आती है कि किसी भी भाषा, लिपि अथवा सकेत द्वारा चित्त मे जड जमाये हुए राग-द्वेषादिक की परिणति को कम करनेवाली विवेकयुक्त विचारधारा ही प्रतिष्ठायोग्य है। इस प्रकार की मान्यता मे ही अहिंसा की स्थापना व आचरण निहित है। व्यावहारिक दृष्टि से भी इसी में मानवजाति का कल्याण है। इसके अभाव में विषमता, वर्गविग्रह व क्लेशवर्धन की ही सभावना रहती है।

जिस प्रकार अक्षरश्रुत मे विविध भाषाएँ, विविध लिपियाँ एव विविध सकेत समाविष्ट हैं उसी प्रकार अनक्षरश्रुत मे श्रूयमाण अव्यक्त ध्वनियो तथा दृश्यमान शारीरिक चेष्टाओ का समावेश किया गया है। इस प्रकार की ध्वनियाँ एव चेष्टाएँ भी अमुक प्रकार के बोध का निमित्त बनती हैं। यह पहले ही कहा जा चुका है कि बोध के समस्त निमित्त, श्रुत मे समाविष्ट हैं। इस प्रकार कराह, चीत्कार, नि श्वास, खखार, खासी, छींक आदि बोध-निमित्त सकेत अनक्षरश्रुत मे समाविष्ट हैं। रोगी की कराह उसकी व्यथा की ज्ञापक होती है। चीत्कार व्यथा अथवा वियोग की ज्ञापक हो सकती है। नि श्वास दु ख एव विरह का सूचक है। छींक किसी विशिष्ट सकेत की सूचक हो सकती है। थूकने की चेष्टा निन्दा अथवा तिरस्कार की भावना प्रकट कर सकती है अथवा किसी अन्य तथ्य का सकेत कर सकती है। इसी प्रकार आंख के इशारे भी विभिन्न चेष्टाओ को प्रकट करते हैं।

एक पुरुष अपनी परिचित एक स्त्री के घर मे घुसा। घर में स्त्री की सास थी। उसे देख कर स्त्री ने गाली देते हुए जोर से उसकी पीठ पर एक थप्पा लगाया। कपडे पर भरे हुए मैले हाथ की पाचो उगलियाँ उठ आई। इस सकेत का पुरुष ने यह अर्थ निकाला कि कृष्णपक्ष की पचमी के दिन फिर आना। पुरुष का निकाला हुआ यह अर्थ ठीक था। उस स्त्री ने इसी अर्थ के सकेत के लिए थप्पा लगाया था।

इस प्रकार अव्यक्त ध्वनियाँ एव विशिष्ट प्रकार की चेष्टाएँ भी अमुक प्रकार के बोध का निमित्त बनती हैं। जो लोग इन ध्वनियो एवं चेष्टाओं का रहस्य समझते हैं उन्हें इनसे अमुक प्रकार का निश्चित बोध होता है।

मतिज्ञान एवं श्रुतज्ञान के सर्वसम्मत सार्वत्रिक साहचर्य को ध्यान में रखते हुए यह कहना उपयुक्त प्रतीत होता है कि सांकेतिक भाषा के अतिरिक्त सांकेतिक चेष्टाएँ भी श्रुतज्ञान मे समाविष्ट हैं। ऐसा होते हुए भी इस विषय में भाष्यकार जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण ने विशेषावश्यकभाष्य में, वृत्तिकार आचार्य हरिभद्र ने आवश्यकवृत्ति मे तथा आचार्य मलयगिरि ने नन्दिवृत्ति मे जो मत व्यक्त किया है उसका यहाँ निर्देश करना आवश्यक है।

उक्त तीनो आचार्य लिखते हैं कि अश्रूयमाण शारीरिक चेष्टाओ को अनक्षरश्रुत में समाविष्ट न करने की रूढ परम्परा है। तदनुसार जो सुनने योग्य है वही श्रुत है, अन्य नही। जो चेष्टाएँ सुनाई न देती हो उन्हें श्रुतरूप नही समझना चाहिए।[1] यहाँ 'श्रुत' शब्द को रूढ न मानते हुए यौगिक माना गया है।

अचेलक परम्परा के तत्त्वार्थ-राजवार्तिक नामक ग्रंथ मे बताया गया है कि 'श्रुतशब्दोऽयं रूढिशब्द इति सर्वमतिपूर्वस्य श्रुतत्वसिद्धिर्भवति' अर्थात् 'श्रुत' शब्द रूढ है। श्रुतज्ञान मे किसी भी प्रकार का मतिज्ञान कारण हो सकता है।[2] इस व्याख्या के अनुसार श्रूयमाण एवं दृश्यमान दोनो प्रकार के संकेतो द्वारा होने वाला ज्ञान श्रुतज्ञान की कोटि में आता है।

मेरी दृष्टि से 'श्रुत' शब्द का व्यापक अर्थ में प्रयोग करते हुए श्रूयमाण व दृश्यमान दोनो प्रकार के संकेतों व चेष्टाओ को श्रुतज्ञान में समाविष्ट करने में कोई आपत्ति नही होनी चाहिए।

इस प्रकार अक्षरश्रुत व अनक्षरश्रुत इन दो अवान्तर भेदों के साथ श्रुतज्ञान का व्यापक विचार जैन परम्परा मे अति प्राचीन समय से होता आया है। इसका उल्लेख ज्ञान के स्वरूप का विचार करने वाले समस्त जैन ग्रंथों में आज भी उपलब्ध है।

सम्यक्श्रुत व मिथ्याश्रुत

ऊपर बताया गया है कि भाषासापेक्ष, अव्यक्तध्वनिसापेक्ष तथा संकेतसापेक्ष समस्तज्ञान श्रुत की कोटि मे आता है। इसमे झूठा ज्ञान, चौर्य को सिखाने वाला

---

१ विशेषावश्यकभाष्य, गा ५०३, पृ २७५, हारिभद्रीय आवश्यकवृत्ति, पृ २५, गा २०, मलयगिरिनन्दिवृत्ति, पृ १८९, सू. ३९

२ अ १, सू. २०, पृ १

ज्ञान, अनाचार का पोषक ज्ञान इत्यादि मुक्तिविरोधी एव आत्मविकासबाधक ज्ञान भी समाविष्ट हैं। सासारिक व्यवहार की अपेक्षा से भले ही ये समस्त ज्ञान 'श्रुत' कहे जाएँ किन्तु जहा आध्यात्मिक दृष्टि की मुख्यता हो एव इसी एक लक्ष्य को दृष्टि मे रखते हुए समस्त प्रकार के प्रयत्न करने की बार-बार प्रेरणा दी गई हो वहा केवल तद्मार्गोपयोगी अक्षरश्रुत एव अनक्षरश्रुत ही श्रुतज्ञान की कोटि में समाविष्ट हो सकता है।

इस प्रकार के मार्ग के लिए तो जिस वक्ता अथवा श्रोता की दृष्टि शमसम्पन्न हो, सवेगसम्पन्न हो, निर्वेदयुक्त हो, अनुकम्पा अर्थात् करुणावृत्ति से परिपूर्ण हो एव देहभिन्न आत्मा मे श्रद्धाशील हो उसी का ज्ञान उपयोगी सिद्ध होता है। इस तथ्य को स्पष्ट रूप से समझाने के लिए नन्दिसूत्रकार ने बतलाया है कि शमादियुक्त वक्ता अथवा श्रोता का अक्षर-अनक्षररूपश्रुत ही सम्यक्श्रुत होता है। शमादिरहित वक्ता अथवा श्रोता का वही श्रुत मिथ्याश्रुत कहलाता है। इस प्रकार उक्त श्रुत के पुन दो विभाग किये गये हैं। प्रस्तुत श्रुत-विचारणा मे आत्मविकासोपयोगी श्रुत को ही सम्यक्श्रुत कहा गया है। यह विचारणा सम्प्रदायनिरपेक्ष है। इसी का परिणाम है कि तथाकथित जैन सम्प्रदाय के न होते हुए भी अनेक व्यक्तियो के विषय मे अर्हत्त्व अथवा सिद्धत्व का निर्देश जैन आगमों में मिलता है।

जैन शास्त्रो के द्वितीय अग सूयगड—सूत्रकृताग के तृतीय अध्ययन के, चतुर्थ उद्देशक की प्रथम चार गाथाओं में वैदिक परम्परा के कुछ प्रसिद्ध पुरुषो के नाम दिये गये हैं एव उन्हें महापुरुष कहा गया है। इतना ही नही, उन्होने सिद्धि प्राप्त की, यह भी बताया गया है। इन गाथाओ में यह भी बताया गया है कि वे शीत जल का उपयोग करते अर्थात् ठंडा पानी पीते, स्नान करते, ठडे पानी मे खडे रह कर साधना भी करते तथा भोजन में बीज एव हरित अर्थात् हरी-कच्ची वनस्पति भी लेते। इन महापुरुषो के विषय मे मूल गाथा में आने वाले 'तप्त-तपोधन' शब्द की व्याख्या करते हुए वृत्तिकार ने लिखा है कि वे तपोधन थे अर्थात् पंचाग्नि तप तपते थे तथा कद, मूल, फल, बीज एव हरित अर्थात् हरी-कच्ची वनस्पति का भोजनादि में उपयोग करते थे। इस वर्णन से स्पष्ट प्रतीत होता है कि मूल गाथाओ में निर्दिष्ट उपर्युक्त महापुरुष जैन सम्प्रदाय के क्रियाकाण्ड के अनुसार जीवन व्यतीत नहीं करते थे। फिर भी वे सिद्धि को प्राप्त हुए थे। यह बात आर्हत प्रवचन में स्वीकार की गई है। यह तथ्य जैन प्रवचन की

विशालता एव सम्यक्श्रुत की उदारतापूर्ण व्याख्या को स्वीकार करने के लिए पर्याप्त है। जिनकी दृष्टि सम्यक् है अर्थात् शम, सवेग, निर्वेद, अनुकम्पा एव आस्तिक्य से परिप्लावित है उनका श्रुत भी सम्यक्श्रुत है अर्थात् उनका सम्यग्ज्ञानी होना स्वाभाविक है। ऐसी अवस्था में वे सिद्धि प्राप्त करें, इसमें आश्चर्य क्या है? जैन प्रवचन में जिन्हें अन्यलिंगसिद्ध कहा गया है वे इस प्रकार के महापुरुष हो सकते हैं। जो जैन सम्प्रदाय के वेष मे न हो अर्थात् जिनका बाह्य क्रियाकाण्ड जैन सम्प्रदाय का न हो फिर भी जो आन्तरिक शुद्धि के प्रभाव से सिद्धि—मुक्ति को प्राप्त हुए हो वे अन्यलिंगसिद्ध कहलाते हैं। उपर्युक्त गाथाओ मे अन्यलिंग से सिद्धि प्राप्त करने वालो के जो नाम बताये हैं वे ये हैं: असित, देवल, द्वैपायन, पाराशर, नमीविदेही, रामगुप्त, बाहुक तथा नारायण। ये सब महापुरुष वैदिक परम्परा के महाभारत आदि ग्रथो में सुप्रसिद्ध हैं। इन गाथाओ में 'एते पुव्वि महापुरिसा आहिता इह संमता' इस प्रकार के निर्देश द्वारा मूलसूत्रकार ने यह बताया है कि ये सब प्राचीन समय के प्रसिद्ध महापुरुष हैं तथा इन्हे 'इह' अर्थात् आर्हत प्रवचन में सिद्धरूप से स्वीकार किया गया है। यहा 'इह' का सामान्य अर्थ आर्हत प्रवचन तो है ही किन्तु वृत्तिकार ने 'ऋपिभापितादौ' अर्थात् 'ऋषिभाषित आदि ग्रथो में' इस प्रकार का विशेष अर्थ भी बताया है। इससे यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि ऋपिभाषित ग्रथ इतना अधिक प्रमाणप्रतिष्ठित है कि इसका निर्देश वृत्तिकार के कथनानुसार स्वय मूलसूत्रकार ने भी किया है।

सूत्रकृताग में 'ऋषिभाषित' नाम का परोक्ष रूप से उल्लेख है किन्तु स्थानाग व समवायाग मे तो इसका स्पष्ट निर्देश है। इनमें उसकी अध्ययन-सख्या भी बताई गई है। स्थानाग मे प्रश्नव्याकरण के दस अध्ययनो के नाम बताते हुए 'ऋषिभाषित' नाम का स्पष्ट उल्लेख किया गया है।[1] 'ऋपिभापित के चौवालीस अध्ययन देवलोक में से मनुष्यलोक में आये हुए जीवो द्वारा कहे गये हैं' इस प्रकार 'ऋषिभाषित' नाम का तथा उसके चौवालीस अध्ययनों का निर्देश समवायाग के चौवालीसवें समवाय मे है। इससे मालूम होता है कि यह ग्रथ प्रामाण्य की दृष्टि से विशेष प्रतिष्ठित होने के साथ ही विशेप प्राचीन भी है। इस ग्रथ पर आचार्य भद्रबाहु ने निर्युक्ति लिखी जिससे इसकी प्रतिष्ठा व प्रामाणिकता में विशेप वृद्धि होती है।

---

[1] स्थान १०, सूत्र ७५५

सद्भाग्य से ऋषिभाषित ग्रथ इस समय उपलब्ध है। यह आगमोदय समिति द्वारा प्रकाशित किया गया है। इसमें जैन सम्प्रदाय के न होने पर भी जैन परम्परा द्वारा मान्य अनेक महापुरुषो के नामो का उनके वचनो के साथ निर्देश किया गया है। जिस प्रकार इस ग्रथ मे भगवान् वर्धमान-महावीर एव भगवान् पार्श्व के नाम का उल्लेख 'अर्हत् ऋषि' विशेषण के साथ किया गया है उसी प्रकार इसमें याज्ञवल्क्य, बुद्ध, मखलिपुत्त आदि के नामो के साथ भी 'अर्हत् ऋषि' विशेषण लगाया गया है।[1] यही कारण है कि सूत्रकृताग की पूर्वोक्त गाथाओ में बताया गया है कि ये महापुरुष सिद्धिप्राप्त हैं।

ऋषिभाषित मे जिन अर्हद्रूप ऋषियो का उल्लेख है उनमे से कुछ के नाम इस प्रकार हैं :—

(१) असित देवल, (२) अगरिसि—अगिरस—भारद्वाज, (३) महाकश्यप, (४) मखलिपुत्त, (५) जण्णवक्क—याज्ञवल्क्य, (६) बाहुक, (७) मधुरायण—माथुरायण, (८) सोरियायण, (९) वरिसव कण्ह, (१०) आरियायण, (११) गाथापतिपुत्र तरुण, (१२) रामपुत्र, (१३) हरिगिरि, (१४) मातग, (१५) वायु, (१६) पिंग माहणपरिव्वायअ—ब्राह्मणपरिव्राजक, (१७) अरुण महासाल, (१८) तारायण, (१९) सातिपुत्र—शाक्यपुत्र बुद्ध, (२०) दीवायण—द्वैपायन, (२१) सोम, (२२) यम, (२३) वरुण, (२४) वैश्रमण।

इनमें से असित, मखलिपुत्त, जण्णवक्क, बाहुक, मातग, वायु, सातिपुत्र बुद्ध, सोम, यम, वरुण, वैश्रमण व दीवायण—इन नामों के विषय में थोडा-बहुत वर्णन उपलब्ध होता है। असित, बाहुक, द्वैपायन, मातग व वायु के नाम महाभारत आदि वैदिक ग्रथों में मिलते हैं तथा उनमे इनका कुछ वृत्तान्त भी आता है। मखलिपुत्त श्रमणपरम्परा के इतिहास मे गोशालक के नाम से प्रसिद्ध है। इसे जैन आगमो व बौद्ध पिटको मे मखलिपुत्त गोसाल कहा गया है। जण्णवक्क याज्ञवल्क्य ऋषि का नाम है जो विशेषत बृहदारण्यक उपनिषद् में प्रसिद्ध है। सातिपुत्त बुद्ध शाक्यपुत्र गौतम बुद्ध का नाम है।

प्राचीन व अर्वाचीन अनेक जैन ग्रथो मे मंखलिपुत्र गोशालक की खूब हँसी उडाई गई है। शाक्यमुनि बुद्ध का भी पर्याप्त परिहास किया गया है।

---

[1] अध्ययन २९ व ३१

इनमे जैनश्रुत के अतिरिक्त अन्य समस्त शास्त्रो को मिथ्या कहा गया है। जिनदेव के अतिरिक्त अन्य समस्त देवो को कुदेव तथा जैनमुनि के अतिरिक्त अन्य समस्त मुनियो को कुगुरु कहा गया है। जबकि ऋषिभाषित का सकलन करनेवालो ने जैनसम्प्रदाय के लिंग तथा कर्मकाण्ड से रहित मखलिपुत्र, बुद्ध, याज्ञवल्क्य आदि को 'अर्हत्' कहा है तथा उनके वचनो का सकलन किया है। यही नही, इस ग्रन्थ को आगमकोटि का माना है। तात्पर्य यह है कि जिनकी दृष्टि सम्यक् है उनके कैसे भी सादे वचन सम्यक्श्रुतरूप हैं तथा जिनकी दृष्टि शम सवेगादि गुणों से रहित है उनके भाषा, काव्य, रस व गुण की दृष्टि से श्रेष्ठतम वचन भी मिथ्याश्रुतरूप हैं। वेद, महाभारत आदि ग्रन्थो को मिथ्याश्रुतरूप मानने वाले आचार्यो के गुरुरूप भगवान् महावीर ने जब इन्द्रभूति (गौतम) आदि के साथ आत्मा आदि के सम्बन्ध मे चर्चा की तब वेद के पदो का अर्थ किस प्रकार करना चाहिए, यह उन्हें समझाया। वेद मिथ्या हैं ऐसा उन्होंने नहीं कहा। यह घटना विशेषावश्यकभाष्य के गणधरवाद नामक प्रकरण मे आज भी उपलब्ध है। भगवान् की इस प्रकार की समझाने की शैली सम्यग्दृष्टिसम्पन्न का श्रुत सम्यक्श्रुत है व सम्यग्दृष्टिहीन का श्रुत मिथ्याश्रुत है, इस तथ्य का समर्थन करती है।

आचार्य हरिभद्रसूरि अपने ग्रथ योगदृष्टिसमुच्चय मे लिखते हैं —

चित्रा तु देशनैतेषा स्याद् विनेयानुगुण्यत.।
यस्मात् एते महात्मानो भवव्याधिभिषग्वरा ॥
—श्लो० १३२.

एतेषा सर्वज्ञाना कपिलसुगतादीनाम्, स्यात् भवेत्, विनेयानुगुण्यत तथाविधशिष्यानुगुण्येन कालान्तरापापभीरुम् अधिकृत्य उपसर्जनीकृत·पर्याया द्रव्यप्रधाना नित्यदेशना, भोगावस्थावतस्तु अधिकृत्य उपसर्जनी·कृतद्रव्या पर्यायप्रधाना अनित्यदेशना। न तु ते अन्वयव्यतिरेकवद्वस्तु·वेदिनो न भवन्ति सर्वज्ञत्वानुपपत्ते। एव देशना तु तथागुणदर्शनेन (तद्गुणदर्शनेन) अदुष्टैव इत्याह—यस्मात् एते महात्मान सर्वज्ञा। किम्? इत्याह—भवव्याधिभिषग्वरा ससारव्याधिवैद्यप्रधाना।

अर्थात् कपिल, सुगत आदि महापुरुष सम्यग्दृष्टिसम्पन्न सर्वज्ञपुरुष हैं। ये सब प्रपच-रोगरूप ससार की विषम व्याधि के लिये श्रेष्ठ वैद्य के समान हैं।

इसी प्रकार उन्होंने एक जगह यह भी लिखा है —

सेयबरो य आसबरो य बुद्धो वा तह य अन्नो वा।
समभावभाविअप्पा लहइ मुक्ख न सदेहो॥

अर्थात् चाहे कोई श्वेताम्बर सम्प्रदाय का हो, चाहे दिगम्बर सम्प्रदाय का, चाहे कोई बौद्ध सम्प्रदाय का हो, चाहे किसी अन्य सम्प्रदाय का किन्तु जिसकी आत्मा समभावभावित है वह अवश्य मुक्त होगा, इसमें तनिक भी सन्देह नही।

उपाध्याय यशोविजयजी तथा महात्मा आनन्दघन जैसे साधक पुरुषो ने सम्यग्दृष्टि की उक्त व्याख्या का ही समर्थन किया है। आत्मशुद्धि की दृष्टि से सम्यक्श्रुत की यही व्याख्या विशेष रूप से आराधना की ओर ले जानेवाली है।

नदिसूत्रकार ने यह बताया है कि तीर्थंकरोपदिष्ट आचारांगादि बारह अंग भी सम्यग्दृष्टिसम्पन्न व्यक्तियो के लिए ही सम्यक्श्रुतरूप हैं। जो सम्यग्दृष्टि-रहित हैं उनके लिए वे मिथ्याश्रुतरूप हैं। साथ ही उन्होंने यह भी बताया है कि सागोपाग चार वेद, कपिल-दर्शन, महाभारत, रामायण, वैशेषिक शास्त्र, बुद्ध-वचन, व्याकरण-शास्त्र, नाटक तथा समस्त कलाएँ अर्थात् बहत्तर कलाएँ मिथ्यादृष्टि के लिए मिथ्याश्रुत एव सम्यग्दृष्टि के लिए सम्यक्श्रुत हैं। अथवा सम्यग्दृष्टि की प्राप्ति मे निमित्तरूप होने के कारण ये सब मिथ्यादृष्टि के लिये भी सम्यक्श्रुत हैं।

नदिसूत्रकार के इस कथन मे ऐसा कही नहीं बताया गया है कि अमुक शास्त्र अपने आप ही सम्यक् हैं अथवा अमुक शास्त्र अपने आप ही मिथ्या हैं। सम्यग्दृष्टि एव मिथ्यादृष्टि की अपेक्षा से ही शास्त्रों को सम्यक् एव मिथ्या कहा गया है। आचार्य हरिभद्रसूरि ने भी प्रकारान्तर से इसी बात का समर्थन किया है।

आचार्य हरिभद्र के लगभग दो सो वर्ष बाद होने वाले शीलांकाचार्य ने अपनी आचारांग-वृत्ति में जैनाभिमत क्रियाकाण्ड की समभावपूर्वक साधना करने की सूचना देते हुए लिखा है कि चाहे कोई मुनि दो वस्त्रधारी हो, तीन वस्त्रधारी हो, एक वस्त्रधारी हो अथवा एक भी वस्त्र न रखता हो अर्थात् अचेलक हो किन्तु जो एक-दूसरे की अवहेलना नहीं करते वे सब भगवान् की आज्ञा में विचरते हैं। सहनन, धृति आदि कारणों से जो भिन्न-भिन्न कल्प वाले हैं—भिन्न-भिन्न बाह्य आचार वाले हैं किन्तु एक दूसरे का अपमान नही करते, न अपने को हीन ही मानते हैं वे सब आत्मार्थी जिन भगवान् की आज्ञानुसार राग द्वेषादिक की परिणति का विनाश करने का यथाविधि प्रयत्न कर रहे हैं। इस प्रकार का विचार रखने व इसी

प्रकार परस्पर सविनय व्यवहार करने का नाम ही सम्यक्त्व अथवा सम्यक्त्व का अभिज्ञान है।[1]

सर्वज्ञ एवं सर्वदर्शी प्रणीत द्वादशांग गणिपिटक चतुर्दशपूर्वधर यावत् दशपूर्वधर के लिए सम्यक्श्रुतरूप है। इसके नीचे के किसी भी अधिकारी के लिए वह सम्यक्श्रुत हो भी सकता है और नहीं भी। अधिकारी के सम्यग्दृष्टिसम्पन्न होने पर उसके लिए वह सम्यक्श्रुत होता है व अधिकारी के मिथ्यादृष्टियुक्त होने पर उसके लिए वह मिथ्याश्रुत होता है।

नन्दिसूत्रकार के कथनानुसार अज्ञानियों अर्थात् मिथ्यादृष्टियों द्वारा प्रणीत वेद, महाभारत, रामायण, कपिलवचन, बुद्धवचन आदि शास्त्र मिथ्यादृष्टि के लिए मिथ्याश्रुतरूप व सम्यक्दृष्टि के लिए सम्यक्श्रुतरूप हैं। इन शास्त्रों में भी कई प्रसंग ऐसे आते हैं जिन्हें सोचने-समझने से कभी-कभी मिथ्यादृष्टि भी अपना दुराग्रह छोड़ कर सम्यग्दृष्टि हो सकता है।

---

[1] एतद्विषयक मूलपाठ व वृत्ति इस प्रकार है —

मूलपाठ

"जहेयं भगवया पवेइयं तमेव अभिसमिच्चा सव्वओ सव्वत्ताए सम्मत्तं (समत्तं) एव समभिजाणिज्जा"

—आचारांग, अ० ६, उ० ३, सू० १८२

वृत्ति

"यथा—येन प्रकारेण 'इदम्' इति यदुक्तम्, वक्ष्यमाणं च—एतद् भगवता वीरवर्धमानस्वामिना प्रकर्षेण आदौ वा वेदितम्—प्रवेदितम्—इति। उपकरणलाघवम् आहारलाघवं वा अभिसमेत्य—ज्ञात्वा कथम्? सर्वत इति द्रव्यतः क्षेत्रतः कालतः भावतश्च। द्रव्यतः आहार-उपकरणादौ, क्षेत्रतः सर्वत्र ग्रामादौ, कालतः अहनि रात्रौ वा दुर्भिक्षादौ वा सर्वात्मना भावतः कृत्रिमकल्काद्यभावेन। तथा सम्यक्त्वम्—इति प्रशस्तम् शोभनम् एकम् सगतं वा तत्त्वम् सम्यक्त्वम्, तदेवंभूतं सम्यक्त्वमेव समत्वमेव वा समभिजानीयात्—सम्यग् आभिमुख्येन जानीयात्—परिच्छिन्द्यात्। तथाहि—अचेल अपि एकचेलादिकं नाव मन्यते। यत उक्तम्—

जो वि दुवत्थ तिवत्थो एगेण अचेलगो व संथरइ।
ण हु ते हीलंति परं सव्वेऽवि य ते जिणाणाए॥
जे खलु विसरिसकप्पा संघयणधिइयादिकारणं पप्प।
णाऽवमन्नइ ण य हीणं अप्पाणं मन्नई तेहिं॥
सव्वेऽवि जिणाणाए जहाविहिं कम्मखवणअट्ठाए।
विहरंति उज्जया खलु सम्मं अभिजाणइ एव॥"

—आचारांग वृत्ति, पृ० २२२,

नन्दिसूत्रकार के सम्यक्श्रुतसम्बन्धी उपर्युक्त कथन मे पढने वाले, सुनने वाले अथवा समझने वाले की विवेकदृष्टि पर विशेष भार दिया गया है। तात्पर्य यह है कि जो सम्यक्दृष्टिसम्पन्न होता है उसके लिए प्रत्येक शास्त्र सम्यक् होता है। इससे विपरीत दृष्टि वाले के लिए प्रत्येक शास्त्र मिथ्या होता है। दूध सांप भी पीता है व सज्जन भी, किन्तु अपने-अपने स्वभाव के अनुसार उसका परिणाम विभिन्न होता है। सांप के शरीर मे वह दूध विष बनता है जब कि सज्जन के शरीर मे वही दूध अमृत बनता है। यही बात शास्त्रो के लिए भी है।

सम्यग्दृष्टि का अर्थ जैन एव मिथ्यादृष्टि का अर्थ अजैन नही है। जिसके चित्त में शम, सवेग, निर्वेद, करुणा व आस्तिक्य—इन पाच वृत्तियो का प्रादुर्भाव हुआ हो व आचरण भी तदनुसार हो वह सम्यग्दृष्टि है। जिसके चित्त मे इनमें से एक भी वृत्ति का प्रादुर्भाव न हुआ हो वह मिथ्यादृष्टि है। यह बात पारमार्थिक दृष्टि से जैनप्रवचन-सम्मत है।

सादिक, अनादिक, सपर्यवसित व अपर्यवसित श्रुत

आचार्य देववाचक ने नन्दिसूत्र में बताया है कि श्रुत आदिसहित भी है व आदिरहित भी। इसी प्रकार श्रुत अन्तयुक्त भी है व अन्तरहित भी। सादिक अर्थात् आदियुक्त श्रुत वह है जिसका प्रारभ अमुक समय मे हुआ हो। अनादिक अर्थात् आदिरहित श्रुत वह है जिसका प्रारभ करने वाला कोई न हो अर्थात् जो हमेशा से चला आता हो। सपर्यवसित अर्थात् सान्तश्रुत वह है जिसका अमुक समय अन्त अर्थात् विनाश हो जाता है। अपर्यवसित अर्थात् अनन्तश्रुत वह है जिसका कभी अन्त—विनाश न होता हो।

भारत मे सबसे प्राचीन शास्त्र वेद और अवेस्ता हैं। वेदो के विषय में मीमासको का ऐसा मत है कि उन्हे किसी ने बनाया नहीं अपितु वे अनादि काल से इसी प्रकार चले आ रहे हैं। अत वे स्वत प्रमाणभूत हैं अर्थात् उनकी सचाई किसी व्यक्तिविशेष के गुणो पर अवलम्बित नही है। अमुक पुरुष ने वेद बनाये हैं तथा वह पुरुष वीतराग है, सर्वज्ञ है, अनन्तज्ञानी है अथवा गुणो का सागर है इसलिए वेद प्रमाणभूत हैं, यह बात नहीं है। वेद अपौरुषेय हैं अर्थात् किसी पुरुषविशेषद्वारा प्रणीत नही हैं। इसी प्रकार अमुक काल मे उनकी उत्पत्ति हुई हो, यह बात भी नही है। इसीलिए वे अनादि हैं। अनादि होने के कारण ही वे प्रमाणभूत हैं। वेदो की रचना में अनेक प्रकार के शब्द प्रयुक्त हुए हैं। जिस प्रकार इनमे आर्य शब्द हैं उसी प्रकार अनार्य शब्द भी हैं।

जो इन दोनो प्रकार के शब्दो का अर्थ ठीक-ठीक जानता व समझता है वही वेदो का अर्थ ठीक-ठीक समझ सकता है। वेद तो हमारे पास परम्परा से चले आते हैं किन्तु उनमे जो अनार्य शब्द प्रयुक्त हुए हैं उनकी विशेष जानकारी हमे नहीं है। ऐसी स्थिति में उनका समग्र अर्थ किस प्रकार समझा जा सकता है? यही कारण है कि आज तक कोई भारतीय सशोधक सर्वथा तटस्थ रहकर तत्कालीन समाज व भाषा को दृष्टि मे रखते हुए वेदो का निष्पक्ष विवेचन न कर सका।

यद्यपि प्राचीन समय में उपलब्ध साधन, परम्परा, गभीर अध्ययन आदि का अवलम्बन लेकर महर्षि यास्क ने वेदो के कई शब्दो का निर्वचन करने का उत्तम प्रयास किया है किन्तु उनका यह प्रयास वर्तमान मे वेदो को तत्कालीन वातावरण की दृष्टि से समझने में पूर्णरूप से सहायक होता दिखाई नही देता। उन्होंने निरुक्त बनाया है किन्तु वह वेदो के समस्त परिचित अथवा अपरिचित शब्दो तक नही पहुँच सका। यास्क के समय के वातावरण व पुरोहितो की साम्प्रदायिक मनोवृत्ति को देखते हुए ऐसा प्रतीत होता है कि कदाचित् यास्क की इस प्रवृत्ति का विरोध भी हुआ हो। पुरोहितवर्ग की यही मान्यता थी कि वेद अलौकिक हैं—अपौरुषेय हैं अत उनमें प्रयुक्त शब्दो का अर्थ अथवा निर्वचन लौकिक रीति से लौकिक शब्दो द्वारा मनुष्य कैसे कर सकता है? इस प्रकार की वेद-रक्षको की मनोवृत्ति होने के कारण भी सभवत यास्क इस कार्य को सम्पूर्णतया न कर सके हो। इस निरुक्त के अतिरिक्त वेदो के शब्दो को तत्कालीन अर्थ-सदर्भ मे समझने का कोई भी साधन न पहले था और न अभी है। सायण नामक विद्वान् ने वेदो पर जो भाष्य लिखा है वह वैदिक शब्दो को तत्कालीन वातावरण एव सदर्भ की दृष्टि से समझाने में असमर्थ है। ये अर्वाचीन भाष्यकार हैं। इन्होने अपनी अर्वाचीन परम्परा के अनुसार वेदों की ऋचाओ का मुख्यत यज्ञपरक अर्थ किया है। यह अर्थ ऐतिहासिक तथा प्राचीन वेदकालीन समाज की दृष्टि से ठीक है या नही, इसका वर्तमान सशोधको को विश्वास नहीं होता। अत यह कहा जा सकता है कि आज तक वेदो का ठीक-ठीक अर्थ हमारे सामने न आ सका। स्वामी दयानन्द ने वेदो पर एक नया भाष्य लिखा है किन्तु वह भी वेदकालीन प्राचीन वातावरण व सामाजिक परिस्थिति को पूर्णतया समझाने में असमर्थ ही है।

वेदाभ्यासी स्वर्गीय लोकमान्य तिलक ने अपनी 'ओरायन' नामक पुस्तक में लिखा है कि अवेस्ता की कुछ कथाए वेदो के समझने में सहायक होती हैं।

जो इन दोनो प्रकार के शब्दो का अर्थ ठीक-ठीक जानता व समझता है वही वेदो का अर्थ ठीक-ठीक समझ सकता है। वेद तो हमारे पास परम्परा से चले आते हैं किन्तु उनमें जो अनार्य शब्द प्रयुक्त हुए है उनकी विशेष जानकारी हमें नहीं है। ऐसी स्थिति में उनका समग्र अर्थ किस प्रकार समझा जा सकता है? यही कारण है कि आज तक कोई भारतीय सशोधक सर्वथा तटस्थ रहकर तत्कालीन समाज व भाषा को दृष्टि में रखते हुए वेदो का निष्पक्ष विवेचन न कर सका।

यद्यपि प्राचीन समय मे उपलब्ध साधन, परम्परा, गभीर अध्ययन आदि का अवलम्बन लेकर महर्षि यास्क ने वेदो के कई शब्दो का निर्वचन करने का उत्तम प्रयास किया है किन्तु उनका यह प्रयास वर्तमान मे वेदो को तत्कालीन वातावरण की दृष्टि से समझने में पूर्णरूप से सहायक होता दिखाई नही देता। उन्होने निरुक्त बनाया है किन्तु वह वेदो के समस्त परिचित अथवा अपरिचित शब्दों तक नही पहुँच सका। यास्क के समय के वातावरण व पुरोहितो की साम्प्रदायिक मनोवृत्ति को देखते हुए ऐसा प्रतीत होता है कि कदाचित् यास्क की इस प्रवृत्ति का विरोध भी हुआ हो। पुरोहितवर्ग की यही मान्यता थी कि वेद अलोकिक हैं—अपौरुषेय हैं अत उनमें प्रयुक्त शब्दो का अर्थ अथवा निर्वचन लौकिक रीति से लौकिक शब्दो द्वारा मनुष्य कैसे कर सकता है? इस प्रकार की वेद-रक्षको की मनोवृत्ति होने के कारण भी सभवत यास्क इस कार्य को सम्पूर्णतया न कर सके हो। इस निरुक्त के अतिरिक्त वेदो के शब्दो को तत्कालीन अर्थ-सदर्भ मे समझने का कोई भी साधन न पहले था और न अभी है। सायण नामक विद्वान् ने वेदो पर जो भाष्य लिखा है वह वैदिक शब्दो को तत्कालीन वातावरण एवं सदर्भ की दृष्टि से समझाने मे असमथ है। ये अर्वाचीन भाष्यकार हैं। इन्होने अपनी अर्वाचीन परम्परा के अनुसार वेदो की ऋचाओ का मुख्यत यज्ञपरक अर्थ किया है। यह अथ ऐतिहासिक तथा प्राचीन वेदकालीन समाज की दृष्टि से ठीक है या नही, इसका वर्तमान सशोधको को विश्वास नही होता। अत यह कहा जा सकता है कि आज तक वेदो का ठीक-ठीक अर्थ हमारे सामने न आ सका। स्वामी दयानन्द ने वेदो पर एक नया भाष्य लिखा है किन्तु वह भी वेदकालीन प्राचीन वातावरण व सामाजिक परिस्थिति को पूर्णतया समझाने में असमर्थ ही है।

वेदाभ्यासी स्वर्गीय लोकमान्य तिलक ने अपनी 'ओरायन' नामक पुस्तक में लिखा है कि अवेस्ता की कुछ कथाए वेदो के समझने मे सहायक होती हैं।

कुछ सशोधक विद्वान् वेदो को ठीक-ठीक समझने के लिए जंद, अवेस्ता-गाथा तथा वेदकालीन अन्य साहित्य के अभ्यासपूर्ण मनन, चिन्तन आदि पर भार देते हैं। दुर्भाग्यवश कुछ धर्मान्ध राजाओ ने जद, अवेस्ता-गाथा आदि साहित्य को ही नष्ट कर डाला है। वर्तमान मे जो कुछ भी थोडा-बहुत साहित्य उपलब्ध है उसे सही-सही अर्थ मे समझने की परम्परा अवेस्तागाथा को प्रमाणरूप मानने वाले पारसी अध्वर्यु के पास भी नही है और न उस शास्त्र के प्रकाण्ड पण्डित ही विद्यमान हैं। ऐसी स्थिति मे वेदो के अध्ययन मे रत किसी भी सशोधक विद्वान् को निराशा होना स्वाभाविक ही है।

प्राचीन काल में शास्त्र के प्रामाण्य के लिए अपौरुषेयता एव अलौकिकता आवश्यक मानी जाती। जो शास्त्र नया होता व किसी पुरुष ने उसे अमुक समय बनाया होता उसकी प्रतिष्ठा अलौकिक तथा अपौरुषेय शास्त्र की अपेक्षा कम होती। सभवत इसीलिए वेदो को अलौकिक एव अपौरुषेय मानने की प्रथा चालू हुई हो। जब चिन्तन बढने लगा, तर्कशक्ति का प्रयोग अधिक होने लगा एव हिंसा, मद्यपान आदि से जनता की बरबादी बढने लगी तब वैदिक अनुष्ठानो एव वेदो के प्रामाण्य पर भारी प्रहार होने लगे। यहा तक कि उपनिषद् के चिन्तको एव साख्यदर्शन के प्रणेता कपिल मुनि ने इसका भारी विरोध किया एव वेदोक्त हिंसक अनुष्ठानो का अग्राह्यत्व सिद्ध किया। उसे प्रकाश का मार्ग न कहते हुए धूम का मार्ग कहा। गीता मे भी भगवान् कृष्ण ने 'यामिमा पुष्पिता वाच प्रवदन्त्य-विपश्चित' से प्रारम्भ कर 'त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवाऽर्जुन'[1] तक के वचनो मे इसी का समर्थन किया। द्रव्यमय यज्ञ की अपेक्षा ज्ञानमय व तपोमय यज्ञ की महिमा बताई एव समाज को आत्मशोधक यज्ञो की ओर मोडने का भरसक प्रयत्न किया। अनासक्त कर्म करते रहने की अत्युत्तम प्रेरणा देकर भारतीय त्यागी वर्ग को अपूर्व शिक्षा दी। जैन एव बौद्ध चिन्तको ने तप, शम, दम इत्यादि की साधना कर हिंसा विधायक वेदो के प्रामाण्य का ही विरोध किया एव उनकी अपौरुषेयता तथा नित्यता का उन्मूलन कर उनके प्रामाण्य को सन्देहयुक्त बना दिया।

प्रामाण्य की विचारधारा में क्रान्ति के बीज बोने वाले जैन एव बौद्ध चिन्तको ने कहा कि शास्त्र, वचन अथवा ज्ञान स्वतन्त्र नही है—स्वयभू नही है अपितु वक्ता की वचनरूप अथवा विचारणारूप क्रिया के साथ सम्बद्ध है। लेखक अथवा

---

[1] अध्याय २, श्लोक ४२-४५

वक्ता यदि निस्पृह है, करुणापूर्ण है, शम दमयुक्त है, समस्त प्राणियो को आत्मवत् समझने वाला है, जितेन्द्रिय है, लोगो के आध्यात्मिक क्लेशो को दूर करने में समर्थ है, असाधारण प्रतिभासम्पन्न विचारधारा वाला है तो तत्प्रणीत शास्त्र अथवा वचन भी सर्वजनहितकर होता है। उसके उपर्युक्त गुणो से विपरीत गुणयुक्त होने पर तत्प्रणीत शास्त्र अथवा वचन सर्वजनहितकर नही होता। अतएव शास्त्र, वचन अथवा ज्ञान का प्रामाण्य तदाधारभूत पुरुष पर अवलम्बित है। जो शास्त्र अथवा वचन अनादि माने जाते हैं, नित्य माने जाते हैं अथवा अपौरुषेय माने जाते हैं उनकी भी उपर्युक्त ढग से परीक्षा किए बिना उनके प्रामाण्य के विषय मे कुछ नहीं कहा जा सकता।

जैनो ने यह भी स्वीकार किया कि शास्त्र, वचन अथवा ज्ञान अनादि, नित्य अथवा अपौरुषेय अवश्य हो सकता है किन्तु वह प्रवाह—परम्परा की अपेक्षा से, न कि किसी विशेष शास्त्र, वचन अथवा ज्ञान की अपेक्षा से। प्रवाह की अपेक्षा से ज्ञान, वचन अथवा शास्त्र भले ही अनादि, अपौरुषेय अथवा नित्य हो किन्तु उसका *प्रामाण्य केवल अनादिता पर निर्भर नहीं है। जिस शास्त्रविशेष का जिस व्यक्ति-* विशेष से सम्बन्ध हो उस व्यक्ति की परीक्षा पर ही उस शास्त्र का प्रामाण्य निर्भर है। जैनो ने अपने देश मे अवश्य ही इस प्रकार का एक नया विचार शुरू किया है, यह कहना अतिशयोक्तिपूर्ण न होगा।

गीतोपदेशक भगवान् कृष्ण ने व साख्य दर्शन के प्रवर्तक क्रान्तिकारी कपिलमुनि ने वेदो के हिंसामय अनुष्ठानो को हानिकारक बताते हुए लोगो को वेद विमुख होने के लिये प्रेरित किया। जिस युग में वेदो की प्रतिष्ठा दृढमूल थी एव समाज उनके प्रति इतना अधिक आसक्त था कि उनसे जरा भी अलग होना नही चाहता था उस युग मे परमात्मा कृष्ण एव परम आत्मार्थी कपिल मुनि ने वेदो की प्रतिष्ठा पर सीधा आघात करने के बजाय अनासक्त कर्म करने की प्रेरणा देकर स्वर्गकामनामूलक यज्ञो पर कुठाराघात किया एव धर्म के नाम पर चलने वाले हिंसामय व मद्यप्रधान यज्ञादिक कर्मकाण्डो के मार्ग को धूममार्ग कहा। इतना ही नहीं, उपनिषद्कारो ने तो यज्ञ कराने वाले ऋत्विजो को डाकुओ एव लुटेरो की उपमा दी व लोगो को उनका विश्वास न करने की सलाह दी। फिर भी इनमें से किसी ने वेदो के निरपेक्ष—सर्वथा अप्रामाण्य की घोषणा की हो, ऐसा कोई प्रमाण उपलब्ध नही है।

धीरे-धीरे जब वैदिक पुरोहितो का जोर कम पडने लगा, क्षत्रियों में भी क्रान्तिकारक पुरुष पैदा होने लगे, गुरुपद पर क्षत्रिय आने लगे एवं समाज की श्रद्धा वेदो से हटने लगी तब जैनो एव बौद्धों ने भारी जोखिम उठा कर भी वेदो के अप्रामाण्य की घोषणा की।[1] वेदो के अप्रामाण्य की घोषणा करने के साथ ही जैनो ने प्रणेताओ की परिस्थिति, जीवनदृष्टि एव अन्तर्वृत्ति को प्रामाण्य का हेतु मानने की अर्थात् वक्ता अथवा ज्ञाता के आन्तरिक गुण-दोषो के आधार पर उसके वचन अथवा ज्ञान के प्रामाण्य-अप्रामाण्य का निश्चय करने की नयी प्रणाली प्रारम्भ की। यह प्रणाली स्वत प्रामाण्य मानने वालो की पुरानी चली आने वाली परम्परा के लिए सर्वथा नयी थी। यहा श्रुत के विषय मे जो अनादित्व एव नित्यत्व की कल्पना की गई है वह स्वत प्रामाण्य मानने वालो की प्राचीन परम्परा को लक्ष्य में रख कर की गई है। साथ ही श्रुत का जो आदित्व, अनित्यत्व अथवा पौरुषेयत्व स्वीकार किया गया है वह लोगो की परीक्षणशक्ति, विवेकशक्ति तथा सशोधनशक्ति को जाग्रत् करने की दृष्टि से ही, जिससे कोई आत्मार्थी 'तातस्य कूपोऽयमिति ब्रुवाण' यो कह कर पिता के कुए में न गिरे अपितु होकर पैर आगे बढाए।

अनेकान्तवाद, विभज्यवाद अथवा स्याद्वाद की समन्वय-दृष्टि के अनुसार जैन चल सकने योग्य प्राचीन विचारधारा को ठेस पहुँचाना नही चाहते। वे यह भी नही चाहते कि प्राचीन विचारसरणी के नाम पर वहम, अज्ञान अथवा जडता का पोषण हो। इसीलिए वे पहले से ही प्राचीन विचारधारा को सुरक्षित रखते हुए क्रान्ति के नये विचार प्रस्तुत करने में लगे हुए हैं। यही कारण है कि उन्होने श्रुत को अपेक्षाभेद से नित्य व अनित्य दोनो माना है।

श्रुत सादि अर्थात् आदियुक्त है, इसका तात्पर्य यह है कि शास्त्र में नित्य नई-नई शोधो का समावेश होता ही रहता है। श्रुत अनादि अर्थात् आदिरहित है, इसका तात्पर्य यह है कि नई-नई शोधो का प्रवाह निरन्तर चलता ही रहता है। यह प्रवाह कब व कहा से शुरू हुआ, इसके विषय मे कोई निश्चित कल्पना नही की जा सकती। इसीलिए उसे अनादि अथवा नित्य कहना ही उचित है। इस नित्य का यह अर्थ नहीं कि अब इसमें कोई नई शोध हो ही नहीं सकती। इसीलिए शास्त्रकारो ने श्रुत को नित्य अथवा अनादि के साथ ही साथ अनित्य अथवा सादि भी कहा है। इस प्रकार गहराई से विचार करने पर मालूम होगा कि कोई

[1] देखिये—महावीर-वाणी की प्रस्तावना

भी शास्त्र किसी भी समय अक्षरश वेसा का वैसा ही नहीं रहता। उसमें परिवर्तन होते ही रहते हैं। नये-नये सशोधन सामने आते ही रहते हैं। वह नित्य नया-नया होता रहता है।

यह कहा जा चुका है कि हमारे देश के प्राचीनतम शास्त्र वेद और अवेस्ता हैं। इसके बाद ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद् व जैनसूत्र तथा बौद्धपिटक हैं। इनके बाद हैं दर्शनशास्त्र। इनमे सशोधन का प्रवाह सतत चला आता है। अवेस्ता अथवा वद तथा ब्राह्मणो के काल में जो अनुष्ठान परम्परा स्वर्गप्राप्ति का साधन मानी जाती थी वह उपनिषद् आदि के समय मे परिवर्तित होने लगी व धीरे-धीरे निन्दनीय मानी जाने लगी।

उपनिषदा के विचारक कहने लगे कि ये यज्ञ टूटी हुई नाव के समान हैं। जो लोग इन यज्ञो पर विश्वास रखते हैं वे बार-बार जन्म मरण प्राप्त करते रहते हैं।[1] इन यज्ञो पर विश्वास रखाने वाले व रखने वाले लोगो की स्थिति अधे के नेतृत्व मे चलने वाले अधो के समान होती है। वे अविद्या मे निमग्न रहते हैं, अपने-आप को पंडित समझते है एव जन्म-मरण के चक्कर मे घूमते रहते हैं।[2]

ये विचारक इतना ही कहकर चुप न हुए। उन्होने यहाँ तक कहा कि जिस प्रकार निषाद व लुटेरे धनिको को जगल मे लेजाकर पकडकर गड्ढे में फेंक देते हैं एव उनका धन लूट लेते हैं उसी प्रकार ऋत्विज् व पुरोहित यजमानो को गड्ढे में फेंक कर (यज्ञादि द्वारा) उनका धन लूट लेते हैं।[3] इन उल्लेखो से स्पष्ट है कि शास्त्रो का विकास निरन्तर होता आया है। जो पद्धतिया पुरानी हो गईं एवं नये युग व नये सशोधनो के अनुकूल न रही वे मिटती गईं तथा उनके बजाय नवयुगानुकूल नवीन पद्धतिया व नये विचार आते गये।

जैन परम्परा मे भी यह प्रसिद्ध है कि अर्हत् पार्श्व के समय में सवस्त्र श्रमणा की परम्परा थी एव चातुर्याम धर्म था। भगवान् महावीर के समय में नया

---

[1] प्लवा ह्येते अदृढा यज्ञरूपा एतच्छ्रेयो येऽभिनन्दन्ति मूढा जरामृत्युं ते पुनरेवापि यन्ति।
—मुण्डकोपनि० १ २ ७

[2] अविद्यायामन्तरे वर्तमाना स्वय धीरा पण्डितमन्यमाना।
दन्द्रम्यमाणा परियन्ति मूढा अन्धेनैव नीयमाना यथाऽन्धा ॥
—कठोपनि० १ २ ५

[3] यथाह वा इदं निषादा वा सेलगा वा पापकृतो वा वित्तवन्त पुरुषमरण्ये गृहीत्वा कर्तमन्वस्य वित्तमादाय द्रवन्ति, एवमेव ते ऋत्विजो यजमान कर्तमन्वस्य वित्तमादाय द्रवन्ति यमेवंविदो याजयन्ति।
—ऐतरेय ब्राह्मण, ८ ११

इस गाथा की वृत्ति मे बताया गया है कि विविध प्रकार के भगो—विकल्पों का नाम 'गम' है। अथवा गणित—विशेष प्रकार की गणित की चर्चा का नाम 'गम' है। इस प्रकार के 'गम' जिस सूत्र मे हो वह गमिकश्रुत कहलाता है। अथवा सदृश पाठो को 'गम' कहते हैं। जिस सूत्र मे कारणवशात् सदृश पाठ आते हो वह गमिक कहलाता है।[1] समवायाग की वृत्ति मे अर्थपरिच्छेदो को 'गम' कहा गया है। नन्दिसूत्र की वृत्ति में भी 'गम' का अर्थ अर्थपरिच्छेद ही बताया है। श्रुत अर्थात् सूत्र के प्रत्येक वाक्य मे से मेधावी शिष्य जो विशिष्ट अर्थ प्राप्त करते हैं उसे अर्थपरिच्छेद कहते हैं। इस प्रकार जिस श्रुत मे 'गम' आते हो उसका नाम गमिकश्रुत एव जिसमे 'गम' न आते हों उसका नाम अगमिकश्रुत है।

उदाहरण के तौर पर वर्तमान आचाराग आदि एकादशागरूप कालिक सूत्र[2] अगमिकश्रुतान्तर्गत हैं[3] जबकि बारहवा अग दृष्टिवाद (लुप्त) गमिकश्रुत है।

सारा श्रुत एक समान है, समानविषयो की चर्चा वाला है एव उसके प्रणेता आत्मार्थी त्यागी मुनि हैं। ऐसा होते हुए भी अमुक सूत्र अगरूप हैं एव अमुक अगबाह्य, ऐसा क्यों ? 'अग' शब्द का अर्थ है मुख्य एव 'अगबाह्य' का अर्थ है गौण। जिस प्रकार वेदरूप पुरुष के छन्द, ज्योतिष आदि छ अगों की कल्पना अति प्राचीन है उसी प्रकार श्रुत अर्थात् गणिपिटकरूप पुरुष के द्वादशागो की कल्पना भी प्राचीन है। पुरुष के बारह अंग कौन-कौन-से हैं, इसका निर्देश करते हुए कहा गया है —

पायदुग जघा उरू गायदुगद्ध तु दो य बाहू य।
गीवा सिरं च पुरिसो बारसअगो सुयविसिट्ठो॥

—नदिवृत्ति, पृ० २०२.

इस गाथा का स्पष्टीकरण करते हुए वृत्तिकार लिखते हैं —'इह पुरुषस्य द्वादश अङ्गानि भवन्ति तद्यथा—द्वौ पादौ, द्वे जङ्घे, द्वे उरुणी, द्वे गात्रार्धे, द्वौ बाहू, ग्रीवा, शिरश्च, एव श्रुतरूपस्य अपि परमपुरुषस्य

---

[1] गमा सदृशपाठा ते च कारणवशेन यत्र बहवो भवन्ति तद् गमिकम्।

[2] जो दिवस एवं रात्रि के प्रथम तथा अन्तिम प्रहररूप काल में पढे जाते हैं वे कालिक कहलाते हैं।

[3] तच्च प्राय आचारादि कालिकश्रुतम्, असदृशपाठात्मकत्वात्।

—मलयगिरिकृत नदिवृत्ति

आचारादीनि द्वादशअङ्गानि क्रमेण वेदितव्यानि . . श्रुतपुरुषस्य अगेपु प्रविष्टम्—अंगभावेन 'व्यवस्थितमित्यर्थ । यत् पुनरेतस्यैव द्वादशाङ्गात्मकस्य श्रुतपुरुषस्य व्यतिरेकेण स्थितम्—अगबाह्यत्वेन व्यवस्थित तद् अनङ्गप्रविष्टम् ।'

इस प्रकार वृत्तिकार के कथनानुसार श्रुतरूप परमपुरुष के आचारादि बारह अगों को निम्न क्रम से समझा जा सकता है .—

आचार व सूत्रकृत श्रुतपुरुष के दो पैर हैं, स्थान व समवाय दो जघाएँ हैं, व्याख्याप्रज्ञप्ति व ज्ञाताधर्मकथा दो घुटने हैं, उपासक व अतकृत दो गात्रार्ध हैं (शरीर का ऊपरी एव नीचे का भाग अथवा अगला (पेट आदि) एव पिछला (पीठ आदि) भाग गात्रार्ध कहलाता है), अनुत्तरौपपातिक व प्रश्नव्याकरण दो बाहुएँ हैं, विपाकसूत्र ग्रीवा—गरदन है तथा दृष्टिवाद मस्तक है ।

तात्पर्य यह है कि आचारादि बारह अग जैनश्रुत में प्रधान हैं, विशेष प्रतिष्ठित हैं एव विशेष प्रामाण्ययुक्त हैं तथा मूल उपदेष्टा के आशय के अधिक निकट हैं जबकि अनग अर्थात् अगबाह्य सूत्र अगों की अपेक्षा गौण हैं, कम प्रतिष्ठा वाले हैं एव अल्प प्रामाण्ययुक्त हैं तथा मूल उपदेष्टा के प्रधान आशय के कम निकट हैं ।

विशेषावश्यकभाष्यकार जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण अग-अनग की विशेषता बताते हुए कहते हैं .—

गणहर-थेरकय वा आएसा मुक्कवागरणओ वा ।
धुव-चलविसेसओ वा अंगाणगेसु नाणत्त ॥ ५५० ॥

अगश्रुत का सीधा सम्बन्ध गणधरो से है जबकि अनग—अगबाह्यश्रुत का सीधा सम्बन्ध स्थविरों से है । अथवा गणधरो के पूछने पर तीर्थंकर ने जो बताया वह अगश्रुत है एव बिना पूछे अपने-आप बताया हुआ श्रुत अगबाह्य है । अथवा जो श्रुत सदा एकरूप है वह अगश्रुत है तथा जो श्रुत परिवर्तित अर्थात् न्यूनाधिक होता रहता है वह अगबाह्यश्रुत है । इस प्रकार स्वय भाष्यकार ने भी अगबाह्य की अपेक्षा अगश्रुत की प्रतिष्ठा कुछ विशेष ही बताई है ।

ऐसा प्रतीत होता है कि जिस समय श्रमणसघ में किस शास्त्र को विशेष महत्त्व दिया जाय व किस शास्त्र को विशेष महत्त्व न दिया जाय, यह प्रश्न उठा तब उसके समाधान के लिए समन्वयप्रिय आगमिक भाष्यकार ने एक साथ उपर्युक्त तीन विशेषताएं बताकर समस्त शास्त्रो को एव उन शास्त्रों को मानने वालों को

प्रतिष्ठा सुरक्षित रखी। ऐसा होते हुए भी अग एव अगबाह्य का भेद तो बना ही रहा एव अगबाह्य सूत्रो की अपेक्षा अगो की प्रतिष्ठा भी विशेष ही रही।

वर्तमान में जो अग एव उपागरूप भेद प्रचलित है वह अति प्राचीन नही है। यद्यपि 'उपाग' शब्द चूर्णियो एव तत्त्वार्थभाष्य जितना प्राचीन है तथापि अमुक अग का अमुक उपाग है, ऐसा भेद उतना प्राचीन प्रतीत नहीं होता। यदि अगोपागरूप भेद विशेष प्राचीन होता तो नदीसूत्र में इसका उल्लेख अवश्य मिलता। इससे स्पष्ट है कि नन्दी के समय में श्रुत का अंग व उपागरूप भेद करने की प्रथा न थी अपितु अग व अनग अर्थात् अगप्रविष्ट व अगबाह्यरूप भेद करने की परिपाटी थी। इतना ही नहीं, नदीसूत्रकार ने तो वर्तमान मे प्रचलित समस्त उपागो को 'प्रकीर्णक' शब्द से भी सम्बोधित किया है।

उपागो के वर्तमान क्रम मे पहले औपपातिक आता है, बाद मे राजप्रश्नीय आदि, जबकि तत्त्वार्थवृत्तिकार हरिभद्रसूरि तथा सिद्धसेनसूरि के उल्लेखानुसार (अ० १, सू० २०) पहले राजप्रसेनकीय (वर्तमान राजप्रश्नीय) व बाद में औपपातिक आदि आते हैं। इससे प्रतीत होता है कि इस समय तक उपागो का वर्तमान क्रम निश्चित नही हुआ था।

नदीसूत्र मे निर्दिष्ट अगबाह्य कालिक एव उत्कालिक शास्त्रों मे वर्तमान मे प्रचलित उपागरूप समस्त ग्रंथो का समावेश किया गया है। कुछ उपाग कालिक श्रुतान्तर्गत हैं व कुछ उत्कालिक श्रुतान्तर्गत।

उपागो के क्रम के विषय में विचार करने पर मालूम होता है कि यह क्रम अगो के क्रम से सम्बद्ध नही है। जो विषय अग में हो उसीसे सम्बन्धित विषय उसके उपाग में भी हो तो उस अग और उपाग का पारस्परिक सम्बन्ध बैठ सकता है। किन्तु बात ऐसी नहीं है। षष्ठ अंग ज्ञाताधर्मकथा का उपाग जम्बूद्वीप-प्रज्ञप्ति कहा जाता है एव सप्तम अग उपासकदशा का उपाग चद्रप्रज्ञप्ति कहा जाता है जबकि इनके विषयो में कोई समानता अथवा सामजस्य नहीं है। यही बात अन्य अगोपागो के विषय में भी कही जा सकती है। इस प्रकार बारह अगों का उनके उपागो के साथ कोई विषयैक्य प्रतीत नहीं होता।

एक बात यह है कि उपाग व अगबाह्य इन दोनो शब्दो के अर्थ में बडा अन्तर है। अगबाह्य शब्द से ऐसा आभास होता है कि इन सूत्रो का सम्बन्ध अगो के साथ नही है अथवा बहुत कम है जब कि उपाग शब्द अंगो के साथ सीधा सम्बद्ध है। ऐसा प्रतीत होता है कि अगबाह्यों की प्रतिष्ठा बढ़ाने के लिये

अथवा अग के समकक्ष उनके प्रामाण्यस्थापन की आवश्यकता को ध्यान मे रखते हुए किसी गीतार्थ ने इन्हे उपाग नाम से सबोधित करना प्रारभ किया होगा।

दूसरी बात यह है कि अगो के साथ सम्बन्ध रखने वाले दशवैकालिक, उत्तराध्ययन आदि सूत्रो को उपागो में न रख कर औपपातिक से उपागों की शुरुआत करने का कोई कारण भी नहीं दिया गया है। सभव है कि दशवैकालिक आदि विशेष प्राचीन होने के कारण अगबाह्य होते हुए भी प्रामाण्ययुक्त रहे हो एव औपपातिक आदि के विषय मे एतद्विषयक कोई विवाद खडा हुआ हो और इसीलिए इन्हे उपाग के रूप मे माना जाने लगा हो।

एक बात यह भी है कि ये औपपातिक, राजप्रश्नीय, जीवाभिगम, प्रज्ञापना आदि ग्रथ देवर्धिगणिक्षमाश्रमण के सम्मुख थे ही और इसीलिए उन्होंने अगसूत्रो मे जहा तहा 'जहा उववाइए, जहा पन्नवणाए, जहा जीवाभिगमे' इत्यादि पाठ दिये हैं। ऐसा होते हुए भी 'जहा उववाइअ-उवागे, जहा पन्नवणाउवागे' इस प्रकार 'उपाग' शब्दयुक्त कोई पाठ नहीं मिलता। इससे अनुमान होता है कि कदाचित् देवर्धिगणिक्षमाश्रमण के बाद ही इन ग्रन्थो को उपाग कहने का प्रयत्न हुआ हो। श्रुत का यह सामान्य परिचय प्रस्तुत प्रयोजन के लिए पर्याप्त है।

प्रकरण २

अंगग्रंथों बाह्य परिचय

आगमो की ग्रथबद्धता

अचेलक परम्परा मे अगविषयक उल्लेख

अंगो का बाह्य रूप

नाम-निर्देश

आचारादि अगो के नामो का अर्थ

अगो का पद-परिमाण

पद का अर्थ

अगों का क्रम

अगों की शैली व भाषा

प्रकरणो का विषयनिर्देश

परम्परा का आधार

परमतों का उल्लेख

विषय-वैविध्य

जैन परम्परा का लक्ष्य

द्वितीय प्रकरण

अंगग्रन्थों का बा परिचय

सर्वप्रथम अगग्रथो के बाह्य तथा अतरग परिचय से क्या अभिप्रेत है, यह स्पष्टीकरण आवश्यक है। अगो के नामो का अर्थ, अगो का पदपरिमाण अथवा श्लोकपरिमाण, अगो का क्रम, अंगों की शैली तथा भाषा, प्रकरणो का विषयनिर्देश, विषयविवेचन की पद्धति, वाचनावैविध्य इत्यादि की समीक्षा बाह्य परिचय में रखी गई है। अगों मे चर्चित स्वसिद्धान्त तथा परसिद्धान्तसम्बन्धी तथ्य, उनकी विशेष समीक्षा, उनका पृथक्करण, तन्निष्पन्न ऐतिहासिक अनुसधान, तदन्तर्गत विशिष्ट शब्दो का विवेचन इत्यादि बातें अतरग परिचय में समाविष्ट हैं।

आगमों की ग्रन्थबद्धता

जैनसघ की मुख्य दो परम्पराए हैं अचेलक परम्परा व सचेलक परम्परा[1]। दोनों परम्पराएँ यह मानती हैं कि आगमों के अध्ययन अध्यापन की परम्परा अखण्ड रूप में कायम न रही। दुष्काल आदि के कारण आगम अक्षरश सुरक्षित न रखे जा सके। आगमों मे वाचनाभेद—पाठभेद बराबर बढ़ते गये। सचेलक

[1] यहाँ अचेलक शब्द दिगम्बरपरपरा के लिए और सचेलक शब्द श्वेताम्बरपरंपरा के लिए प्रयुक्त है। ये ही प्राचीन शब्द हैं जिनसे इन दोनों परपराओं का प्राचीन काल में बोध होता था।

परम्परा द्वारा मान्य आगमो को जब पुस्तकारूढ किया गया तब श्रमणसंघ ने एकत्र होकर जो माथुरी वाचना मान्य रखी वह ग्रन्थबद्ध की गई, साथ ही उपर्युक्त वाचनाभेद अथवा पाठभेद भी लिखे गये। अचेलक परम्परा के आचार्य धरसेन, यतिवृषभ, कुदकुद, भट्ट अकलक आदि ने इन पुस्तकारूढ आगमो अथवा इनसे पूर्व के उपलब्ध आगमो के आशय को ध्यान मे रखते हुए नवीन साहित्य का सर्जन किया। आचार्य कुदकुदरचित साहित्य मे आचारपाहुड, सुत्तपाहुड, स्थानपाहुड, समवायपाहुड आदि अनेक पाहुडान्त ग्रन्थो का समावेश किया जाता है। इन पाहुडो के नाम सुनने से आचाराग, सूत्रकृताग, स्थानाग, समवायाग आदि की स्मृति हो आती है। आचार्य कुदकुद ने उपर्युक्त पाहुडो की रचना इन अगो के आधार से की प्रतीत होती है। इसी प्रकार षट्खण्डागम, जयधवला, महाधवला आदि ग्रन्थ भी उन-उन आचार्यों ने आचाराग से लेकर दृष्टिवाद तक के आगमो के आधार से बनाये हैं। इनमे स्थान-स्थान पर परिकर्म आदि का निर्देश किया गया है। इससे अनुमान होता है कि इन ग्रन्थो के निर्माताओ के सामने दृष्टिवाद के एक अशरूप परिकर्म का कोई भाग अवश्य रहा होगा, चाहे वह स्मृतिरूप में ही क्यों न हो। जिस प्रकार विशेषावश्यकभाष्यकार अपने भाष्य में अनेक स्थानो पर दृष्टिवाद के एक अशरूप 'पूर्वगत गाथा' का निर्देश करते हैं[1] उसी प्रकार ये ग्रन्थकार 'परिकर्म' का निर्देश करते हैं। जिन्होने आगमो को ग्रन्थबद्ध किया है उन्होने पहले से चली आने वाली कठाग्र आगम-परम्परा को ध्यान में रखते हुए उनका ठीक-ठीक सकलन करके माथुरी वाचना पुस्तकारूढ की है। इसी प्रकार अचेलक परम्परा के ग्रथकारो ने भी उनके सामने जो आगम विद्यमान थे उनका अवलम्बन लेकर नया साहित्य तैयार किया है। इस प्रकार दोनो परम्पराओं के ग्रथ समानरूप से प्रामाण्यप्रतिष्ठित हैं।

अचेलक परम्परा मे अगविषयक उल्लेख

अचेलक परम्परा में अगविषयक जो सामग्री उपलब्ध है उसमें केवल अगों के नामो का, अगो के विषयो का व अगो के पदपरिमाण का उल्लेख है। अकलककृत राजवार्तिक मे अतकृद्दशा तथा अनुत्तरौपपातिकदशा नामक दो अगो के अध्ययनों—प्रकरणो के नामों का भी उल्लेख मिलता है, यद्यपि इन नामों के अनुसार अध्ययन वर्तमान अन्तकृद्दशा तथा अनुत्तरौपपातिकदशा मे उपलब्ध नही हैं। प्रतीत होता है, राजवार्तिककार के सामने ये दोनों सूत्र अन्य वाचना वाले मौजूद रहे होंगे।

---

[1] वृत्तिकार मलधारी हेमचन्द्र के अनुसार, गा० १२८

स्थानाग नामक तृतीय अग में उक्त दोनों अगो के अध्ययनो के जो नाम बताये गये हैं, उनसे राजवार्तिक-निर्दिष्ट नाम विशेषत. मिलते हुए हैं। ऐसी स्थिति मे यह भी कहा जा सकता है कि राजवार्तिककार और स्थानागसूत्रकार के समक्ष एक ही वाचना के ये सूत्र रहे होगे अथवा राजवार्तिककार ने स्थानाग मे गृहीत अन्य वाचना को प्रमाणभूत मान कर ये नाम दिये होंगे। राजवार्तिक के ही समान धवला जयधवला, अगपण्णत्ति आदि में भी वैसे ही नाम उपलब्ध हैं।

अचेलक परम्परा के प्रतिक्रमण सूत्र के मूल पाठ मे किन्ही-किन्ही अगो के अध्ययनों की सख्या बताई गई है। इस सख्या में और सचेलक परम्परा मे प्रसिद्ध सख्या मे विशेष अन्तर नही है। इस प्रतिक्रमण सूत्र की प्रभाचन्द्रीय वृत्ति में इन अध्ययनो के नाम तथा उनका सविस्तर परिचय आता है। ये नाम सचेलक परम्परा मे उपलब्ध नामो के साथ हूबहू मिलते हैं। कही कही अक्षरान्तर भले ही हो गया हो किन्तु भाव मे कोई अन्तर नहीं है। इसके अतिरिक्त अपराजित-सूरिकृत दशवैकालिकवृत्ति का उल्लेख उनकी अपनी मूलाराधना की वृत्ति मे आता है। यह दशवैकालिकवृत्ति इस समय अनुपलब्ध है। सभव है, इन अपराजितसूरि ने अथवा उनकी भाति अचेलक परपरा के अन्य किन्ही महानुभावो ने अग आदि सूत्रों पर वृत्तिया आदि लिखी हो जो उपलब्ध न हो। इस विषय मे विशेष अनुसधान की आवश्यकता है।

सचेलक परम्परा में अगो की निर्युक्तिया, भाष्य, चूर्णिया, अवचूर्णिया, वृत्तिया, टबे आदि उपलब्ध हैं। इनसे अगो के विषय में विशेष जानकारी प्राप्त होती है।

अगों का बाह्य रूप

अगो के बाह्य रूप का प्रथम पहलू है अगो का श्लोकपरिमाण अथवा पद-परिमाण। ग्रथो की प्रतिलिपि करने वाले लेखक अपना पारिश्रमिक श्लोको की सख्या पर निर्धारित करते हैं। इसलिए वे अपने लिखे हुए ग्रथ के अन्त मे 'ग्रन्थाग्र' शब्द द्वारा श्लोक-सख्या का निर्देश अवश्य कर देते हैं। अथवा कुछ प्राचीन ग्रथकार स्वयमेव अपने ग्रथ के अन्त में उसके श्लोकपरिमाण का उल्लेख कर देते हैं। ग्रथ पूर्णतया सुरक्षित रहा है अथवा नही, वह किसी कारण से खण्डित तो नहीं हो गया है अथवा उसमें किसी प्रकार की वृद्धि तो नही हुई है—इत्यादि बातें जानने में यह प्रथा अति उपयोगी है। इससे लिपि-लेखको को

पारिश्रमिक देने में भी सरलता होती है। एक श्लोक बत्तीस अक्षरों का मान कर श्लोकसख्या बताई जाती है, फिर चाहे रचना गद्य में ही क्यो न हो। वर्तमान मे उपलब्ध अगो के अन्त मे स्वयं ग्रथकारो ने कहीं भी श्लोकपरिमाण नही बताया है। अत. यह मानना चाहिए कि यह सख्या किन्हीं अन्य ग्रथ-प्रेमियो अथवा उनकी नकल करने वालो ने लिखी होगी।

अपने ग्रथ में कौन-कौन से विषय चर्चित हैं, इसका ज्ञान पाठक को प्रारभ में ही हो जाय, इस दृष्टि से प्राचीन ग्रथकार कुछ ग्रथो अथवा ग्रन्थगत प्रकरणो के प्रारभ में सग्रहणी गाथाए देते हैं किन्तु यह कहना कठिन है कि अगगत वैसी गाथाए खुद ग्रथकारों ने बनाई हैं अथवा अन्य किन्हीं सग्राहको ने।

कुछ अगो की निर्युक्तियो में उनके कितने अध्ययन हैं एव उन अध्ययनो के क्या नाम हैं, यह भी बताया गया है। इनमे ग्रथ के विषय का निर्देश करने वाली कुछ सग्रहणी गाथाएँ भी उपलब्ध होती हैं।

समवायाग व नन्दीसूत्र में जहा आचाराग आदि का परिचय दिया हुआ है वहा 'अगो की सग्रहणिया अनेक हैं', ऐसा उल्लेख मिलता है। यह 'सग्रहणी' शब्द विषयनिर्देशक गाथाओ के अर्थ मे विवक्षित हो तो यह मानना चाहिए कि जहा-जहा 'संग्रहणिया अनेक हैं' यह बताया गया है वहा-वहा उन-उन सूत्रों के विषय-निर्देश अनेक प्रकार के हैं, यही बताया गया है। अथवा इससे यह समझना चाहिए कि आचारागादि का परिचय सक्षेप-विस्तार से अनेक प्रकार से दिया जा सकता है। यहा यह स्मरण रखना आवश्यक है कि विषय-निर्देश भले ही भिन्न-भिन्न शब्दो द्वारा अथवा भिन्न-भिन्न शैलियो द्वारा विविध ढंग से किया गया हो किन्तु उसमें कोई मौलिक भेद नहीं है।

अचेलक व सचेलक दोनो परम्पराओं के ग्रन्थो मे जहा अगो का परिचय आता है वहा उनके विषय तथा पद-परिमाण का निर्देश करने वाले उल्लेख उपलब्ध होते हैं। अगो का ग्रन्थाग्र अर्थात् श्लोकपरिमाण कितना है, यह अब देखें। बृहट्टिप्पनिका नामक एक प्राचीन जैनग्रथसूची उपलब्ध है। यह आज से लगभग चार सौ वर्ष पूर्व लिखी गई मालूम होती है। इसमे विविध विषय वाले अनेक ग्रन्थों की श्लोकसख्या बताई गई है, साथ ही लेखनसमय व ग्रन्थलेखक का भी निर्देश किया गया है। ग्रथ सवृत्तिक है अथवा नहीं, जैन है अथवा अजैन, ग्रन्थ पर अन्य कितनी वृत्तिया हैं, आदि बातें भी इसमें मिलती हैं। अगविषयक

जो कुछ जानकारी इसमे दी गई है उसका कुछ उपयोगी साराश नीचे दिया जाता है[1] —

आचाराग—श्लोकसख्या २५२५, सूत्रकृताग—श्लोकसख्या २१००, स्थानाग—श्लोकसख्या ३६००, समवायाग—श्लोकसख्या १६६७, भगवती (व्याख्याप्रज्ञप्ति)—श्लोकसख्या १५७५२ (इकतालीस शतकयुक्त), ज्ञातधर्मकथा—श्लोकसख्या ५४००, उपासकदशा—श्लोकसख्या ८१२, अंतकृद्दशा—श्लोकसंख्या ८९९, अनुत्तरौपपातिकदशा—श्लोकसख्या १९२, प्रश्नव्याकरण—श्लोकसंख्या १२५६, विपाकसूत्र—श्लोकसंख्या १२१६, समस्त अगो की श्लोकसंख्या ३५३३९ ।

नाम-निर्देश

तत्त्वार्थसूत्र के भाष्य में केवल अगो के नामों का उल्लेख है। इसमें पाचवें अंग का नाम 'भगवती' न देते हुए 'व्याख्याप्रज्ञप्ति' दिया गया है। बारहवें अग का भी नामोल्लेख किया गया है।

अचेलक परम्पराभिमत पूज्यपादकृत सर्वार्थसिद्धि नामक तत्त्वार्थवृत्ति मे अगो के जो नाम दिये हैं उनमे थोडा अन्तर है। इसमे ज्ञातधर्मकथा के बजाय ज्ञातृधर्मकथा, उपासकदशा के बजाय उपासकाध्ययन, अतकृद्दशा के बजाय अतकृद्दशम् एव अनुत्तरौपपातिकदशा के बजाय अनुत्तरोपपादिकदशम् नाम है। दृष्टिवाद के भेदरूप पाच नाम बताये हैं परिकर्म, सूत्र, प्रथमानुयोग, पूर्वगत एव चूलिका। इनमें से पूर्वगत के भेदरूप चौदह नाम इस प्रकार हैं १. उत्पादपूर्व, २ अग्रायणीय, ३ वीर्यानुप्रवाद, ४ अस्तिनास्तिप्रवाद, ५ ज्ञानप्रवाद, ६ सत्यप्रवाद, ७ आत्मप्रवाद, ८ कर्मप्रवाद, ९ प्रत्याख्यान, १० विद्यानुप्रवाद, ११. कल्याण, १२ प्राणावाय, १३ क्रियाविशाल, १४. लोकबिन्दुसार।

इसी प्रकार अकलककृत तत्त्वार्थराजवार्तिक में फिर थोडा परिवर्तन है। इसमें अन्तकृद्दशम् एव अनुत्तरोपपादिकदशम् के स्थान पर फिर अन्तकृद्दशा एव अनुत्तरौपपादिकदशा का प्रयोग हुआ है।

श्रुतसागरकृत वृत्ति में ज्ञातृधर्मकथा के स्थान पर केवल ज्ञातृकथा का प्रयोग है। इसमें अन्तकृद्दशम् एव अनुत्तरौपपादिकदशम् नाम मिलते हैं।

---

[1] जैन साहित्य सशोधक, प्रथम भाग, पृ १०५

गोम्मटसार नामक ग्रथ में द्वितीय अग का नाम सुद्दयड है, पचम अंग का नाम विक्खापणत्ति है, षष्ठ अग का नाम नाहस्स धम्मकहा है, अष्टम अंग का नाम अतयडदसा है।

अगपण्णत्ति नामक ग्रन्थ में द्वितीय अग का नाम सूदयड, पचम अग का नाम विवायपण्णत्ति (सस्कृतरूप 'विपाकप्रज्ञप्ति' दिया हुआ है) एव षष्ठ अग का नाम नाहधम्मकहा है। दृष्टिवाद के सम्बन्ध मे कहा गया है कि इसमें ३६३ दृष्टियों का निराकरण किया गया है। साथ ही क्रियावाद, अक्रियावाद, अज्ञानवाद एव विनयवाद के अनुयायियो के मुख्य-मुख्य नाम भी दिये गये हैं। ये सब नाम प्राकृत मे हैं। राजवार्तिक मे भी इसी प्रकार के नाम बताये गये हैं। वहा ये सब सस्कृत मे हैं। इन दोनो स्थानो के नामो मे कुछ-कुछ अन्तर आ गया है।

इस प्रकार दोनो परम्पराओ में अगों के जो नाम बताये गये हैं उनमें कोई विशेष अन्तर दिखाई नही देता। सचेलक परम्परा के समवायाग, नन्दीसूत्र एव पाक्षिकसूत्र में अगों के जो नाम आये हैं उनका उल्लेख करने के बाद दोनो परम्पराओ के ग्रन्थो में प्रसिद्ध इन सब नामो मे जो कुछ परिवर्तन हुआ है उसकी चर्चा की जाएगी। समवायांग आदि में ये नाम इस प्रकार हैं :—

	१ समवायाग (प्राकृत)	२ नन्दीसूत्र (प्राकृत)	३ पाक्षिकसूत्र (प्राकृत)	४ तत्त्वार्थभाष्य (सस्कृत)
१	आयारे	आयारो	आयारो	आचार
२	सूयगडे	सूयगडो	सूयगडो	सूत्रकृतम्
३	ठाणे	ठाणं	ठाण	स्थानम्
४	समवाओ, समाए	समवाओ, समाए	समवाओ, समाए	समवाय.
५.	विवाहपन्नत्ती विवाहे	विवाहपन्नत्ती विवाहे	विवाहपन्नत्ती विवाहे	व्याख्याप्रज्ञप्ति
६	णायाधम्म-कहाओ	णायाधम्म-कहाओ	णायाधम्म-कहाओ	ज्ञातधर्मकथा
७	उवासगदसाओ	उवासगदसाओ	उवासगदसाओ	उपासकाध्ययनदशा
८	अतगडदसाओ	अतगडदसाओ	अंतगडदसाओ	अतकृद्दशा
९.	अणुत्तरोववाइय-दसाओ	अणुत्तरोववाइय-दसाओ	अणुत्तरोववाइय-दसाओ	अनुत्तरोपपातिक दशा
१०	पण्हावागरणाइ	पण्हावागरणाइ	पण्हावागरणाइ	प्रश्नव्याकरणम्

११. विवागसुअे	विवागसुअ	विवागसुअं	विपाकश्रुतम्
१२. दिट्ठिवाअे	दिट्ठिवाओ	दिट्ठिवाओ	दृष्टिपात.

इन नामों मे कोई विशेष भेद नहीं है। जो थोडा भेद दिखाई देता है वह केवल विभक्ति के प्रत्यय अथवा एकवचन-बहुवचन का है।

पञ्चम अग का सस्कृत नाम व्याख्याप्रज्ञप्ति है। इसे देखते हुए उसका प्राकृत नाम वियाहपन्नत्ति होना चाहिए जबकि सर्वत्र प्राय. विवाहपन्नत्ति रूप ही देखने को मिलता है। प्रतिलिपि-लेखको की असावधानी व अर्थ के अज्ञान के कारण ही ऐसा हुआ मालूम होता है। अति प्राचीन ग्रथो में वियाहपन्नति रूप मिलता भी है जो कि व्याख्याप्रज्ञप्ति का शुद्ध प्राकृत रूप है।

सस्कृत ज्ञातधर्मकथा व प्राकृत नायाधम्मकहा अथवा णायाधम्मकहा मे कोई अन्तर नहीं है। 'ज्ञात' का प्राकृत मे 'नाय' होता है एवं समास मे 'दीर्घह्रस्वौ मिथो वृत्तौ' (८ १ ४ —हेमप्रा॰ व्या॰) इस नियम द्वारा 'नाय' के ह्रस्व 'य' का दीर्घ 'या' होने पर 'नाया' हो जाता है। अचेलक परंपरा मे नायाधम्मकहा के बजाय ज्ञातृधर्मकथा, ज्ञातृकथा, नाहस्स धम्मकहा, नाहधम्मकहा आदि नाम प्रचलित हैं। इन शब्दो में नाममात्र का अर्थभेद है। ज्ञातधर्मकथा अथवा ज्ञाताधर्मकथा का अर्थ है जिनमे ज्ञात अर्थात् उदाहरण प्रधान हो ऐसी धर्मकथाएँ। अथवा जिस ग्रथ में ज्ञातो वाली अर्थात् उदाहरणो वाली एव धर्मवाली कथाएँ हों वह ज्ञाताधर्मकथा है। ज्ञातृधर्मकथा का अर्थ है जिसमे ज्ञातृ अर्थात् ज्ञाता अथवा ज्ञातृवश के भगवान् महावीर द्वारा कही हुई धर्मकथाएँ हो वह ग्रन्थ। यही अर्थ ज्ञातृकथा का भी है। नाहस्स धम्मकहा अथवा नाहधम्मकहा भी नायधम्मकहा का ही एकरूप मालूम होता है। उच्चारण की गडबडी व लिपि-लेखक के प्रमाद के कारण 'नाय' शब्द 'नाह' के रूप मे परिणत हो गया प्रतीत होता है। भगवान् महावीर के वश का नाम नाय-नात-ज्ञात-ज्ञातृ है। ज्ञातृवशोत्पन्न भगवान् महावीर द्वारा प्रतिपादित धर्मकथाओ के आधार पर भी ज्ञातृधर्मकथा आदि नाम फलित किये जा सकते हैं।

द्वितीय अग का सस्कृत नाम सूत्रकृत है। राजवार्तिक आदि में भी इसी नाम का निर्देश है। धवला एव जयधवला मे सूदयद, गोम्मटसार में सुद्दयड तथा अगपण्णत्ति में सूदयड नाम मिलते हैं। सचेलक परपरा मे सुत्तगड अथवा सूयगड नाम का उल्लेख मिलता है। इन सब नामो में कोई अन्तर नहीं है।

केवल शौरसेनी भाषा के चिह्न के रूप में अचेलक परम्परा में 'त' अथवा 'त' के बजाय 'द' अथवा 'द्' का प्रयोग हुआ है।

पचम अग का नाम धवला व जयधवला मे वियाहपण्णत्ति तथा गोम्मटसार मे विवायपण्णत्ति है जो सस्कृतरूप व्याख्याप्रज्ञप्ति का ही रूपान्तर है। अगपण्णत्ति में विवायपण्णत्ति अथवा विवागपण्णत्ति नाम बताया गया है एव छाया में विपाकप्रज्ञप्ति शब्द रखा गया है। इसमे मुद्रण की अशुद्धि प्रतीत होती है। मूल मे विवाहपण्णत्ति होना चाहिए। ऐसा होने पर छाया में व्याख्याप्रज्ञप्ति रखना चाहिए। यहाँ भी आदि पद वियाह' के स्थान पर असावधानी के कारण 'विवाय' हो गया प्रतीत होता है। सचेलक परम्परा में सस्कृत मे व्याख्याप्रज्ञप्ति एव प्राकृत मे वियाहपण्णत्ति सुप्रसिद्ध है। पचम अग का यही नाम ठीक है। ऐसा होते हुए भी वृत्तिकार अभयदेवसूरि ने विवाहपण्णत्ति व विबाहपण्णत्ति नाम स्वीकार किए हैं एव विवाहपण्णत्ति का अर्थ किया है विवाहप्रज्ञप्ति अर्थात् ज्ञान के विविध प्रवाहो की प्रज्ञप्ति और विबाहपण्णत्ति का अर्थ किया है विबाधप्रज्ञप्ति अर्थात् बिना बाधा वाली—प्रमाणसिद्ध प्रज्ञप्ति। श्री अभयदेव को वियाहपण्णत्ति, विवाहपण्णत्ति एव विबाहपण्णत्ति—ये तीन पाठ मिले मालूम होते हैं। इनमे से वियाहपण्णत्ति पाठ ठीक है। शेष दो प्रतिलिपि-लेखक की त्रुटि के परिणामरूप हैं।

आचारादि अगों के नामों का अर्थ

आयार—प्रथम अग का आचार—आयार नाम तद्गत विषय के अनुरूप ही है। इसके प्रथम विभाग मे आतरिक व बाह्य दोनो प्रकार के आचार की चर्चा है।

सुत्तगड—सूत्रकृत का एक अर्थ है सूत्रो द्वारा अर्थात् प्राचीन सूत्रों के आधार से बनाया हुआ अथवा सक्षिप्त सूत्रो—वाक्यो द्वारा बनाया हुआ। इसका दूसरा अर्थ है सूचना द्वारा अर्थात् प्राचीन सूचनाओ के आधार पर बनाया हुआ। इस नाम से ग्रन्थ के विषय का स्पष्ट पता नही लग सकता। इससे इसकी रचना-पद्धति का पता अवश्य लगता है।

ठाण—स्थान व समवाय नाम आचार की भाति स्फुटार्थक नही कि जिन्हें सुनते ही अर्थ की प्रतीति हो जाय। जैन साधुओं की सख्या के लिए 'ठाणा' शब्द जैन परम्परा में सुप्रचलित है। यहा कितने 'ठाणे' हैं? इस प्रकार के प्रश्न का अर्थ सब जैन समझते हैं। इस प्रश्न में प्रयुक्त 'ठाणा' के अर्थ की ही भाति तृतीय अग 'ठाण' का भी अर्थ सख्या ही है। 'समवाय' नाम की भी यही स्थिति है। इस नाम से यह प्रकट होता है कि इसमें बडी सख्या का समवाय है। इस प्रकार

ठाण नामक तृतीय अग जैन तत्त्व-सख्या का निरूपण करने वाला है एव समवाय नामक चतुर्थ अंग जैन तत्त्व के समवाय का अर्थात् बडी सख्या वाले तत्त्व का निरूपण करने वाला है।

वियाहपण्णत्ति—व्याख्याप्रज्ञप्ति नामक पचम अग का अर्थ ऊपर बताया जा चुका है। यह नाम ग्रन्थगत विषय के अनुरूप है।

णायाधम्मकहा—ज्ञातधर्मकथा नाम कथासूचक है, यह नाम से स्पष्ट है। इस कथाग्रन्थ के विषय मे भी ऊपर कहा जा चुका है।

उवासगदसा—उपासकदशा नाम से यह प्रकट होता है कि यह अग उपासको से सम्बन्धित है। जैन परिभाषा में 'उपासक' शब्द जैनधर्मानुयायी श्रावकों—गृहस्थों के लिए रूढ है। उपासक के साथ जो 'दशा' शब्द जुडा हुआ है वह दश—दस सख्या का सूचक है अथवा दशा—अवस्था का द्योतक भी हो सकता है। यहा दोनो अर्थ समानरूप से सगत हैं। उपासकदशा नामक सप्तम अंग में दस उपासकों की दशा का वर्णन है।

अतगडदसा—जिन्होने आध्यात्मिक साधना द्वारा राग-द्वेष का अन्त किया है तथा मुक्ति प्राप्त की है वे अन्तकृत हैं। उनसे सम्बन्धित शास्त्र का नाम अतगडदसा-अतकृतदशा है। इस प्रकार अष्टम अग का अतकृतदशा नाम सार्थक है।

अणुत्तरोववाइयदसा—इसी प्रकार अनुत्तरौपपातिकदशा अथवा अनुत्तरौपपादिकदशा नाम भी सार्थक है। जैन मान्यता के अनुसार स्वर्ग में बहुत ऊचा अनुत्तरविमान नामक एक देवलोक है। इस विमान में जन्म ग्रहण करने वाले तपस्वियो का वृत्तान्त इस अनुत्तरौपपातिकदशा नामक नवम अग में उपलब्ध है। इसका 'दशा' शब्द भी सख्यावाचक व अवस्थावाचक दोनो प्रकार का है। ऊपर जो औपपातिक व औपपादिक ये दो शब्द आये हैं उन दोनो का अर्थ एक ही है। जैन व बौद्ध दोनो परम्पराओ में उपपात अथवा उपपाद का प्रयोग देवों व नारको के जन्म के लिए हुआ है।

पण्हावागरणाइ—प्रश्नव्याकरण नाम के प्रारभ का 'प्रश्न' शब्द सामान्य प्रश्न के अर्थ मे नहीं अपितु ज्योतिषशास्त्र, निमित्तशास्त्र आदि से सम्बन्धित अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। इस प्रकार के प्रश्नो का व्याकरण जिसमें किया गया हो उसका नाम प्रश्नव्याकरण है। उपलब्ध प्रश्नव्याकरण के विषयो को देखते हुए यह नाम सार्थक प्रतीत नही होता। प्रश्न का सामान्य अर्थ चर्चा किया जाय अर्थात् हिंसा-अहिंसा,

सत्य-असत्य आदि से सम्बन्धित चर्चा के अर्थ मे प्रश्न शब्द लिया जाय तो वर्तमान प्रश्नव्याकरण सार्थक नाम वाला कहा जा सकता है।

विवागसुय - ग्यारहवें अग का नाम है विपाकश्रुत, विपाकसूत्र, विवायसुअ, विवागसुय अथवा विवागसुत्त। ये सब नाम एकार्थक एव समान हैं। विपाक शब्द का प्रयोग पातजल-योगदर्शन एव चिकित्साशास्त्र में भी हुआ है। चिकित्साशास्त्र का विपाक शब्द खानपान इत्यादि के विपाक का सूचक है। यहा विपाक का यह अर्थ न लेते हुए आध्यात्मिक अर्थ लेना चाहिए अर्थात् सदसत् प्रवृत्ति द्वारा होने वाले आध्यात्मिक सस्कार के परिणाम का नाम ही विपाक है। पापप्रवृत्ति का परिणाम पापविपाक है एव पुण्यप्रवृत्ति का परिणाम पुण्यविपाक है। प्रस्तुत अग का विपाकश्रुत नाम सार्थक है क्योकि इसमे इस प्रकार के विपाक को भोगने वाले लोगो की कथाओं का सग्रह है।

दिट्ठिवाय—बारहवा अग दृष्टिवाद के नाम से प्रसिद्ध है। यह अभी उपलब्ध नहीं है। अत इसके विषयों का हमें ठीक-ठीक पता नही है। दृष्टि का अर्थ है दर्शन और वाद का अर्थ है चर्चा। इस प्रकार दृष्टिवाद का शब्दाथ होता है दर्शनो की चर्चा। इस अग में प्रधानतया दार्शनिक चर्चाए रही होंगी, ऐसा ग्रन्थ के नाम से प्रतीत होता है। इसके पूर्वगत विभाग मे चौदह पूर्व समाविष्ट हैं जिनके नाम पहले गिनाये जा चुके हैं। इन पूर्वों को लिखने में कितनी स्याही खर्च हुई होगी, इसका अदाज लगाने के लिए सचेलक परम्परा में एक मजेदार कल्पना की गई है। कल्पसूत्र के अर्वाचीन वृत्तिकार कहते हैं कि प्रथम पूर्व को लिखने के लिए एक हाथी के वजन जितनी स्याही चाहिए द्वितीय पूर्व को लिखने के लिए दो हाथियो के वजन जितनी, तृतीय के लिए चार हाथियो के वजन जितनी, चतुर्थ के लिए आठ हाथियो के वजन जितनी, इस प्रकार उत्तरोत्तर दुगुनी-दुगुनी करते-करते अतिम पूर्व को लिखने के लिए आठ हजार एक सौ बानवे हाथियों के वजन जितनी स्याही चाहिए।

कुछ मुनियों ने ग्यारह अगो तथा चौदह पूर्वों का अध्ययन केवल बारह वर्ष में किया है, ऐसा उल्लेख व्याख्याप्रज्ञप्ति मे आता है। इतना विशाल साहित्य इतने अल्प समय में कैसे पढ़ा गया होगा ? यह एक विचारणीय प्रश्न है। इसे ध्यान में रखते हुए उपर्युक्त कल्पना को महिमावर्धक व अतिशयोक्तिपूर्ण कहना अनुचित न होगा। इतना अवश्य है कि पूर्वगत साहित्य का परिमाण काफ़ी विशाल रहा है।

स्थानागसूत्र मे[1] बारहवें अग के दस पर्यायवाची नाम बताये हैं, १ दृष्टिवाद, २ हेतुवाद, ३ भूतवाद, ४ तथ्यवाद, ५ सम्यग्वाद, ६. धर्मवाद ७ भाषाविचय अथवा भाषाविजय, ८ पूर्वगत, ९. अनुयोगगत और १० सर्वजीवसुखावह। इनमे से आठवां व नववां नाम दृष्टिवाद के प्रकरणविशेष के सूचक हैं। इन्हें औपचारिक रूप से दृष्टिवाद के नामो मे गिनाया गया है।

अगों का पद-परिमाण :

अगसूत्रो का पद परिमाण दोनो परम्पराओ के ग्रन्थों मे उपलब्ध है। सचेलक परम्परा के ग्रन्थ समवायाग, नन्दी आदि में अगो का पद-परिमाण बताया गया है। इसी प्रकार अचेलक परम्परा के धवला, गोम्मटसार आदि ग्रन्थों में अगो का पद-परिमाण उपलब्ध है। इसे विभिन्न तालिकाओ द्वारा यहा स्पष्ट किया जाता है —

---

[1] स्थानाग, १० ७४२

तालिका—१

सचेलक परम्परा

ग्यारह अग

१ अग का नाम	२. समवायागगत पदसख्या	३. नन्दिगतपदसख्या	४ समवायाग-वृत्ति	५ नन्दि-वृत्ति
१. आचारांग	अठारह हजार पद	अठारह हजार पद	अठारह हजार पद आचाराग की निर्युक्ति तथा शीलाक-कृत वृत्ति मे लिखा है कि आचाराग के प्रथम श्रुतस्कन्ध के (नौ अध्ययनो के, अठारह हजार पद हैं एव द्वितीय श्रुतस्कन्ध के इससे भी अधिक हैं।	नन्दी के वृत्तिकार ने सब समवायाग की वृत्ति के अनुसार ही लिखा है। साथ मे इसके समर्थन में नन्दी सूत्र की चूर्णि का पाठ दिया है।
२. सूत्रकृताग	छत्तीस हजार पद	छत्तीस हजार पद	समवायागके मूल के अनुसार ही	नन्दी के मूल के अनुसार ही
३. स्थानाग	बहत्तर हजार पद	बहत्तर हजार पद	समवायाग के मूल के अनुसार ही	नन्दी के मूल के अनुसार ही
४ समवायाग	एक लाख चौआलीस हजार पद	एक लाख चौआलीस हजार पद	समवायाग के मूल के अनुसार ही	नन्दी के मूल के अनुसार ही
५. व्याख्याप्रज्ञप्ति	चौरासी हजार पद	दो लाख अठासी हजार पद	समवायाग के मूल के अनुसार ही	नन्दी के मूल के अनुसार ही

६. ज्ञाताधर्मकथा	संख्येय हजार पद	सख्येय हजार पद	पाच लाख छिहत्तर हजार पद अथवा सूत्रालापकरूप सख्येय हजार पद	समवायाग की वृत्ति के अनुसार ही सब समझना चाहिए। विशेषतया उपसर्गपद, निपातपद, नामिकपद, आख्यातपद एवं मिश्रपद की अपेक्षा से पाच लाख छिहत्तर हजार पद समझने चाहिए।
७ उपासकदशा	सख्येय लाख पद	सख्येय हजार पद	ग्यारह लाख बावन हजार पद	ग्यारह लाख बावन हजार पद अथवा सूत्रालापकरूप सख्येय हजार पद
८ अंतकृद्दशा	सख्येय हजार पद	सख्येय हजार पद	तेईस लाख चार हजार पद	सख्येय हजार पद अर्थात् तेईस लाख चार हजार पद
९ अनुत्तरौप-पातिकदशा	सख्येय लाख पद	सख्येय हजार पद	छियालीस लाख आठ हजार पद	छियालीस लाख आठ हजार पद
१० प्रश्नव्याकरण	सख्येय लाख पद	सख्येय हजार पद	बानवे लाख सोलह हजार पद	बानवे लाख सोलह हजार पद
११. विपाकसूत्र	सख्येय लाख पद	संख्येय हजार पद	एक करोड चौरासी लाख बत्तीस हजार पद	एक करोड चौरासी लाख बत्तीस हजार पद

तालिका—१

सचेलक परम्परा

ग्यारह अग

१ अग का नाम	२. समवायागगत पदसख्या	३. नन्दिगतपदसख्या	४ समवायाग-वृत्ति	५ नन्दि-वृत्ति
१ आचाराग	अठारह हजार पद	अठारह हजार पद	अठारह हजार पद आचाराग की निर्युक्ति तथा शीलांक-कृत वृत्ति मे लिखा है कि आचाराग के प्रथम श्रुतस्कन्ध के (नौ अध्ययनो के) अठारह हजार पद हैं एव द्वितीय श्रुतस्कन्ध के इससे भी अधिक हैं।	नन्दी के वृत्तिकार ने सब समवायाग की वृत्ति के अनुसार ही लिखा है। साथ मे इसके समर्थन मे नन्दी सूत्र की चूर्णि का पाठ दिया है।
२. सूत्रकृताग	छत्तीस हजार पद	छत्तीस हजार पद	समवायागके मूल के अनुसार ही	नन्दी के मूल के अनुसार ही
३. स्थानाग	बहत्तर हजार पद	बहत्तर हजार पद	समवायाग के मूल के अनुसार ही	नन्दी के मूल के अनुसार ही
४ समवायाग	एक लाख चौआलीस हजार पद	एक लाख चौआलीस हजार पद	समवायाग के मूल के अनुसार ही	नन्दी के मूल के अनुसार ही
५. व्याख्याप्रज्ञप्ति	चौरासी हजार पद	दो लाख अठासी हजार पद	समवायाग के मूल के अनुसार ही	नन्दी के मूल के अनुसार ही

६. ज्ञाताधर्मकथा	संख्येय हजार पद	संख्येय हजार पद	पाच लाख छिहत्तर हजार पद अथवा सूत्रालापकरूप संख्येय हजार पद	समवायाग की वृत्ति के अनुसार ही सब समझना चाहिए। विशेषतया उपसर्गपद, निपातपद, नामिकपद, आख्यातपद एव मिश्रपद की अपेक्षा से पाच लाख छिहत्तर हजार पद समझने चाहिए।
७ उपासकदशा	संख्येय लाख पद	संख्येय हजार पद	ग्यारह लाख बावन हजार पद	ग्यारह लाख बावन हजार पद अथवा सूत्रालापकरूप संख्येय हजार पद
८ अंतकृद्दशा	संख्येय हजार पद	संख्येय हजार पद	तेईस लाख चार हजार पद	संख्येय हजार पद अर्थात् तेईस लाख चार हजार पद
९ अनुत्तरौपपातिकदशा	संख्येय लाख पद	संख्येय हजार पद	छियालीस लाख आठ हजार पद	छियालीस लाख आठ हजार पद
१० प्रश्नव्याकरण	संख्येय लाख पद	संख्येय हजार पद	बानवे लाख सोलह हजार पद	बानवे लाख सोलह हजार पद
११. विपाकसूत्र	संख्येय लाख पद	संख्येय हजार पद	एक करोड चौरासी लाख बत्तीस हजार पद	एक करोड चौरासी लाख बत्तीस हजार पद

तालिका—२

सचेलक परम्परा

बारहवें अग दृष्टिवाद के चौदह पूर्व

१. पूर्व का नाम	२ समवायाग-गत पदसख्या	३ नदिगत पदसख्या	४ समवायाग-वृत्ति	५. नंदि-वृत्ति
१. उत्पाद	×	×	एक करोड पद	एक करोड पद
२. अग्रायणीय	×	×	छियानवे लाख पद	छियानवे लाख पद
३ वीर्य प्रवाद	×	×	सत्तर लाख पद	सत्तर लाख पद
४. अस्ति-नास्ति-प्रवाद	×	×	साठ लाख पद	साठ लाख पद
५. ज्ञानप्रवाद	×	×	एक कम एक करोड पद	एक कम एक करोड पद
६. सत्यप्रवाद	×	×	एक करोड छ पद	एक करोड छ. पद
७. आत्मप्रवाद	×	×	छब्बीस करोड पद	छब्बीस करोड पद
८. कर्मप्रवाद	×	×	एक करोड अस्सी हजार पद	एक करोड अस्सी हजार पद
९ प्रत्याख्यानपद	×	×	चौरासी लाख पद	चौरासी लाख पद
१० विद्यानुवाद	×	×	एक करोड दस लाख पद	एक करोड दस लाख पद
११. अवन्ध्य	×	×	छब्बीस करोड पद	छब्बीस करोड पद
१२ प्राणायु	×	×	एक करोड छप्पन लाख पद	एक करोड छप्पन लाख पद
१३ क्रियाविशाल	×	×	नौ करोड पद	नौ करोड पद
१४. लोकबिन्दु-सार	×	×	साढ़े बारह करोड पद	साढ़े बारह करोड़ पद

तालिका—३

अचेलक परम्परा

ग्यारह अग

१ अग का नाम	२ पदपरिमाण	३ किस ग्रंथ में निर्देश
१ आचाराग	१८०००	धवला, जयधवला, गोम्मट-सार एव अगपण्णत्ति
२. सूत्रकृताग	३६०००	"
३. स्थानाग	४२०००	"
४ समवायाग	१६४०००	"
५. व्याख्याप्रज्ञप्ति	२२८०००	"
६. ज्ञाताधर्मकथा	५५६०००	"
७ उपासकदशा	११७००००	"
८ अन्तकृद्दशा	२३२८०००	"
९ अनुत्तरौपपातिकदशा	९२४४०००	"
१०. प्रश्नव्याकरण	९३१६०००	"
११ विपाकश्रुत	१८४००००००	"

तालिका—४

अचेलक परम्परा

चौदह पूर्व

१ पूर्व का नाम	२. पदसख्या	३ किस ग्रथ मे निर्देश
१ उत्पाद	एक करोड पद	धवला, जयधवला, गोम्मट-सार एव अंगपण्णत्ति
२ अग्रायण-अग्रायणीय	छियानवे लाख पद	"
३ वीर्यप्रवाद वीर्यानु-प्रवाद	सत्तर लाख पद	

१ पूर्व का नाम	२ पदसख्या	३ किस ग्रथ में निर्देश
४ अस्तिनास्तिप्रवाद	साठ लाख पद	धवला, जयधवला, गोम्मटसार एव अगपण्णत्ति
५ ज्ञानप्रवाद	एक कम एक करोड पद	"
६ सत्यप्रवाद	एक करोड छ पद	"
७ आत्मप्रवाद	छब्बीस करोड पद	"
८ कर्मप्रवाद	एक करोड अस्सी लाख पद	"
९ प्रत्याख्यान	चौरासी लाख पद	"
१० विद्यानुवाद-विद्यानुप्रवाद	एक करोड दस लाख पद	"
११ कल्याण (अवन्ध्य)	छब्बीस करोड पद	"
१२ प्राणवाद-प्राणावाय (प्राणायु)	तेरह करोड पद	"
१३ क्रियाविशाल	नौ करोड पद	"
१४. लोकबिन्दुसार	बारह करोड पचास लाख पद	"

पूर्वों की पदसख्या मे दोनो परम्पराओ मे अत्यधिक साम्य है। ग्यारह अगों की पदसख्या मे विशेष भेद है। सचेलक परम्परा मे यह सख्या प्रथम अग से प्रारंभ होकर आगे क्रमश दुगुनी-दुगुनी होती गई मालूम होती है। अचेलक परम्परा के उल्लेखो मे ऐसा नही है। वर्तमान मे उपलब्ध अगसूत्रो की पदसख्या उपर्युक्त दोनो प्रकार की पदसख्या से भिन्न है।

प्रथम अग में अठारह हजार पद बताये गये हैं। आचाराग (प्रथम अग) के दो विभाग हैं प्रथम श्रुतस्कन्ध व पाच चूलिकाओ सहित द्वितीय श्रुतस्कन्ध। इनमें से पांचवी चूलिका निशीथ सूत्ररूप एक स्वतन्त्र ग्रथ ही है। अत यह यहाँ अभिप्रेत नही है। दूसरे शब्दो में यहा केवल चार चूलिकाओं सहित द्वितीय श्रुतस्कन्ध ही विवक्षित है। अब प्रश्न यह है कि उपर्युक्त अठारह हजार पद दोनो श्रुतस्कधो के हैं अथवा केवल प्रथम श्रुतस्कन्ध के ? इस विषय में आचाराग-निर्युक्तिकार, आचाराग-वृत्तिकार, समवायाग वृत्तिकार एव नन्दि वृत्तिकार—ये चारो एकमत हैं कि अठारह हजार पद केवल प्रथम श्रुतस्कन्ध के हैं। द्वितीय

श्रुतस्कन्ध की पदसख्या अलग ही है। समवायाग व नन्दी सूत्र के मूलपाठ में जहाँ पदसख्या बताई गई है वहाँ इस प्रकार का कोई स्पष्टीकरण नही किया गया है। वहाँ केवल इतना ही बताया गया है कि आचाराग के दो श्रुतस्कन्ध हैं, पचीस अध्ययन हैं, पचासी उद्देशक हैं, पचासी समुद्देशक हैं, अठारह हजार पद हैं, सख्येय अक्षर हैं। इस पाठ को देखते हुए यही निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि अठारह हजार पद पूरे आचारांग के अर्थात् आचाराग के दोनो श्रुतस्कन्धों के हैं, किसी एक श्रुतस्कन्ध के नहीं। जिस प्रकार पचीस अध्ययन, पचासी उद्देशक आदि दोनो श्रुतस्कन्धो के मिलाकर हैं उसी प्रकार अठारह हजार पद भी दोनो श्रुतस्कन्धो के मिलाकर ही हैं।

पद का अर्थ :

पद क्या है? पद का स्वरूप बताते हुए विशेषावश्यक भाष्यकार[1] कहते हैं कि पद अर्थ का वाचक एव द्योतक होता है। बैठना, बोलना, अश्व, वृक्ष इत्यादि पद वाचक हैं। प्र, परि, च, वा इत्यादि पद द्योतक हैं। अथवा पद के पाच प्रकार हैं नामिक, नैपातिक, औपसर्गिक, आख्यातिक व मिश्र। अश्व, वृक्ष आदि नामिक हैं। खलु, हि इत्यादि नैपातिक हैं। परि, अप, अनु आदि औपसर्गिक हैं। दौडता है, जाता है, आता है इत्यादि आख्यातिक हैं। संयत, प्रवर्धमान, निवर्तमान आदि पद मिश्र हैं। इसी प्रकार अनुयोगद्वारवृत्ति[2], अगस्त्यसिंहविरचित दशवैकालिकचूर्णि,[3] हरिभद्रकृत दशवैकालिकवृत्ति,[4] शीलाक-कृत आचारागवृत्ति[5] आदि मे पद का सोदाहरण स्वरूप बताया गया है। प्रथम कर्मग्रन्थ की सातवीं गाथा के अन्तर्गत पद की व्याख्या करते हुए देवेन्द्रसूरि कहते हैं —"पद तु अर्थसमाप्ति इत्याद्युक्तिसद्भावेऽपि येन केनचित् पदेन अष्टादशपदसहस्रादिप्रमाणा आचारादिग्रन्था गीयन्ते तदिह गृह्यते, तस्यैव द्वादशाङ्गश्रुतपरिमाणेऽधिकृतत्वात् श्रुतभेदानामेव चेह प्रस्तुतत्वात्। तस्य च पदस्य तथाविधाम्नायाभावात् प्रमाण न ज्ञायते।" अर्थात् अर्थसमाप्ति का नाम पद है किन्तु प्रस्तुत में जिस किसी पद से आचाराग आदि ग्रथो के अठारह

---

[1] विशेषावश्यकभाष्य, गा १००३, पृ ४६७

[2] पृ० २४३ ४

[3] पृ० ६

[4] प्रथम अध्ययन की प्रथम गाथा

[5] प्रथम श्रुतस्कन्ध का प्रथम सूत्र

हजार एव यथाक्रम अधिक पद समझने चाहिए। ऐसे ही पद का इस श्रुतज्ञानरूप द्वादशाग के परिमाण मे अधिकार है। इस प्रकार के पद के परिमाण के सम्बन्ध में हमारे पास कोई परम्परा नहीं है कि जिससे पद का निश्चित स्वरूप जाना जा सके।

नदी आदि मे उल्लिखित पदसख्या और सचेलक परपरा के आचारागादि विद्यमान ग्रन्थो की उपलब्ध श्लोकसख्या के समन्वय का किसी भी टीकाकार ने प्रयत्न नहीं किया है।

अचेलक परम्परा के राजवार्तिक, सर्वार्थसिद्धि एव श्लोकवार्तिक मे एतद्विषयक कोई उल्लेख नहीं है। जयधवला में पद के तीन प्रकार बताये गये हैं. प्रमाणपद, अर्थपद व मध्यमपद। आठ अक्षरो के परिमाण वाला प्रमाणपद है। ऐसे चार प्रमाणपदो का एक श्लोक होता है। जितने अक्षरों द्वारा अर्थ का बोध हो उतने अक्षरो वाला अर्थपद होता है। १६३४८३०७८८८ अक्षरो वाला मध्यमपद कहलाता है। धवला, गोम्मटसार एव अगपण्णत्ति में भी यही व्याख्या की गई है। आचाराग आदि में पदो की जो सख्या बताई गई है उनमें प्रत्येक पद में इतने अक्षर समझने चाहिए। इस प्रकार आचाराग के १८००० पदो के अक्षरो की सख्या २९४२६९५४१९८४००० होती है। अगपण्णत्ति आदि में ऐसी सख्या का उल्लेख किया गया है। साथ ही आचाराग के अठारह हजार पदो के श्लोको की सख्या ९१९५९२३११८७००० बताई गई है। इसी प्रकार अन्य अगो के श्लोको एव अक्षरों की सख्या भी बताई गई है। वर्तमान मे उपलब्ध अंगो से न तो सचेलकसमत पदसख्या का और न अचेलकसमत पदसख्या का मेल है।

बौद्ध ग्रथो मे उनके पिटको के परिमाण के विषय में उल्लेख उपलब्ध हैं। मज्झिमनिकाय, दीघनिकाय, सयुत्तनिकाय आदि की जो सूत्रसख्या बताई गई है उसमें भी वर्तमान मे उपलब्ध सूत्रों की सख्या से पूरा मेल नहीं है।

वैदिक परम्परा में 'शतशाख सहस्रशाख' इस प्रकार की उक्ति द्वारा वेदों की सैकड़ो-हजारों शाखाएं मानी जाती हैं। ब्राह्मणों, आरण्यको, उपनिषदों तथा महाभारत के लाखो श्लोक होने की मान्यता प्रचलित है। पुराणो के भी इतने ही श्लोक होने की कथा प्रचलित है।

अगों का क्रम

ग्यारह अंगों के क्रम में सर्वप्रथम आचाराग है। आचाराग को क्रम में सर्वप्रथम स्थान देना सर्वथा उपयुक्त है क्योंकि सघव्यवस्था में सबसे पहले आचार

की व्यवस्था अनिवार्य होती है। आचाराग की प्राथमिकता के विषय मे दो भिन्न-भिन्न उल्लेख मिलते हैं।[1] कोई कहता है कि पहले पूर्वों की रचना हुई वाद मे आचाराग आदि वने। कोई कहता है कि सर्वप्रथम आचाराग बना व बाद मे अन्य रचनाए हुई। चूर्णिकारो एव वृत्तिकारो ने इन दो परस्पर विरोधी उल्लेखो की सगति बिठाने का आपेक्षिक प्रयास किया है। फिर भी यह मानना विशेष उपयुक्त एव बुद्धिग्राह्य है कि सर्वप्रथम आचाराग की रचना हुई। 'पूर्व' शब्द के अर्थ का आधार लेकर यह कल्पना की जाती है कि पूर्वो की रचना पहले हुई, किन्तु यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि इनमें भी आचाराग आदि शास्त्र समाविष्ट ही हैं। अत पूर्वों में भी सर्वप्रथम आचार की व्यवस्था न की गई हो, ऐसा कैसे कहा जा सकता है? 'पूर्व' शब्द से केवल इतना ही ध्वनित होता है कि उस सघप्रवर्तक के सामने कोई पूर्व परम्परा अथवा पूर्व परम्परा का साहित्य विद्यमान था जिसका आधार लेकर उसने समयानुसार अथवा परिस्थिति के अनुसार कुछ परिवर्तन के साथ नई आचार-योजना इस प्रकार तैयार की कि जिसके द्वारा नवनिर्मित सघ का आध्यात्मिक विकास हो सके।

भारतीय साहित्य में भाषा आदि की दृष्टि से वेद सबसे प्राचीन हैं, ऐसा विद्वानों का निश्चित मत है। पुराण आदि भाषा वगैरह की दृष्टि से बाद की रचना मानी गई है। ऐसा होते हुए भी 'पुराण' शब्द द्वारा जो प्राचीनता का भास होता है उसके आधार पर वायुपुराण मे कहा गया है कि ब्रह्मा ने सब शास्त्रो से पहले पुराणो का स्मरण किया। उसके बाद उसके मुख से वेद निकले।[2] जैन परम्परा मे भी सभवत इसी प्रकार की कल्पना के आधार पर पूर्वो को प्रथम स्थान दिया गया हो। चूँकि पूर्व हमारे सामने नहीं हैं अत उनकी रचना आदि के विषय में विशेष कुछ नहीं कहा जा सकता।

आचाराग को सर्वप्रथम स्थान देने में प्रथम एव प्रमुख हेतु है उसका विषय। दूसरा हेतु यह है कि जहाँ-जहाँ अगो के नाम आये हैं वहा-वहा मूल मे अथवा वृत्ति में सबसे पहले आचाराग का ही नाम आया है। तीसरा हेतु यह है कि

---

[1] आचारागनिर्युक्ति, गाथा ८-९, आचारागवृत्ति, पृ० ५

[2] प्रथम सर्वशास्त्राणा पुराण ब्रह्मणा स्मृतम्।
अनन्तर च वक्त्रेभ्यो वेदास्तस्य विनि:सृता ॥

—वायुपुराण (पत्राकार), पत्र २.

इसके नाम के प्रथम उल्लेख के विषय में किसी ने कोई विसवाद अथवा विरोध खडा नहीं किया।

आचाराग के बाद जो सूत्रकृताग आदि नाम आये हैं उनके क्रम की योजना किसने किस प्रकार की, इसकी चर्चा के लिए हमारे पास कोई उल्लेखनीय साधन नहीं हैं। इतना अवश्य है कि सचेलक व अचेलक दोनो परम्पराओं में अगों का एकही क्रम है। इसमें आचाराग का नाम सर्वप्रथम आता है व बाद में सूत्रकृताग आदि का।

अगों की शैली व भाषा

शैली की दृष्टि से प्रथम अग में गद्यात्मक व पद्यात्मक दोनों प्रकार की शैली है। द्वितीय अग मे भी इसी प्रकार की शैली है। तीसरे से लेकर ग्यारहवें अग तक गद्यात्मक शैली का ही अवलम्बन लिया गया है। इनमे कहीं भी एक भी पद्य नही है, ऐसा तो नहीं कहा जा सकता किन्तु प्रधानत ये सब गद्य में ही हैं। इनमें भी ज्ञाताधर्मकथा आदि मे तो वसुदेवहिंडी अथवा कादम्बरी की गद्यशैली के समकक्ष कही जा सके ऐसी गद्यशैली का उपयोग हुआ है। यह शैली उनके रचना-समय पर प्रकाश डालने में भी समर्थ है। हमारे साहित्य मे पद्यशैली अति प्राचीन है तथा काव्यात्मक गद्यशैली इसकी अपेक्षा अर्वाचीन है। गद्य को याद रखना बहुत कठिन होता है इसलिए गद्यात्मक ग्रथों में यत्रतत्र सग्रह-गाथाएँ दे दी जाती हैं जिनसे विषय को याद रखने में सहायता मिलती है। जैन ग्रथो पर भी यही बात लागू होती है।

इस प्रसग पर यह बताना आवश्यक है कि आचाराग सूत्र में पद्यसख्या अल्प नही है। किन्तु अति प्राचीन समय से चली आने वाली हमारे पूर्वजों की एतद्विषयक अनभिज्ञता के कारण वर्तमान में आचाराग का अनेक बार मुद्रण होते हुए भी उसमे गद्य-पद्यविभाग का पूर्णतया पृथक्करण नहीं किया जा सका। ऐसा प्रतीत होता है कि वृत्तिकार शीलाक को भी एतद्विषयक पूर्ण परिचय न था। इनसे पूर्व विद्यमान चूर्णिकारो के विषय मे भी यही बात कही जा सकती है। वर्तमान महान् सशोधक श्री शुब्रिंग ने अति परिश्रमपूर्वक आचाराग के समस्त पद्यो का पृथक्करण कर हम पर महान् उपकार किया है। खेद है कि इस प्रकार का सस्करण अपने समक्ष रहते हुए भी हम नव मुद्रण आदि में उसका पूरा उपयोग नहीं कर सके। आचाराग के पद्य त्रिष्टुभ, जगती इत्यादि वैदिक पद्यों से मिलते हुए हैं।

भाषा की दृष्टि से जैन आगमो की भाषा साधारणतया अर्धमागधी कही जाती है। वैयाकरण इसे आर्ष प्राकृत कहते हैं। जैन परम्परा मे शब्द अर्थात् भाषा का विशेष महत्त्व नहीं है। जो कुछ महत्त्व है वह अर्थ अर्थात् भाव का है। इसीलिए जैन शास्त्रो ने भाषा पर कभी जोर नहीं दिया। जैन शास्त्रो में स्पष्ट बताया गया है कि चित्र-विचित्र भाषाएँ मनुष्य की चित्तशुद्धि व आत्मविकास का निर्माण नहीं करती। जीवन की शुद्धि का निर्माण तो सत् विचारो द्वारा ही होता है। भाषा तो विचारो का केवल वाहन अर्थात् माध्यम है। अतः माध्यम के अतिरिक्त भाषा का कोई मूल्य नहीं। परम्परा से चला आने वाला साहित्य भाषा की दृष्टि से परिवर्तित होता आया है। अत इसमें किसी एक भाषा का स्वरूप स्थिर रहा हुआ है, यह नहीं कहा जा सकता। इसीलिए आचार्य हेमचन्द्र ने जैन आगमो की भाषा को आर्ष प्राकृत नाम दिया है।

प्रकरणों का विषयनिर्देश

आचाराग के मूल सूत्रो के प्रकरणो का विषयनिर्देश निर्युक्तिकार ने किया है, यह उन्हीं की सूझ प्रतीत होती है। स्थानाग, समवायाग एवं विशेषावश्यकभाष्य व हारिभद्रीय आवश्यकवृत्ति आदि मे अनेक स्थानो पर इस प्रकार के क्रम का अथवा अध्ययनो के नामो का स्पष्ट उल्लेख मिलता है। समवायाग एव नदी के मूल में तो केवल प्रकरणो की सख्या ही दी गई है। अत. इन सूत्रो के कर्ताओ के सामने नामवार प्रकरणो की परम्परा विद्यमान रही होगी अथवा नहीं, यह निश्चित नहीं कहा जा सकता। इन नामो का परिचय स्थानाग आदि ग्रन्थो मे मिलता है। अतः यह निश्चित है कि अगग्रन्थो को ग्रन्थबद्ध—पुस्तकारूढ करने वाले अथवा अगग्रन्थो पर निर्युक्ति लिखने वाले को इसका परिचय अवश्य रहा होगा।

परम्परा का आधार

आचाराग के प्रारभ में ही ऐसा वाक्य आता है कि 'उन भगवान् ने इस प्रकार कहा है।' इस वाक्य द्वारा सूत्रकार ने इस बात का निर्देश किया है कि यहा जो कुछ भी कहा जा रहा है वह गुरु-परम्परा के अनुसार है, स्वकल्पित नहीं। इस प्रकार के वाक्य अन्य धर्म-परम्पराओ के शास्त्रों में भी मिलते हैं। बौद्ध पिटक ग्रन्थों में प्रत्येक प्रकरण के आदि में 'एव मे सुत। एक समय भगवा उक्कट्ठायं विहरति सुभगवने सालराजमूले।'[1]—इस प्रकार के वाक्य आते

---

[1] मज्झिमनिकाय का प्रारभ

हैं। वैदिक परम्परा में भी इस प्रकार के वाक्य मिलते हैं। ऋग्वेद की ऋचाओं में अनेक स्थानो पर पूर्व परम्परा के सूचन के लिए 'अग्नि पूर्वेभि ऋषिभि' ईडय. नूतनै उत' यो कह कर परम्परा के लिए 'पूर्वेभि.' अथवा 'नूतनै.' इत्यादि पद रखने की प्रथा स्वीकार की गई है। उपनिषदो मे कहीं प्रश्नोत्तर की पद्धति है तो कहीं अमुक ऋषि ने अमुक को कहा, इस प्रकार की प्रथा स्वीकृत है। सूत्रकृताग आदि में आचाराग से भिन्न प्रकार की वाक्यरचना द्वारा पूर्व परम्परा का निर्देश किया गया है।

परमतों का उल्लेख'

अगसूत्रो मे अनेक स्थानो पर 'एगे पवयमाणा' ऐसा कहते हुए सूत्रकार ने परमतो का भी उल्लेख किया है। परमत का विशेष नाम देने की प्रथा न होते हुए भी उस मत के विवेचन से नाम का पता लग सकता है। बुद्ध का नाम सूत्रकृताग में स्पष्ट दिया हुआ है। इसके अतिरिक्त मक्खलिपुत्र गोशाल के आजीविक मत का भी स्पष्ट नाम आता है। कही पर अन्नउत्थिया—अन्ययूथिका. अर्थात् अन्य गण वाले यो कहते हैं, इस प्रकार कहते हुए परमत का निर्देश किया गया है। आचाराग में तो नही किन्तु सूत्रकृताग आदि में कुछ स्थानों पर भगवान् पार्श्वनाथ के शिष्यो के लिए अथवा पार्श्वतीर्थ के अनुयायियों के लिए 'पासावच्चिज्जा' एव 'पासत्था' शब्दों का भी प्रयोग हुआ है। आजीविक मत के आचार्य गोशालक के छ दिशाचर सहायक थे। इन दिशाचरो के सम्बन्ध में प्राचीन टीकाकारो एव चूर्णिकारों ने कहा है कि ये पासत्थ अर्थात् पार्श्वनाथ की परम्परा के थे। कुछ स्थानो पर अन्य मत के अनुयायियो के कालोदायी आदि नाम भी आये हैं। अन्य मत के लिये सर्वत्र 'मिथ्या' शब्द का प्रयोग किया गया है अर्थात् अन्यतीर्थिक जो इस प्रकार कहते हैं वह मिथ्या है, यो कहा गया है। आचाराग में हिंसा-अहिंसा की चर्चा के प्रसग पर 'पावादुया—प्रावादुका' शब्द भी अन्य मत के वादियों के लिए प्रयुक्त हुआ है। जहा-कहीं भी अन्य मत का निरास किया गया है वहा किसी विशेष प्रकार की तार्किक युक्तियो का प्रयोग नहींवत् है। 'ऐसा कहने वाले मन्द हैं, बाल हैं, आरभ-समारभ तथा विषयों में फँसे हुए हैं। वे दीर्घकाल तक भवभ्रमण करते रहेंगे।' इस प्रकार के आक्षेप ही अधिकतर देखने को मिलते हैं। अर्थ की विशेष स्पष्टता के लिए यत्र-तत्र उदाहरण, उपमाएं व रूपक भी दिये गये हैं। सूर्यग्रहणादि से सम्बन्धित तत्कालीन मिथ्या धारणाओ का निरसन करने का भी प्रयास किया गया है। ऊँच-

नीच की जातिगत कल्पना का भी निरास किया गया है। बौद्ध पिटकों में इस प्रकार की कुश्रद्धाओं के निरसन के लिए जिस विशद चर्चा एवं तर्कपद्धति का उपयोग हुआ है उस कोटि की चर्चा का अंगसूत्रों मे अभाव दिखाई देता है।

विषय-वैविध्य

अंगग्रंथों में निम्नोक्त विषयों पर भी प्रकाश डाला गया है : स्वर्ग-नरकादि परलोक, सूर्य चन्द्रादि ज्योतिष्क देव, जम्बूद्वीपादि द्वीप, लवणादि समुद्र, विविध प्रकार के गर्भ व जन्म, परमाणु कंपन, परमाणु की शाश्वतता आदि। इस प्रकार इन सूत्रों में केवल अध्यात्म एवं उसकी साधना की ही चर्चा नहीं है अपितु तत्सम्बद्ध अन्य अनेक विषयों की भी चर्चा की गई है। इनमें कहीं भी यह नहीं कहा गया है कि अमुक प्रश्न तो अव्याकृत है अर्थात् उसका व्याकरण—स्पष्टीकरण नहीं हो सकता। यहाँ तक कि मुक्तात्मा एवं निर्वाण के विषय में भी विस्तार से चर्चा की गई है। तत्कालीन समाजव्यवस्था विद्याभ्यास की पद्धति, राज्यसंस्था, राजाओं के वैभव-विलास, मद्यपान, गणिकाओं का राज्यसंस्था में स्थान, विविध प्रकार की सामाजिक प्रणालियां, युद्ध, वादविवाद, अलंकारशाला, क्षौरशाला, जैन मुनियों की आचार-प्रणाली, अन्य मत के तापसों व परिव्राजकों की वेषभूषा, दीक्षा तथा आचार-प्रणाली, अपराधों के लिए दण्ड-व्यवस्था, जेलों के विविध प्रकार, व्यापार-व्यवसाय, जैन व अजैन उपासकों की चर्या, मनौती मनाने व पूरी करने की पद्धतियां, दासप्रथा, इन्द्र, रुद्र, स्कन्द, नाग, भूत, यक्ष शिव, वैश्रमण, हरिणेगमेषी आदि देव, विविध कलाएँ, नृत्य, अभिनय, लब्धियां, विकुर्वणाशक्ति, स्वर्ग में होने वाली चोरियां आदि, नगर, उद्यान, समवसरण (धर्म-सभा), देवासुर-संग्राम, वनस्पति आदि विविध जीव, उनका आहार, श्वासोच्छ्वास, आयुष्य, अध्यवसाय आदि अनेक विषयों पर अंगग्रंथों में पर्याप्त प्रकाश डाला गया है।

जैन परम्परा का लक्ष्य

जैन तीर्थंकरों का लक्ष्य निर्वाण है। वीतरागदशा की प्राप्ति उनका अन्तिम एवं प्रधानतम ध्येय है। जैनशास्त्र कथाओं द्वारा, तत्त्वचर्चा द्वारा अथवा स्वर्ग-नरक, सूर्य-चन्द्र आदि के वर्णन द्वारा इसी का निरूपण करते हैं। जब वेदों की रचना हुई तब वैदिक परम्परा का मुख्य ध्येय स्वर्गप्राप्ति था। इसी ध्येय को लक्ष्य में रखकर वेदों में विविध कर्मकांडों की योजना की गई है। उनमें हिंसा-अहिंसा, सत्य-असत्य, मदिरापान-अपान इत्यादि की चर्चा गौण है। धीरे-धीरे

चिन्तनप्रवाह ने स्वर्गप्राप्ति के स्थान पर निर्वाण, वीतरागता एव स्थितप्रज्ञता को प्रतिष्ठित किया। बाह्य कर्मकाड भी इसी ध्येय के अनुकूल बनें। ऐसा होते हुए भी इस नवीन परिवर्तन के साथ-साथ प्राचीन परम्परा भी चलती रही। इसी का परिणाम है कि जो ध्येय नहीं है अथवा अन्तिम साध्य नहीं है ऐसे स्वर्ग के वर्णनों को भी बाद के शास्त्रो मे स्थान मिला। ऋग्वेद के प्रारभ मे धनप्राप्ति की इच्छा से अग्नि की स्तुति की गई है जबकि आचाराग के प्रथम वाक्य मे मैं क्या था ? इत्यादि प्रकार से आत्मरूप व्यक्ति के स्वरूप का चिन्तन है। सूत्रकृतांग के प्रारभ में बन्धन व मोक्ष की चर्चा की गई है एव बताया गया है कि परिग्रह बन्धन है। थोडे से भी परिग्रह पर ममता रखने वाला दु.ख से दूर नहीं रह सकता। इस प्रकार जैन परम्परा के मूल में आत्मा व अपरिग्रह है। इसमें स्वर्गप्राप्ति का महत्त्व नहीं है। जैनग्रथों में बताया गया हे कि साधक की साधना मे जब कोई दोष रह जाता है तभी उसे स्वर्गरूप ससार मे भ्रमण करना पडता है। दूसरे शब्दो में स्वर्ग सयम का नहीं अपितु सयमगत दोष का परिणाम है। स्वर्गप्राप्ति को भवभ्रमण का नाम देकर यह सूचित किया है कि जैन परम्परा मे स्वर्ग का कोई मूल्य नहीं है। अगसूत्रों में जितनी भी कथाएँ आई हैं सब में साधको के निर्वाण को ही प्रमुख स्थान दिया गया है।

प्रकरण ३

अंगग्रंथों का अंतरंग परिचय : आचारांग

विषय
अचेलकता व सचेलकता
आचार के पर्याय
प्रथम श्रुतस्कंध के अध्ययन
द्वितीय श्रुतस्कंध की चूलिकाएँ
एक रोचक कथा
पद्यात्मक अंश
आचारांग की वाचनाएँ
आचारांग के कर्ता
अंगसूत्रों की वाचनाएँ
देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण
महाराज खारवेल
आचारांग के शब्द
ब्रह्मचर्य एवं ब्राह्मण
चतुर्वर्ण
सात वर्ण व नव वर्णान्तर
शस्त्रपरिज्ञा
आचारांग में उल्लिखित परमत
निर्ग्रन्थसमाज
आचारांग के वचनों से मिलते वचन
आचारांग के शब्दों से मिलते शब्द
जाणइ-पासइ का प्रयोग भाषाशैली के रूप में
वसुपद
वेद

आमगंध
आस्रव व परिस्रव
वर्णाभिलाषा
मुनियों के उपकरण
महावीर-चर्या
कुछ सुभाषित
द्वितीय श्रुतस्कंध
आहार
भिक्षा के योग्य कुल
उत्सव के समय भिक्षा
भिक्षा के लिए जाते समय
राजकुलों में
मक्खन, मधु, मद्य व मांस
सम्मिलित सामग्री
ग्राह्य जल
अग्राह्य भोजन
शय्यैषणा
ईर्यापथ
भाषाप्रयोग
वस्त्रधारण
पात्रैषणा
अवग्रहैषणा
मलमूत्रविसर्जन
शब्दश्रवण व रूपदर्शन
परक्रियानिषेध
महावीर-चरित
ममत्वमुक्ति
वीतरागता एवं सर्वज्ञता

तृतीय प्रकरण

अंगग्रन्थों का अंतरंग परिचय : आचारांग

अगो के बाह्य परिचय में अगग्रथो की शैली, भाषा, प्रकरण-क्रम तथा विषय-विवेचन की चर्चा की गई। अतरग परिचय में निम्नोक्त पहलुओं पर प्रकाश डाला जाएगा :—

(१) अचेलक व सचेलक दोनो परम्पराओ के ग्रथों में निर्दिष्ट अगों के विषयों का उल्लेख व उनकी वर्तमान विषयो के साथ तुलना।

(२) अगों के मुख्य नामों तथा उनके अध्ययनों के नामो की चर्चा।

(३) पाठान्तरो, वाचनाभेदो तथा छन्दो के विषय में निर्देश।

(४) अगो में उपलब्ध उपोद्घात द्वारा उनके कर्तृत्व का विचार।

(५) अगों में आने वाले कुछ आलापकों की चूर्णि, वृत्ति इत्यादि के अनुसार तुलनात्मक चर्चा।

(६) अगों में आने वाले अन्यमतसम्बन्धी उल्लेखों की चर्चा।

(७) अगो में आने वाले विशेष प्रकार के वर्णन, विशेष नाम, नगर के नाम तथा सामाजिक एव ऐतिहासिक उल्लेख।

(८) अगों में प्रयुक्त मुख्य-मुख्य शब्दों के विषय में निर्देश।

आमगध
आस्रव व परिस्रव
वर्णाभिलाषा
मुनियो के उपकरण
महावीर-चर्या
कुछ सुभाषित
द्वितीय श्रुतस्कध
आहार
भिक्षा के योग्य कुल
उत्सव के समय भिक्षा
भिक्षा के लिए जाते समय
राजकुलो में
मक्खन, मधु, मद्य व मास
सम्मिलित सामग्री
ग्राह्य जल
अग्राह्य भोजन
शय्यैषणा
ईर्यापथ
भाषाप्रयोग
वस्त्रधारण
पात्रैषणा
अवग्रहैषणा
मलमूत्रविसर्जन
शब्दश्रवण व रूपदर्शन
परक्रियानिषेध
महावीर-चरित
ममत्वमुक्ति
वीतरागता एव सर्वज्ञता

तृतीय प्रकरण

अंग ग्रंथों का अंतरंग परिचय : आचारांग

अगो के बाह्य परिचय में अगग्रथो की शैली, भाषा, प्रकरण-क्रम तथा विषय-विवेचन की चर्चा की गई। अतरग परिचय में निम्नोक्त पहलुओं पर प्रकाश डाला जाएगा —

(१) अचेलक व सचेलक दोनो परम्पराओ के ग्रथों में निर्दिष्ट अगों के विषयों का उल्लेख व उनकी वर्तमान विषयो के साथ तुलना।

(२) अगो के मुख्य नामो तथा उनके अध्ययनों के नामों की चर्चा।

(३) पाठान्तरो, वाचनाभेदो तथा छन्दों के विषय में निर्देश।

(४) अगो में उपलब्ध उपोद्घात द्वारा उनके कर्तृत्व का विचार।

(५) अगो में आने वाले कुछ आलापको की चूर्णि, वृत्ति इत्यादि के अनुसार तुलनात्मक चर्चा।

(६) अगों में आने वाले अन्यमतसम्बन्धी उल्लेखों की चर्चा।

(७) अगो में आने वाले विशेष प्रकार के वर्णन, विशेष नाम, नगर इत्यादि के नाम तथा सामाजिक एव ऐतिहासिक उल्लेख।

(८) अगो मे प्रयुक्त मुख्य-मुख्य शब्दों के विषय में निर्देश।

अचेलक परम्परा के राजवार्तिक, धवला, जयधवला, गोम्मटसार, अगपण्णत्ति आदि ग्रथो में बताया है कि आचाराग[1] में मनशुद्धि, वचनशुद्धि, कायशुद्धि, भिक्षाशुद्धि, ईर्याशुद्धि, उत्सर्गशुद्धि, शयनासनशुद्धि तथा विनयशुद्धि—इन आठ प्रकार की शुद्धियों का विधान है।

सचेलक परम्परा के समवायाग सूत्र में बताया गया है निर्ग्रन्थसम्बन्धी आचार, गोचर, विनय, वैनयिक, स्थान, गमन, चक्रमण, प्रमाण, योगयोजना, भाषा, समिति, गुप्ति, शय्या, उपधि, आहार-पानीसम्बन्धी उद्गम, उत्पाद, एषणाविशुद्धि एव शुद्धाशुद्धग्रहण, व्रत, नियम, तप, उपधान, ज्ञानाचार, दर्शनाचार, चारित्राचार, तपाचार तथा वीर्याचारविषयक सुप्रशस्त विवेचन आचाराग मे उपलब्ध है।

---

[1] (अ) प्रथम श्रुतस्कन्ध—W Schubring, Leipzig, 1910, जैन साहित्य सशोधक समिति, पूना, सन् १९२४
(आ) निर्युक्ति तथा शीलाक, जिनहस व पार्श्वचन्द्र की टीकाओं के साथ—धनपत सिंह, कलकत्ता, वि० स० १९३६
(इ) निर्युक्ति व शीलाक की टीका के साथ—आगमोदय समिति, सूरत, वि० स० १९७२-१९७३
(ई) अग्रजी अनुवाद—H Jacobi, S B E Series, Vol 22, Oxford, 1884
(उ) मूल—H Jacobi, Pali Text Society, London, 1882
(ऊ) प्रथम श्रुतस्कन्ध का जर्मन अनुवाद—Worte Mahavira, W Schubring, Leipzig, 1926
(ऋ) गुजराती अनुवाद—रवजीभाई देवराज, जैन प्रिंटिंग प्रेस, अहमदाबाद, सन् १९०२ व १९०६
(ए) गुजराती छायानुवाद—गोपालदास जीवाभाई पटेल, नवजीवन कार्यालय, अहमदावाद, वि० स० १९९२
(ऐ) हिन्दी अनुवादसहित—अमोलकऋषि, हैदराबाद, वी० स० २४४६
(ओ) प्रथम श्रुतस्कन्ध का गुजराती अनुवाद—मुनि सौभाग्यचन्द्र (सतबाल), महावीर साहित्य प्रकाशन मदिर, अहमदाबाद, सन् १९३६
(औ) सस्कृत व्याख्या व उसके हिन्दी-गुजराती अनुवाद के साथ—मुनि घासीलाल, जैन शास्त्रोद्धार समिति, राजकोट, सन् १९५७
(अं) हिन्दी छायानुवाद—गोपालदास जीवाभाई पटेल, श्वे स्था जैन कॉन्फरेंस, बम्बई, वि० स० १९९४
(अ) प्रथम श्रुतस्कन्ध का बगाली अनुवाद—हीराकुमारी, जैन श्वे० तेरापंथी महासभा, कलकत्ता, वि० स० २००९.

नदीसूत्र मे बताया गया है कि आचाराग मे श्रमण निर्ग्रंथों के आचार, गोचर, विनय, वैनयिक, शिक्षा, भाषा, अभाषा, चरणकरण, यात्रा, मात्रा तथा विविध अभिग्रहविषयक वृत्तियो एव ज्ञानाचारादि पाच प्रकार के आचार पर प्रकाश डाला गया है।

समवायाग व नन्दीसूत्र में आचारांग के विषय का निरूपण करते हुए प्रारंभ में ही 'आयार-गोयर' ये दो शब्द रखे गये हैं। ये शब्द आचारांग के प्रारंभिक अध्ययनो मे नहीं मिलते। विमोह अथवा विमोक्ष नामक अष्टम अध्ययन के प्रथम उद्देशक में 'आयार-गोयर' ऐसा उल्लेख मिलता है। इसी अध्ययन के दूसरे उद्देशक में 'आयारगोयर आइक्खे' इस वाक्य मे भी आचार-गोचरविषयक निरूपण है। अष्टम अध्ययन में साधक श्रमण के खानपान तथा वस्त्रपात्र के विषय में भी चर्चा है। इसमें उसके निवासस्थान का भी विचार किया गया है। साथ ही अचेलक—यथाजात श्रमण तथा उसकी मनोवृत्ति का भी निरूपण है। इसी प्रकार एकवस्त्रधारी, द्विवस्त्रधारी तथा त्रिवस्त्रधारी भिक्षुओ एव उनके कर्तव्यों व मनोवृत्तियो पर भी प्रकाश डाला गया है। इस आचार-गोचर की भूमिकारूप आध्यात्मिक योग्यता पर ही प्रारंभिक अध्ययनों में भार दिया गया है।

विषय

वर्तमान आचाराग मे क्या उपर्युक्त विषयों का निरूपण है? यदि है तो किस प्रकार? उपर्युक्त राजवार्तिक आदि ग्रन्थों मे आचाराग के जिन विषयो का उल्लेख है वे इतने व्यापक व सामान्य हैं कि ग्यारह अगो में से प्रत्येक अग में किसी न किसी प्रकार उनकी चर्चा आती ही है। इनका सम्बन्ध केवल आचाराग से ही नहीं है। अचेलक परम्परा के राजवार्तिक आदि ग्रन्थो मे आचाराग के श्रुतस्कन्ध, अध्ययन आदि के विषय मे कोई उल्लेख नही मिलता। उनमे केवल उसकी पदसख्या के विषय में उल्लेख आता है। सचेलक परम्परा के समवायाग तथा नन्दीसूत्र मे बताया गया है कि आचाराग के दो श्रुतस्कन्ध हैं, पचीस अध्ययन हैं। इनमे पदसख्या के विषय मे भी उल्लेख मिलते हैं। आचाराग के दो श्रुतस्कन्धो मे से प्रथम श्रुतस्कन्ध का नाम 'ब्रह्मचर्य' है। इसके नौ अध्ययन होने के कारण इसे 'नवब्रह्मचर्य' कहा गया है। द्वितीय श्रुतस्कन्ध प्रथम श्रुतस्कन्ध की चूलिकारूप है। इसका दूसरा नाम 'आचाराग्र' भी है। वर्तमान में प्रचलित पद्धति के अनुसार इसे प्रथम श्रुतस्कन्ध का परिशिष्ट भी कह सकते हैं। राजवार्तिक आदि ग्रन्थों में आचाराग का जो विषय बताया गया है वह द्वितीय श्रुतस्कन्ध में अक्षरशः

मिल आता है। इस सम्बन्ध मे निर्युक्तिकार व वृत्तिकार कहते हैं कि स्थविर पुरुषो ने शिष्यों के हित की दृष्टि से आचाराग क प्रथम श्रुतस्कन्ध के अप्रकट अर्थ को प्रकट कर—विभागश स्पष्ट कर चूलिकारूप—आचाराग्ररूप द्वितीय श्रुतस्कन्ध की रचना की है। नवब्रह्मचर्य के प्रथम अध्ययन 'शस्त्रपरिज्ञा' में समारंभ—समालभ अथवा आरभ—आलभ अर्थात् हिंसा के त्यागरूप सयम के विषय में जो विचार सामान्य तौर पर रखे गये हैं उन्ही का यथोचित विभाग कर द्वितीय श्रुतस्कन्ध में पच महाव्रतों एव उनकी भावनाओ के साथ ही साथ सयम की एकविधता, द्विविधता आदि का व चातुर्याम, पचयाम, रात्रिभोजनत्याग इत्यादि का परिचय दिया गया है। द्वितीय अध्ययन 'लोकविजय' के पाचवें उद्देशक में आनेवाले 'सव्वामगधे परिन्नाय निरामगधे परिव्वए' तथा 'अदिस्समाणे कय-विक्कएसु' इन वाक्यो मे एव आठवें विमोक्ष अथवा विमोह नामक अध्ययन के द्वितीय उद्देशक मे आने वाले 'से भिक्खू परक्कमेज्ज वा चिट्ठेज्ज वा सुसाणंसि वा रुक्खमूलंसि वा 'इस वाक्य में जो भिक्षुचर्या सक्षेप मे बताई गई है उसे दृष्टि मे रखते हुए द्वितीय श्रुतस्कन्ध में एकादश पिण्डैषणाओं का विस्तार से विचार किया गया है। इसी प्रकार द्वितीय अध्ययन के पचम उद्देशक मे निर्दिष्ट 'वत्थ पडिग्गह कबल पायपुछण ओग्गह च कडासण' को मूलभूत मानते हुए वस्त्रैषणा, पात्रैषणा, अवग्रहप्रतिमा, शय्या आदि का आचाराग्र में विवेचन किया गया है। पाचवें अध्ययन के चतुर्थ उद्देशक के 'गामाणुगाम दूइज्जमाणस्स' इस वाक्य मे आचारचूलिका के सम्पूर्ण ईर्या अध्ययन का मूल विद्यमान है। धूत नामक छठे अध्ययन के पाचवें उद्देशक के 'आइक्खे विभए किट्टे वेयवी' इस वाक्य में द्वितीय श्रुतस्कन्ध के 'भाषाजात' अध्ययन का मूल है। इस प्रकार नवब्रह्मचर्यरूप प्रथम श्रुतस्कन्ध आचार-चूलिकारूप द्वितीय श्रुतस्कन्ध का आधारस्तम्भ है।

प्रथम श्रुतस्कन्ध के उपधानश्रुत नामक नौवें अध्ययन के दो उद्देशको में भगवान् महावीर की चर्या का ऐतिहासिक दृष्टि से अति महत्त्वपूर्ण वर्णन है। यह वर्णन जैनधर्म की भित्तिरूप आतरिक एव बाह्य अपरिग्रह की दृष्टि से भी अत्यन्त महत्त्व का है। वैदिक परम्परा के हिंसारूप आलभन का सर्वथा निषेध करने वाला एव अहिंसा को ही धर्मतत्त्व बताने वाला शस्त्रपरिज्ञा नामक प्रथम अध्ययन भी कम महत्त्व का नहीं है। इसमें हिंसाप्रधान स्नानादि शौचधर्म को चुनौती दी गई है। साथ ही वैदिक व बौद्ध परम्परा के मुनियों की हिंसारूप च[illegible] के विषय में भी स्थान-स्थान पर विवेचन किया गया है

एव 'सर्व प्राणो का हनन करना चाहिए' इस प्रकार का कथन अनार्यों का है तथा 'किसी भी प्राण का हनन नहीं करना चाहिए' इस प्रकार का कथन आर्यों का है, इस मत की पुष्टि की गई है। 'अवरेण पुव्व न सरंति एगे', 'तहागया उ' इत्यादि उल्लेखो द्वारा तथागत बुद्ध के मत का निर्देश किया गया है। 'यतो वाचो निवर्तन्ते' जैसे उपनिषद्-वाक्यों से मिलते-जुलते 'सव्वे सरा नियट्टंति, तक्का जत्थ न विज्जइ' इत्यादि वाक्यों द्वारा आत्मा की अगोचरता बताई गई है। अचेलक—सर्वथा नग्न, एकवस्त्रधारी, द्विवस्त्रधारी, तथा त्रिवस्त्रधारी भिक्षुओं की चर्या से सम्बन्धित महत्त्वपूर्ण उल्लेख प्रथम श्रुतस्कन्ध में उपलब्ध हैं। इन उल्लेखो मे सचेलकता एवं अचेलकता की सगतिरूप सापेक्ष मर्यादा का प्रतिपादन है। प्रथम श्रुतस्कन्ध मे आने वाली सभी बातें जैनधर्म के इतिहास की दृष्टि से, जैनमुनियो की चर्या की दृष्टि से एवं समग्र जैनसंघ की अपरिग्रहात्मक व्यवस्था की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हैं।

अचेलकता व सचेलकता :

भगवान् महावीर की उपस्थिति में अचेलकता-सचेलकता का कोई विशेष विवाद न था। सुधर्मास्वामी के समय में भी अचेलक व सचेलक प्रथाओ की सगति थी। आचाराग के प्रथम श्रुतस्कन्ध में अचेलक अर्थात् वस्त्ररहित भिक्षु के विषय में तो उल्लेख आता है किन्तु करपात्री अर्थात् पाणिपात्री भिक्षु के सम्बन्ध में कोई स्पष्ट उल्लेख दृष्टिगोचर नहीं होता। वीरनिर्वाण के हजार वर्ष बाद सकलित कल्पसूत्र के सामाचारी-प्रकरण की २५३, २५४ एवं २५५ वीं कडिका में 'पाणिपडिग्गहियस्स भिक्खुस्स' इन शब्दो मे पाणिपात्री अथवा करपात्री भिक्षु का स्पष्ट उल्लेख उपलब्ध होता है व आगे की कडिका में 'पडिग्गहधारिस्स भिक्खुस्स' इन शब्दो में पात्रधारी भिक्षु का भी उल्लेख है। इस प्रकार सचेलक परम्परा के आगम मे अचेलक व सचेलक की भाति करपात्री एव पात्रधारी भिक्षुओ का भी स्पष्ट उल्लेख है।

आचाराग के द्वितीय श्रुतस्कन्ध में वस्त्रधारी भिक्षुओ के विषय में विशेष विवेचन आता है। इसमे सर्वथा अचेलक भिक्षु के सम्बन्ध मे स्पष्ट रूप से कोई उल्लेख नहीं मिलता। वैसे मूल में तो भिक्षु एवं भिक्षुणी जैसे सामान्य शब्दों का ही प्रयोग हुआ है। किन्तु जहा-जहा भिक्षु को ऐसे वस्त्र लेने चाहिए, ऐसे वस्त्र नही लेने चाहिए, ऐसे पात्र लेने चाहिए, ऐसे पात्र नही लेने चाहिए—इत्यादि चर्या का विधान है वहा अचेलक अथवा पाणिपात्र भिक्षु की चर्या के विषय में

कोई स्पष्ट निर्देश नही है। इससे यह अनुमान किया जा सकता है कि द्वितीय श्रुतस्कन्ध का झुकाव सचेलक प्रथा की ओर है। सभवत इसीलिए स्वय नियुक्तिकार ने इसकी रचना का दायित्व स्थविरो पर डाला है। सुधर्मास्वामी का झुकाव दोनो परम्पराओ की सापेक्ष संगति की ओर मालूम पडता है। इस झुकाव का प्रतिबिम्ब प्रथम श्रुतस्कन्ध में दिखाई देता है। दूसरा अनुमान यह भी हो सकता है कि नग्नता तथा सचेलकता (जीर्णवस्त्रधारित्व अथवा अल्पवस्त्रधारित्व) दोनो प्रथाओ की मान्यता होने के कारण जो समुदाय अपनी शारीरिक, मानसिक अथवा सामाजिक परिस्थितियो एव मर्यादाओ के कारण सचेलकता की ओर झुकने लगा हो उसका प्रतिनिधित्व दूसरे श्रुतस्कन्ध में किया गया हो। जिस युग का यह द्वितीय श्रुतस्कन्ध है उस युग मे भी अचेलकता समादरणीय मानी जाती थी एव सचेलकता की ओर झुका हुआ समुदाय भी अचेलकता को एक विशिष्ट तपश्चर्या के रूप में देखता था एव अपनी अमुक मर्यादाओ के कारण वह स्वय उस ओर नहीं जा सकता था। एतद्विषयक अनेक प्रमाण अगशास्त्रों में आज भी उपलब्ध हैं। अगसाहित्य मे अचेलकता एव सचेलकता दोनो प्रथाओ का सापेक्ष समर्थन मिलता है।

अचेलक अर्थात् यथाजात एव सचेलक अर्थात् अल्पवस्त्रधारी — इन दोनो प्रकार के साधक श्रमणो में अमुक प्रकार का श्रमण अपने को अधिक उत्कृष्ट समझे एव दूसरे को अपकृष्ट समझे, यह ठीक नहीं। यह बात आचाराग्र के मूल मे ही कही गई है। वृत्तिकार ने भी अपने शब्दो में इसी आशय को अधिक स्पष्ट किया है। उन्होने एतत्सम्बन्धी एक प्राचीन गाथा भी उद्धृत की है जो इस प्रकार है —

जो वि दुवत्थतिवत्थो बहुवत्थ अचेलओ व सथरइ।
न हु ते हीलंति पर सव्वे वि अ ते जिणाणाए॥
—द्वितीय श्रुतस्कन्ध, सू० २८६, पृ० ३२७ पर वृत्ति

कोई चाहे द्विवस्त्रधारी हो, त्रिवस्त्रधारी हो, बहुवस्त्रधारी हो अथवा निर्वस्त्र हो किन्तु उन्हे एक दूसरे की अवहेलना नहीं करनी चाहिए। निर्वस्त्र ऐसा न समझे कि मैं उत्कृष्ट हूँ और ये द्विवस्त्रधारी आदि अपकृष्ट हैं। इसी प्रकार द्विवस्त्रधारी आदि ऐसा न समझें कि हम उत्कृष्ट हैं और यह त्रिवस्त्रधारी या निर्वस्त्र श्रमण अपकृष्ट है। उन्हें एक-दूसरे का अपमान नहीं करना चाहिए क्योंकि ये सभी जिन भगवान् की आज्ञा का अनुसरण करने वाले हैं।

इससे स्पष्ट है कि निर्वस्त्र व वस्त्रधारी दोनो के प्रति मूल सूत्रकार से लगा कर वृत्तिकारपर्यन्त समस्त आचार्यो ने अपना समभाव व्यक्त किया है। उत्तराध्ययन मे आने वाले केशी-गौतमीय नामक २३वें अध्ययन के सवाद में भी इसी तथ्य का प्रतिपादन किया गया है।

आचार के पर्याय :

जहा-जहा द्वादशाग अर्थात् बारह अगग्रथो के नाम बताये गये हैं, सर्वत्र प्रथम नाम आचाराग का आता है। आचार के पर्यायवाची नाम निर्युक्तिकार ने इस प्रकार बताये हैं आयार, आचाल, आगाल, आगर, आसास, आयरिस, अग, आइण्ण, आजाति एव आमोक्ष। इन दस नामो में आदि के दो नाम भिन्न नहीं अपितु एक ही शब्द के दो रूपान्तर हैं। 'आचाल' के 'च' का लोप नहीं हुआ है जबकि 'आयार' मे 'च' लुप्त है। इसके अतिरिक्त 'आचाल' में मागधी भाषा के नियम के अनुसार 'र' का 'ल' हुआ है। 'आगाल' शब्द भी 'आयार' से भिन्न मालूम नही पडता। 'य' तथा 'ग' का प्राचीन लिपि की अपेक्षा से मिश्रण होना सभव है तथा वर्तमान हस्तप्रतियो में प्रयुक्त प्राचीन देवनागरी लिपि की अपेक्षा से भी इनका मिश्रण असम्भव नही है। ऐसी स्थिति में 'आयार' के बजाय 'आगाल' का वाचन सभव है। इसी प्रकार 'आगाल' एव 'आगर' भी भिन्न मालूम नहीं पडते। 'आगार' शब्द के 'गा' के 'आ' का ह्रस्व होने पर 'आगर' एवं 'आगार' के 'र' का 'ल' होने पर 'आगाल' होना सहज है। 'आइण्ण' (आचीर्ण) नाम में 'चर' धातु के भूतकृदत का प्रयोग हुआ है। इसे देखते हुए 'आयार' के अन्तर्गत इस नाम का भी समावेश हो जाता है। इस प्रकार आयार, आचाल, आगाल, आगर एव आइण्ण भिन्न-भिन्न शब्द नहीं अपितु एक ही शब्द के विभिन्न रूपान्तर हैं। आसास, आयरिस, अग, आजाति एव आमोक्ष शब्द आयार शब्द से भिन्न हैं। इनमें से 'अग' शब्द का सम्बन्ध प्रत्येक के साथ रहा हुआ है जैसे आयारअग अथवा आयारग इत्यादि। आयार—आचार सूत्र श्रुतरूप पुरुष का एक विशिष्ट अग है अत इसे आयारग—आचाराग कहा जाता है। 'आजाति' शब्द स्थानागसूत्र मे दो अर्थों मे प्रयुक्त हुआ है जन्म के अर्थ में व आचारदशा नामक शास्त्र के दसवें अध्ययन के नाम के रूप में। सभवतः आचारदशा व आचार के नामसाम्य के कारण आचारदशा के अमुक अध्ययन का नाम समग्र आचाराग के लिए प्रयुक्त हुआ हो। आसास आदि शेष शब्दों की कोई उल्लेखनीय विशेषता प्रतीत नही होती।

प्रथम श्रुतस्कन्ध के अध्ययन

नवब्रह्मचर्यरूप प्रथम श्रुतस्कन्ध के नो अध्ययनो के नामो का निर्देश स्थानाग व समवायाग में उपलब्ध है। इसी प्रकार का अन्य उल्लेख आचाराग-निर्युक्ति (गा० ३१-२) में भी मिलता है। तदनुसार नौ अध्ययन इस प्रकार हैं . १ सत्थपरिण्णा (शस्त्रपरिज्ञा), २ लोगविजय (लोकविजय), ३ सीओसणिज्ज (शीतोष्णीय), ४ सम्मत्त (सम्यक्त्व), ५ आवंति (यावन्त), ६ धुअ (धूत), ७. विमोह (विमोह अथवा विमोक्ष), ८ उवहाणसुअ (उपधानश्रुत), ९ महापरिण्णा (महापरिज्ञा)। नदिसूत्र की हारिभद्रीय तथा मलयगिरिकृत वृत्ति में महापरिण्णा का क्रम आठवा तथा उवहाणसुअ का क्रम नववा है। आचाराग निर्युक्ति में धुअ के बाद महापरिण्णा, उसके बाद विमोह व उसके बाद उवहाणसुअ का निर्देश है। इस प्रकार अध्ययन-क्रम मे कुछ अन्तर होते हुए भी सख्या की दृष्टि से सब एकमत हैं। इन नवों अध्ययनो का एक सामान्य नाम नवब्रह्मचर्य भी है। यहा ब्रह्मचर्य शब्द व्यापक अर्थ—सयम के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। आचाराग की उपलब्ध वाचना में छठा धुअ, सातवा महापरिण्णा, आठवा विमोह एव नववा उवहाणसुअ—इस प्रकार का क्रम है। नियुक्तिकार ने तथा वृत्तिकार शीलाक ने भी यही क्रम स्वीकार किया है। प्रस्तुत चर्चा में इसी क्रम का अनुसरण किया जाएगा।

उपर्युक्त नौ अध्ययनो में से प्रथम अध्ययन का नाम शस्त्रपरिज्ञा है। इसमें कुल मिलाकर सात उद्देशक—प्रकरण हैं। निर्युक्तिकार ने इन उद्देशको का विषयक्रम निरूपण करते हुए बताया है कि प्रथम उद्देशक में जीव के अस्तित्व का निरूपण है तथा आगे के छ उद्देशको में पृथ्वीकाय आदि छ जीवनिकायो के आरंभ-समारभ की चर्चा है। इन प्रकरणों में शस्त्र शब्द का अनेक बार प्रयोग किया गया है एव लौकिक शस्त्र की अपेक्षा सर्वथा भिन्न प्रकार के शस्त्र के अभिधेय का स्पष्ट परिज्ञान कराया गया है। अत शब्दार्थ की दृष्टि से भी इस अध्ययन का शस्त्रपरिज्ञा नाम सार्थक है।

द्वितीय अध्ययन का नाम लोकविजय है। इसमें कुल छ उद्देशक हैं। कुछ स्थानों पर 'गढिए लोए, लोए पव्वहिए, लोगविपस्सी, विइत्ता लोग, वता लोगसन्नं, लोगस्स कम्मसमारभा' इस प्रकार के वाक्यों में 'लोक' शब्द का प्रयोग तो मिलता है किन्तु सारे अध्ययन मे कही भी 'विजय' शब्द का प्रयोग नही दिखाई देता। फिर भी समग्र अध्ययन में लोकविजय का ही उपदेश

हैं, ऐसा कहा जा सकता है। यहा विजय का अर्थ लोकप्रसिद्ध जीत ही है। लोक पर विजय प्राप्त करना अर्थात् संसार के मूल कारणरूप क्रोध, मान, माया व लोभ—इन चार कषायों को जीतना। यही इस अध्ययन का सार है। निर्युक्तिकार ने इस अध्ययन के छहो उद्देशकों का जो विषयानुक्रम बताया है वह उसी रूप मे उपलब्ध है। वृत्तिकार ने भी उसीका अनुसरण किया है। इस अध्ययन का मुख्य उद्देश्य वैराग्य बढाना, संयम मे दृढ करना, जातिगत अभिमान को दूर करना, भोगो की आसक्ति से दूर रखना, भोजनादि के निमित्त होने वाले आरभ-समारभ का त्याग करवाना, ममता छुडवाना आदि है।

तृतीय अध्ययन का नाम सीओसणिज्ज—शीतोष्णीय है। इसके चार उद्देशक हैं। शीत अर्थात् शीतलता अथवा सुख एव उष्ण अर्थात् परिताप अथवा दु.ख। प्रस्तुत अध्ययन मे इन दोनो के त्याग का उपदेश है। अध्ययन के प्रारभ मे ही 'सीओसिणच्चाई' (शीतोष्णत्यागी) ऐसा शब्द प्रयोग भी उपलब्ध है। इस प्रकार अध्ययन का शीतोष्णीय नाम सार्थक है। निर्युक्तिकार ने चारो उद्देशको का विषयानुक्रम इस प्रकार बताया है: प्रथम उद्देशक में असयमी को सुप्त—सोते हुए की कोटि मे गिना गया है। दूसरे उद्देशक मे बताया है कि इस प्रकार के सुप्त व्यक्ति महान् दु.ख का अनुभव करते हैं। तृतीय उद्देशक मे कहा गया है कि श्रमण के लिए केवल दु ख सहन करना अर्थात् देहदमन करना ही पर्याप्त नही है। उसे चित्तशुद्धि की भी वृद्धि करते रहना चाहिए। चतुर्थ अध्ययन मे कषाय-त्याग, पापकर्म-त्याग एव सयमोत्कर्ष का निरूपण है। यही विषयक्रम वर्तमान में भी उपलब्ध है।

चतुर्थ अध्ययन का नाम सम्मत्त—सम्यक्त्व है। इसके चार उद्देशक हैं। प्रथम उद्देशक में अहिंसाधर्म की स्थापना व सम्यक्त्ववाद का निरूपण है। द्वितीय उद्देशक में हिंसा की स्थापना करने वाले अन्ययूथिको को अनार्य कहा गया है एव उनसे प्रश्न किया गया है कि उन्हें मन की अनुकूलता सुखरूप प्रतीत होती है अथवा मन की प्रतिकूलता? इस प्रकार इस उद्देशक में भी अहिंसाधर्म का ही प्रतिपादन किया गया है। तृतीय उद्देशक में निर्दोष तप का अर्थात् केवल देहदमन का नही अपितु चित्तशुद्धिपोषक अक्रोध, अलोभ, क्षमा, सतोष आदि गुणो की वृद्धि करने वाले तप का निरूपण है। चतुर्थ उद्देशक मे सम्यक्त्व की प्राप्ति के लिए अर्थात् सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र एव सम्यक्तप की प्राप्ति के लिए यत्न करने का उपदेश है। इस प्रकार यह अध्ययन सम्यक्त्व की प्राप्ति के लिए प्रेरणा देने वाला है। इसमें अनेक स्थानो पर 'सम्मत्तदंसिणो,

सम्म एव ति' आदि वाक्यों मे सम्मत्त—सम्यक्त्व शब्द का साक्षात् निर्देश भी है। इस प्रकार प्रस्तुत अध्ययन का सम्यक्त्व नाम सार्थक है। विषयानुक्रम की दृष्टि से भी निर्युक्तिकार व सूत्रकार में साम्य है।

निर्युक्तिकार के कथनानुसार पाचवें अध्ययन के दो नाम हैं आवंति व लोकसार। अध्ययन के प्रारभ मे, मध्य मे एव अन्त में आवति शब्द का प्रयोग हुआ है अत इसे आवति नाम देसकते हैं। इसमें जो कुछ निरूपण है वह समग्रलोक का साररूप है अत. इसे लोकसार भी कहा जा सकता है। अध्ययन के प्रारभ में ही 'लोक' शब्द का प्रयोग किया गया है। अन्यत्र भी अनेक बार 'लोक' शब्द का प्रयोग हुआ है। समग्र अध्ययन में कही भी 'सार' शब्द का प्रयोग दृष्टिगोचर नहीं होता। अध्ययन के अन्त मे शब्दातीत एव बुद्धि व तक से अगम्य आत्मतत्त्व का निरूपण है। यही निरूपण साररूप है, यों समझ कर इसका नाम लोकसार रखा गया हो, यह सभव है। इसके छ उद्देशक हैं। नियुक्तिकार ने इनका जो विषयक्रम बताया है वह आज भी उसी रूप मे उपलब्ध है। इनमें सामान्य श्रमणचर्या का प्रतिपादन है।

छठे अध्ययन का नाम धूत है। अध्ययन के आरभ मे ही 'अग्घाइ से धूय नाण' इस वाक्य में धूय—धूत शब्द का उल्लेख है। आगे भी 'धूयवाय पवेएस्सामि' यो कह कर धूतवाद का निर्देश किया है। इस प्रकार प्रस्तुत अध्ययन का धूत नाम सार्थक है। हमारी भाषा में 'अवधूत' शब्द का जो अर्थ प्रचलित है वही अर्थ प्रस्तुत धूत शब्द का भी है। इस अध्ययन के पाच उद्देशक हैं। इनमे तृष्णा को झटकने का उपदेश है। आत्मा में जो सयण याने सदन, शयन या स्वजन, उपकरण, शरीर, रस, वैभव, सत्कार आदि की तृष्णा विद्यमान है उसे झटक कर साफ कर देना चाहिए।

सातवें अध्ययन का नाम महापरिन्ना—महापरिज्ञा है। यह अध्ययन वर्तमान में अनुपलब्ध है किन्तु इस पर लिखी गई निर्युक्ति उपलब्ध है। इससे पता चलता है कि निर्युक्तिकार के सामने यह अध्ययन अवश्य रहा होगा। निर्युक्तिकार ने 'महापरिन्ना' के 'महा' एव 'परिन्ना' इन दो पदो का निरूपण करने के साथ ही परिन्ना के प्रकारों का भी निरूपण किया है एव अन्तिम गाथा में बताया है कि साधक को देवागना, नरागना, व तिर्यञ्चागना इन तीनो का मन, वचन व काया से त्याग करना चाहिए। इस परित्याग का नाम महापरिज्ञा है। इस अध्ययन का विषय निर्युक्तिकार के शब्दों

में 'मोहसमुत्था परिसहुवसग्गा' अर्थात् मोहजन्य परीषह अथवा उपसर्ग हैं। इसकी व्याख्या करते हुए वृत्तिकार शीलाकदेव कहते हैं कि सयमी श्रमण को साधना में विघ्नरूप से उत्पन्न मोहजन्य परीषहो अथवा उपसर्गों को समभावपूर्वक सहन करना चाहिए[1]। स्त्री-ससर्ग भी एक मोहजन्य परीषह ही है। भगवान् महावीरकृत आचारविधानो में ब्रह्मचर्य अर्थात् त्रिविध स्त्री-संसर्गत्याग प्रधान है। परम्परा से चले आने वाले चार यामो—चार महाव्रतो मे भगवान् महावीर ने ब्रह्मचर्य व्रत को अलग से जोडा। इससे पता चलता है कि भगवान् महावीर के समय मे एतद्विषयक कितनी शिथिलता रही होगी। इस प्रकार के उग्रशैथिल्य एवं आचारपतन के युग में कोई विघ्नसतोषी कदाचित् इस अध्ययन के लोप में निमित्त बना हो तो कोई आश्चर्य नहीं।

आठवें अध्ययन के दो नाम मालूम पडते हैं एक विमोक्ख अथवा विमोक्ष और दूसरा विमोह। अध्ययन के मध्य में 'इच्चेय विमोहायतणं' तथा 'अणुपुव्वेण विमोहाइं' व अध्ययन के अन्त मे 'विमोहन्नयरं हियं' इन वाक्यो में स्पष्ट रूप से 'विमोह' शब्द का उल्लेख है। यही शब्दप्रयोग अध्ययन के नामकरण में निमित्तभूत मालूम होता है। निर्युक्तिकार ने नाम के रूप में 'विमोक्ख—विमोक्ष' शब्द का उल्लेख किया है। वृत्तिकार शीलाकसूरि मूल व निर्युक्ति दोनो का अनुसरण करते हैं। अर्थ की दृष्टि से विमोह व विमोक्ख मे कोई तात्त्विक भेद नहीं है। प्रस्तुत अध्ययन के आठ उद्देशक हैं। उद्देशकों की सख्या की दृष्टि से यह अध्ययन शेष आठों अध्ययनो से बडा है। निर्युक्तिकार का कथन है कि इन आठो उद्देशकों में विमोक्ष विषयक निरूपण है। विमोक्ष का अर्थ है अलग हो जाना—साथ में न रहना। विमोह का अर्थ है मोह न रखना—ससर्ग न करना। प्रथम उद्देशक में बताया है कि जिन अनगारों का आचार अपने आचार से मिलता न दिखाई दे उनके संसर्ग से मुक्त रहना चाहिए—उनके साथ नही रहना चाहिए अथवा वैसे अनगारो से मोह नही रखना चाहिए—उनका सग नहीं करना चाहिए। दूसरे उद्देशक में बताया है कि आहार, पानी, वस्त्र आदि दूषित हों तो उनका त्याग करना चाहिए—उनसे अलग रहना चाहिए—उन पर मोह नहीं रखना चाहिए। तृतीय उद्देशक में बताया है कि साधु के शरीर का कपन देख कर यदि कोई गृहस्थ शका करे कि यह साधु कामावेश के कारण काँपता है

---

[1] सप्तमे त्वयम्—सयमादिगुणयुक्तस्य कदाचिद् मोहसमुत्था परीषहा उपसर्गा वा प्रादुर्भवेयु ते सम्यक् सोढव्या —पृ० ६

तो उसकी शका को दूर करना चाहिए—उसे शका से मुक्त करना चाहिए—उसका शकारूप जो मोह है उसे दूर करना चाहिए। आगे के उद्देशकों में उपकरण एव शरीर के विमोक्ष अथवा विमोह के सम्बन्ध में प्रकाश डाला गया है जिसका सार यह है कि यदि ऐसी शारीरिक परिस्थिति उत्पन्न हो जाय कि सयम की रक्षा न हो सके अथवा स्त्री आदि के अनुकूल अथवा प्रतिकूल उपसर्ग होने पर सयम-भग की स्थिति पैदा हो जाय तो विवेकपूर्वक जीवन का मोह छोड देना चाहिए अर्थात् शरीर आदि से आत्मा का विमोक्ष करना चाहिए।

नवें अध्ययन का नाम उवहाणसुय–उपधानश्रुत है। इसमें भगवान् महावीर की गभीर ध्यानमय व घोरतपोमय साधना का वर्णन है। उपधान शब्द तप के पर्याय के रूप मे जैन प्रवचन मे प्रसिद्ध है। इसीलिए इसका नाम उपधानश्रुत रखा गया मालूम होता है। निर्युक्तिकार ने इस अध्ययन के नाम के लिए 'उवहाणसुय शब्द का प्रयोग किया है। इसके चार उद्देशक हैं। प्रथम उद्देशक में दीक्षा लेने के बाद भगवान् को जो कुछ सहन करना पडा उसका वर्णन है। उन्होंने सवप्रकार की हिंसा का त्याग कर अहिंसामय चर्या स्वीकार की। वे हेमत ऋतु में अर्थात् कडकडाती ठडी में घरबार छोड कर निकल पडे एव कठोर प्रतिज्ञा की कि 'इस वस्त्र से शरीर को ढकूगा नहीं' इत्यादि। द्वितीय एव तृतीय उद्देशक मे भगवान् ने कैसे-कैसे स्थानों मे निवास किया एव वहा उन्हें कैसे कैसे परीषह सहन करने पडे, यह बताया गया है। चतुर्थ उद्देशक में बताया है कि भगवान् ने किस प्रकार तपश्चर्या की, भिक्षाचर्या में क्या क्या व कैसा-कैसा शुष्क भोजन लिया, कितने समय तक पानी पिया व न पिया, इत्यादि। पहले 'आचार' के जो पर्यायवाची शब्द बताये है उनमे एक 'आइण्ण' शब्द भी है। आइण्ण का अर्थ है आचीर्ण अर्थात् आचरित। आचाराग में जिस प्रकार की चर्या का वर्णन किया गया है, वैसी ही चर्या का जिसने आचरण किया है उसका इस अध्ययन में वर्णन है। इसी को दृष्टि में रखते हुए सम्पूर्ण आचाराग का एक नाम 'आइण्ण' भी रखा गया है।

आचाराग के प्रथम श्रुतस्कन्ध के नौ अध्ययनों के सब मिलाकर ५१ उद्देशक हैं। इनमें से सातवें अध्ययन महापरिज्ञा के सातो उद्देशको का लोप हो जाने के कारण वर्तमान में ४४ उद्देशक ही उपलब्ध हैं। निर्युक्तिकार ने इन सब उद्देशकों का विषयानुक्रम बताया है।

द्वितीय श्रुतस्कन्ध की चूलिकाएँ :

आचारांग का द्वितीय श्रुतस्कन्ध पाँच चूलिकाओं में विभक्त है। इनमें से प्रथम चार चूलिकाएँ तो आचारांग में ही हैं किन्तु पाँचवीं चूलिका विशेष विस्तृत होने के कारण आचारांग से भिन्न कर दी गई है जो निशीथसूत्र के नाम से एक अलग ग्रन्थ के रूप में उपलब्ध है। नन्दिसूत्रकार ने कालिक सूत्रों की गणना में 'निसीह' नामक जिस शास्त्र का उल्लेख किया है वह आचाराग्र—आचार-चूलिका का यही प्रकरण हो सकता है। इसका दूसरा नाम आचारकल्प अथवा आचारप्रकल्प भी है जिसका उल्लेख निर्युक्ति, स्थानांग व समवायांग में मिलता है।

आचाराग्र की चार चूलिकाओं में से प्रथम चूलिका के सात अध्ययन हैं : १. पिण्डैषणा, २ शय्यैषणा, ३. ईर्यैषणा ४ भाषाजातैषणा, ५ वस्त्रैषणा, ६ पात्रैषणा, ७ अवग्रहैषणा। द्वितीय चूलिका के भी सात अध्ययन हैं १. स्थान, २ निषीधिका, ३ उच्चारप्रस्रवण, ४ शब्द, ५ रूप, ६ परक्रिया, ७. अन्योन्यक्रिया। तृतीय चूलिका में भावना नामक एक ही अध्ययन है। चतुर्थ चूलिका में भी एक ही अध्ययन है जिसका नाम विमुक्ति है। इस प्रकार चारों चूलिकाओं में कुल सोलह अध्ययन हैं। इन अध्ययनों के नामों की योजना तदन्तर्गत विषयों को ध्यान में रखते हुए निर्युक्तिकार ने की प्रतीत होती है। पिण्डैषणा आदि समस्त नामों का विवेचन निर्युक्तिकार ने निक्षेपपद्धति द्वारा किया हैं। पिण्ड का अर्थ है आहार, शय्या[1] का अर्थ है निवासस्थान, ईर्या का अर्थ है गमनागमन प्रवृत्ति, भाषाजात का अर्थ है भाषासमूह, अवग्रह का अर्थ है गमनागमन की स्थानमर्यादा। वस्त्र, पात्र, स्थान, शब्द व रूप का वही अर्थ है जो सामान्यतया प्रचलित है। निषीधिका अर्थात् स्वाध्याय एव ध्यान करने का स्थान, उच्चारप्रस्रवण अर्थात् दीर्घशंका एवं लघुशंका, परक्रिया अर्थात् दूसरों द्वारा की जाने वाली सेवाक्रिया, अन्योन्यक्रिया अर्थात् परस्पर की जाने वाली अनुचित क्रिया, भावना अर्थात् चिन्तन, विमुक्ति अर्थात् वीतरागता।

---

[1] मूल में सेज्जा व सिज्जा शब्द है। इसका संस्कृत रूप 'सद्या' मानना विशेष उचित होगा। निषद्या और सद्या ये दोनों समानार्थक शब्द हैं तथा सदन, सद्म आदि शब्द वसति-निवास-स्थान के सूचक हैं परंतु प्राचीन लोगों ने सेज्जा व सिज्जा का संस्कृत रूप 'शय्या' स्वीकार किया है। हेमचंद्र जैसे प्रखर प्रतिभाशाली वैयाकरण ने भी 'शय्या' का 'सेज्जा' बनाने का नियम दिया है। सदन, सद्म और सद्या ये सभी पर्यायवाची शब्द हैं।

पिण्डैषणा अध्ययन मे ग्यारह उद्देशक हैं जिनमे बताया गया है कि श्रमण को अपनी साधना के अनुकूल सयम-पोषण के लिए आहार-पानी किस प्रकार प्राप्त करना चाहिए। सयम-पोषक निवासस्थान की प्राप्ति के सम्बन्ध में शय्यैषणा नामक द्वितीय अध्ययन में सविस्तर विवेचन है। इसके तीन उद्देशक हैं। ईर्यैषणा अध्ययन मे कैसे चलना, किस प्रकार के मार्ग पर चलना आदि का विवेचन है। इसके भी तीन उद्देशक हैं। भाषाजात अध्ययन में श्रमण को किस प्रकार की भाषा बोलनी चाहिए, किसके साथ कैसे बोलना चाहिए आदि का निरूपण है। इसमे दो उद्देशक हैं। वस्त्रैषणा अध्ययन मे वस्त्र किस प्रकार प्राप्त करना चाहिए इत्यादि का विवेचन है। इसमें भी दो उद्देशक हैं। पात्रैषणा नामक अध्ययन में पात्र के रखने व प्राप्त करने का विधान है। इसके भी दो उद्देशक हैं। अवग्रहैषणा अध्ययन में श्रमण को अपने लिए स्वीकार करने के मर्यादित स्थान को किस प्रकार प्राप्त करना चाहिए, यह बताया गया है। इसके भी दो उद्देशक हैं। इस प्रकार प्रथम चूलिका के कुल मिलाकर पचीस उद्देशक हैं।

द्वितीय चूलिका के सातो अध्ययन उद्देशक रहित हैं। प्रथम अध्ययन में स्थान एव द्वितीय मे निषीधिका की प्राप्ति के सम्बन्ध मे प्रकाश डाला गया है। तृतीय में उच्चारप्रस्रवणविषयक स्थान के विषय में विवेचन है। चतुर्थ व पचम अध्ययन में क्रमश. शब्द व रूपविषयक निरूपण है जिसमें बताया गया है कि किसी भी प्रकार के शब्द व रूप से श्रमण में रागद्वेष उत्पन्न नहीं होना चाहिये। छठे मे परक्रिया एवं सातवें में अन्योन्यक्रियाविषयक विवेचन है।

प्रथम श्रुतस्कन्ध मे जो आचार बताया गया है उसका आचरण किसने किया है? इस प्रश्न का उत्तर तृतीय चूलिका में है। इसमें भगवान् महावीर के चरित्र का वर्णन है प्रथम श्रुतस्कन्ध के नवम अध्ययन उपधानश्रुत मे भगवान् के जन्म, माता-पिता, स्वजन इत्यादि के विषय मे कोई उल्लेख नहीं है। इन्हीं सब बातो का वर्णन तृतीय चूलिका में है। इसमें पाँच महाव्रतों एव उनकी पाँच-पांच भावनाओं का स्वरूप भी बताया गया है। इस प्रकार 'भावना' के वर्णन के कारण इस चूलिका का भावना नाम सार्थक है।

चतुर्थ चूलिका में केवल ग्यारह गाथाएँ हैं जिनमें विभिन्न उपमाओ द्वारा वीतराग के स्वरूप का वर्णन किया गया है। अन्तिम गाथा में सबसे अन्त में 'विमुच्चइ' क्रियापद है। इसी को दृष्टि मे रखते हुए इस चूलिका का नाम विमुक्ति रखा गया है।

एक रोचक कथा :

उपर्युक्त चार चूलिकाओं में से अन्तिम दो चूलिकाओ के विषय मे एक रोचक कथा मिलती है। यद्यपि निर्युक्तिकार ने यह स्पष्ट बताया है कि आचाराग्र की पाँचों चूलिकाएँ स्थविरकृत हैं फिर भी आचार्य हेमचन्द्र ने तृतीय व चतुर्थ चूलिका के सम्बन्ध मे एक ऐसी कथा दी है जिसमें इनका सम्बन्ध महाविदेह क्षेत्र मे विराजित सीमधर तीर्थङ्कर के साथ जोडा गया है। यह कथा परिशिष्ट पर्व के नवम सर्ग में है। इसका सम्बन्ध स्थूलभद्र के भाई श्रियक की कथा से है। श्रियक की बडी बहन साध्वी यक्षा के कहने से श्रियक ने उपवास किया और वह मर गया। श्रियक की मृत्यु का कारण यक्षा अपनेको मानती रही। किन्तु वह श्रीसघ द्वारा निर्दोष घोषित की गई एव उसे श्रियक की हत्या का कोई प्रायश्चित्त नहीं दिया गया। यक्षा श्रीसघ के इस निर्णय से सन्तुष्ट न हुई। उसने घोषणा की कि जिन भगवान् खुद यदि यह निर्णय दें कि मैं निर्दोष हूँ तभी मुझे सन्तोष हो सकता है। तब समस्त श्रीसघ ने शासनदेवी का आह्वान करने के लिए काउसग्ग—कायोत्सर्ग—ध्यान किया। ऐसा करने पर तुरन्त शासनदेवी उपस्थित हुई एव साध्वी यक्षा को अपने साथ महाविदेह क्षेत्र में विराजित सीमधर भगवान् के पास ले गई। सीमकर भगवान् ने उसे निर्दोष घोषित किया एव प्रसन्न होकर श्रीसघ के लिए निम्नोक्त चार अध्ययनो का उपहार दिया : भावना, विमुक्ति, रतिकल्प और विचित्रचर्या। श्रीसघ ने यक्षा के मुख से सुन कर प्रथम दो अध्ययनो को आचाराग की चूलिका के रूप एव अन्तिम दो अध्ययनो को दशवैकालिक की चूलिका के रूप मे जोड दिया।

हेमचन्द्रसूरिलिखित इस कथा के प्रामाण्य-अप्रामाण्य के विषय में चर्चा करने की कोई आवश्यकता नहीं। उन्होने यह घटना कहाँ से प्राप्त की, यह अवश्य शोधनीय है। दशवैकालिक निर्युक्ति, आचाराग-निर्युक्ति, हरिभद्रकृत दशवैकालिक-वृत्ति, शीलाककृत आचाराग वृत्ति आदि मे इस घटना का कोई उल्लेख नही है।

पद्यात्मक अश

आचाराग-प्रथमश्रुतस्कन्ध के विमोह नामक अष्टम अध्ययन का सम्पूर्ण आठवाँ उद्देशक पद्यमय है। उपधानश्रुत नामक सम्पूर्ण नवम अध्ययन भी पद्यमय है। यह बिलकुल स्पष्ट है। इसके अतिरिक्त द्वितीय अध्ययन लोकविजय, तृतीय अध्ययन शीतोष्णीय एव षष्ठ अध्ययन धूत में कुछ पद्य बिलकुल स्पष्ट हैं। इन पद्यो के अतिरिक्त आचाराग मे ऐसे अनेक पद्य और है जो मुद्रित प्रतियो में गद्य के रूप में

छपे हुए हैं। चूर्णिकार कहीं-कही 'गाहा' (गाथा) शब्द द्वारा मूल के पद्यभाग का निर्देश करते हैं किन्तु वृत्तिकार ने तो शायद ही ऐसा कहीं किया हो। आचाराग के प्रथम श्रुतस्कध के सम्पादक श्री शुब्रिग ने अपने सस्करण में समस्त पद्यो का स्पष्ट पृथक्करण किया है एव उनके छदो पर भी जर्मन भाषा में पर्याप्त प्रकाश डाला है तथा बताया है कि इनमें आर्या, जगती, त्रिष्टुभ, वैतालीय, श्लोक आदि का प्रयोग हुआ है। साथ ही बौद्ध पिटकमथ सुत्तनिपात के पद्यो के साथ आचाराग-प्रथमश्रुतस्कन्ध के पद्यो की तुलना भी की है। आश्चर्य है कि शीलाक से लेकर दीपिकाकार तक के प्राचीन व अर्वाचीन वृत्तिकारो का ध्यान आचाराग के पद्य-भाग के पृथक्करण की ओर नहीं गया। वर्तमान भारतीय सशोधको, सपादकों एव अनुवादको का ध्यान भी इस ओर न जा सका, यह खेद का विषय है।

आचाराग्ररूप द्वितीय श्रुतस्कन्ध की प्रथम दो चूलिकाए पूरी गद्य मे हैं। तृतीय चूलिका मे दो-चार जगह पद्य का प्रयोग भी दृष्टिगोचर होता है। इसमे महावीर की सम्पत्ति के दान के सम्बन्ध में उपलब्ध वर्णन छ. आर्याओ में है। महावीर द्वारा दीक्षाशिविका मे बैठ कर ज्ञातखण्ड वन की ओर किये गये प्रस्थान का वर्णन भी ग्यारह आर्याओ में है। भगवान् जिस समय सामायिक चारित्र अगीकार करने के लिए प्रतिज्ञावचन का उच्चारण करते हैं उस समय उपस्थित जनसमूह इस प्रकार शान्त हो जाता है मानो वह चित्रलिखित हो। इस दृश्य का वर्णन भी दो आर्याओं मे है। आगे पाच महाव्रतो की भावनाओं का वर्णन करते समय अपरिग्रह व्रत की भावना के वर्णन में पाच अनुष्टुभो का प्रयोग किया गया है। इस प्रकार भावना नामक तृतीय चूलिका में कुल चौबीस पद्य हैं। शेष सम्पूर्ण अंश गद्य में है। विमुक्ति नामक चतुर्थ चूलिका पूरी पद्यमय है। इसमें कुल ग्यारह पद्य हैं जो उपजाति जैसे किसी छद मे लिखे गये प्रतीत होते हैं। सुत्तनिपात के आमगधसुत्त मे भी ऐसे छद का प्रयोग हुआ है। इस छद में प्रत्येक पाद में बारह अक्षर होते हैं। इस प्रकार पूरे द्वितीय श्रुतस्कन्ध मे कुल पैंतीस पद्यों का प्रयोग हुआ है।

आचाराग की वाचनाए

नदिसूत्र व समवायाग मे लिखा है कि आचाराग की अनेक वाचनाएँ हैं। वर्तमान में ये सब वाचनाएँ उपलब्ध नहीं हैं किन्तु शीलाक की वृत्ति मे स्वीकृत पाठरूप एक वाचना व उसमें नागार्जुनीय के नाम से उल्लिखित दूसरी वाचना — इस प्रकार दो वाचनाएँ प्राप्य हैं। नागार्जुनीय वाचना के पाठभेद वर्तमान पाठ

से बिलकुल विलक्षण हैं। उदाहरण के तौर पर वर्तमान मे आचाराग में एक पाठ इस प्रकार उपलब्ध है —

कट्टु एवं अवयाणओ बिइया मद्स्स बालिया लद्धा हुरत्था।
—आचाराग अ. ५, उ १, सू १४५

इस पाठ के बजाय नागार्जुनीय पाठ इस प्रकार है —

जे खलु विसए सेवई सेवित्ता णालोएइ, परेण वा पुट्ठो निण्हवइ, अहवा तं परं सएण वा दोसेण पाविट्ठयरेण वा दोसेण उवलिंपिज्ज त्ति।

आचार्य शीलाक ने अपनी वृत्ति मे जो पाठ स्वीकार किया है उसमें और नागार्जुनीय पाठ में शब्द रचना की दृष्टि से बहुत अन्तर है, यद्यपि आशय में भिन्नता नही है। नागार्जुनीय पाठ स्वीकृत पाठ की अपेक्षा अति स्पष्ट एव विशद है। उदाहरण के लिए एक और पाठ लें —

विराग रूवेसु गच्छेज्जा महया–खुड्डएहिं (एसु) वा।
—आचाराग अ ३, उ ३, सू. ११७.

इस पाठ के बजाय नागार्जुनीय पाठ इस प्रकार है —

विसयम्मि पचगम्मि वि दुविहम्मि तिय तियं।
भावओ सुट्ठु जाणित्ता स न लिप्पइ दोसु वि॥

नागार्जुनीय पाठान्तरो के अतिरिक्त वृत्तिकार ने और भी अनेको पाठभेद दिये हैं, जैसे 'मोयणाए' के स्थान पर 'भोयणाए', 'चित्ते' के स्थान पर 'चिट्ठे', 'पियाउया' के स्थान पर 'पियायया' इत्यादि। सभव है, इस प्रकार के पाठभेद मुखाग्रश्रुत की परम्परा के कारण अथवा प्रतिलिपिकार के लिपिदोष के कारण हुए हो। इन पाठ भेदों मे विशेष अर्थभेद नहीं है। हा, कभी-कभी इनके अर्थ में अन्तर अवश्य दिखाई देता है। उदाहरण के लिए 'जातिमरणमोयणाए' का अर्थ है जन्म और मृत्यु से मुक्ति प्राप्त करने के लिए, जब कि 'जातिमरणभोयणाए' का अर्थ है जातिभोज अथवा मृत्युभोज के उद्देश्य से। यहा जातिभोज का अर्थ है जन्म के प्रसग पर किया जाने वाला भोजन का समारभ अथवा जातिविशेष के निमित्त होने वाला भोजन-समारभ एव मृत्युभोज का अर्थ है श्राद्ध अथवा मृतकभोजन।

आचारांग के कर्ता

आचारांग के कर्तृत्व के सम्बन्ध मे इसका उपोद्घातात्मक प्रथम वाक्य कुछ प्रकाश डालता है। वह वाक्य इस प्रकार है सुयं मे आउस। तेण भगवया एवमक्खाय—हे चिरजीव! मैंने सुना है कि उन भगवान् ने ऐसा कहा है। इस वाक्य रचना से यह स्पष्ट है कि कोई तृतीय पुरुष कह रहा है कि मैंने ऐसा सुना है कि भगवान् ने यो कहा है। इसका अर्थ यह है कि मूल वक्ता भगवान् है। जिसने सुना है वह भगवान् का साक्षात् श्रोता है। और उसी श्रोता से सुनकर जो इस समय सुना रहा है, वह श्रोता का श्रोता है। यह परम्परा वैसी ही है जैसे कोई एक महाशय प्रवचन करते हो, दूसरे महाशय उस प्रवचन को सुनते हों एव सुन कर उसे तीसरे महाशय को सुनाते हो। इससे यह ध्वनित होता है कि भगवान् के मुख से निकले हुए शब्द तो वे ज्यो ज्यो बोलते गये त्यो-त्यों विलीन होते गये। बाद में भगवान् की कही हुई बात बताने का प्रसंग आने पर सुनने वाले महाशय यो कहते हैं कि मैंने भगवान् से ऐसा सुना है। इसका अर्थ यह हुआ कि लोगों के पास भगवान् के खुद के शब्द नही आते अपितु किसी सुनने वाले के शब्द आते हैं। शब्दो का ऐसा स्वभाव होता है कि वे जिस रूप मे बाहर आते हैं उसी रूप में कभी नहीं टिक सकते। यदि उन्हें उसी रूप मे सुरक्षित रखने की कोई विशेष व्यवस्था हो तो अवश्य वैसा हो सकता है। वर्तमान युग में इस प्रकार के वैज्ञानिक साधन उपलब्ध हैं। ऐसे साधन भगवान् महावीर के समय में विद्यमान न थे। अत हमारे सामने जो शब्द हैं वे साक्षात् भगवान् के नहीं अपितु उनके हैं जिन्होंने भगवान् से सुने हैं। भगवान् के खुद के शब्दो व श्रोता के शब्दो मे शब्द के स्वरूप की दृष्टि से वस्तुत बहुत अन्तर है। फिर भी ये शब्द भगवान् के ही हैं, इस प्रकार की छाप मन परसे किसी भी प्रकार नही मिट सकती। इसका कारण यह है कि शब्दयोजना भले ही श्रोता की हो, आशय तो भगवान् का ही है।

अगसूत्रों की वाचनाएँ :

ऐसी मान्यता है कि पहले भगवान् अपना आशय प्रकट करते हैं, बाद में उनके गणधर अर्थात् प्रधान शिष्य उस आशय को अपनी अपनी शैली में शब्दबद्ध करते हैं। भगवान् महावीर के ग्यारह गणधर थे। वे भगवान् के आशय को अपनी-अपनी शैली व शब्दो में ग्रथित करने के विशेष अधिकारी थे। इससे फलित होता है कि एक गणधर की जो शैली व शब्दरचना हो वही दूसरे की हो भी

और न भी हो। इसीलिए कल्पसूत्र मे कहा गया है कि प्रत्येक गणधर की वाचना भिन्न-भिन्न थी। वाचना अर्थात् शैली एव शब्दरचना। नन्दिसूत्र व समवायाग में भी बताया गया है कि प्रत्येक अङ्गसूत्र की वाचना परित्त (अर्थात् परिमित) अथवा एक से अधिक (अर्थात् अनेक) होती है।

ग्यारह गणधरो में से कुछ तो भगवान् की उपस्थिति में ही मुक्ति प्राप्त कर चुके थे। सुधर्मास्वामी नामक गणधर सब गणधरो में दीर्घायु थे। अत भगवान् के समस्त प्रवचन का उत्तराधिकार उन्हें मिला था। उन्होंने उसे सुरक्षित रखा एव अपनी शैली व शब्दो में ग्रथित कर आगे की शिष्य-प्रशिष्यपरम्परा को सौंपा। इस शिष्य-प्रशिष्यपरम्परा ने भी सुधर्मास्वामी की ओर से प्राप्त वसीयत को अपनी शैली व शब्दो मे बहुत लम्बे काल तक कण्ठस्थ रखा।

आचार्य भद्रबाहु के समय मे एक भयङ्कर व लम्बा दुष्काल पडा। इस समय पूर्वगतश्रुत तो सर्वथा नष्ट ही हो गया। केवल भद्रबाहु स्वामी को वह याद था जो उनके बाद अधिक लम्बे काल तक न टिक सका। वर्तमान में इसका नाम निशान भी उपलब्ध नहीं है। इस समय जो एकादश अङ्ग उपलब्ध हैं उनके विषय मे परिशिष्ट पर्व के नवम सर्ग में बताया गया है कि दुष्काल समाप्त होने के बाद (वीरनिर्वाण दूसरी शताब्दी) पाटलिपुत्र में श्रमणसघ एकत्रित हुआ व जो अङ्ग, अध्ययन, उद्देशक आदि याद थे उन सबका सकलन किया ततश्च एकादशाङ्गानि श्रीसघ अमेलयत् तदा। जिन-प्रवचन के सकलन की यह प्रथम सगीति—वाचना है। इसके बाद देश में दूसरा दुष्काल पडा जिससे कण्ठस्थ श्रुत को फिर हानि पहुँची। दुष्काल समाप्त होने पर पुन (वीरनिर्वाण ९वी शताब्दी) मथुरा मे श्रमणसघ एकत्रित हुआ व स्कन्दिलाचार्य की अध्यक्षता में जिन-प्रवचन की द्वितीय वाचना हुई। मथुरा में होने के कारण इसे माथुरी वाचना भी कहते हैं। भद्रबाहुस्वामी एव स्कन्दिलाचार्य के समय के दुष्काल व श्रुतसकलन का उल्लेख आवश्यकचूर्णि तथा नन्दिचूर्णि में उपलब्ध है। इनमें दुष्काल का समय बारह वर्ष बताया गया है। माथुरी वाचना की समकालीन एक अन्य वाचना का उल्लेख करते हुए कहावली नामक ग्रन्थ में कहा गया है कि वलभी नगरी में आचार्य नागार्जुन की अध्यक्षता में भी इसी प्रकार की एक वाचना हुई थी जिसे वालभी अथवा नागार्जुनीय वाचना कहते हैं। इन वाचनाओं में जिन-प्रवचन ग्रन्थबद्ध किया गया, इसका समर्थन करते हुए आचार्य हेमचन्द्र योगशास्त्र की वृत्ति (योगशास्त्रप्रकाश, ३, पत्र २०७) में लिखते हैं : जिनवचनं च दुष्षमाकालवशात्

उच्छिन्नप्रायमिति मत्वा भगवद्भिर्नागार्जुन-स्कन्दिलाचार्यप्रभृतिभिः पुस्तकेषु न्यस्तम्—काल की दुष्षमता के कारण (अथवा दुष्षमाकाल के कारण) जिनप्रवचन को लगभग उच्छिन्न हुआ जान कर आचार्य नागार्जुन, स्कन्दिलाचार्य आदि ने उसे पुस्तकबद्ध किया। माथुरी वाचना वालभी वाचना से अनेक स्थानों पर अलग पड गई। परिणामत वाचनाओ मे पाठभेद हो गये। ये दोनो श्रुतधर आचार्य यदि परस्पर मिलकर विचार-विमर्श करते तो सम्भवत वाचनाभेद टल सकता किन्तु दुर्भाग्य से ये न तो वाचना के पूर्व इस विषय मे कुछ कर सके और न वाचना के पश्चात् ही परस्पर मिल सके। यह वाचनाभेद उनकी मृत्यु के बाद भी वैसा का वैसा ही बना रहा। इसे वृत्तिकारो ने 'नागार्जुनीया पुन एव पठन्ति' आदि वाक्यों द्वारा निर्दिष्ट किया है। माथुरी व वालभी वाचना सम्पन्न होने के बाद वीरनिर्वाण ९८० अथवा ९९३ में देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण ने वलभी में सघ एकत्रित कर उस समय में उपलब्ध समस्त श्रुत को पुस्तकबद्ध किया। उस समय से सारा श्रुत ग्रन्थबद्ध हो गया। तब से उसके विच्छेद अथवा विपर्यास की सम्भावना बहुत कम हो गई। देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण ने किसी प्रकार की नई वाचना का प्रवर्तन नही किया अपितु जो श्रुतपाठ पहले की वाचनाओ में निश्चित हो चुका था उसी को एकत्र कर व्यवस्थित रूप से ग्रन्थबद्ध किया। एतद्विषयक उपलब्ध उल्लेख इस प्रकार है —

वलहिपुरम्मि नयरे देवड्ढिपमुहेण समणसघेण।
पुत्थइ आगमु लिहिओ नवसयअसीआओ वीराओ॥

अर्थात् वलभीपुर नामक नगर में देवर्द्धिप्रमुख श्रमणसघ ने वीरनिर्वाण ९८० (मतान्तर से ९९३) में आगमो को ग्रन्थबद्ध किया।

देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण

वर्तमान समस्त जैन प्रबन्ध-साहित्य में कहीं भी देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण' जैसे

---

१ आगमों को पुस्तकारूढ करनेवाले आचार्य का नाम देवर्द्धिगणिक्षमाश्रमण है। अमुक विशिष्ट गीतार्थ पुरुषको 'गणी' और 'क्षमाश्रमण' कहा जाता है। जैसे विशेषावश्यकभाष्य के प्रणेता जिनभद्रगणिक्षमाश्रमण हैं वैसे ही उच्चकोटि के गीतार्थ देवर्द्धि भी गणिक्षमाश्रमण है। इनकी गुरुपरपरा का क्रम कल्पसूत्र की स्थविरावली में दिया हुआ है। इनको किसी भी ग्रन्थकार ने वाचक-वश में नहीं गिनाया। अत वाचकों से ये गणिक्षमाश्रमण अलग मालूम होते है और वाचकवंश की परपरा अलग मालूम होती है। नन्दिसूत्रके

महाप्रभावक आचार्य का सम्पूर्ण जीवन-वृत्तांत उपलब्ध नहीं होता। इन्होंने किन परिस्थितियो मे आगमो को ग्रन्थबद्ध किया ? उस समय अन्य कौन श्रुतधर पुरुष विद्यमान थे ? वलभीपुर के सघ ने उनके इस कार्य मे किस प्रकार की सहायता की ? इत्यादि प्रश्नो के समाधान के लिए वर्तमान मे कोई भी सामग्री उपलब्ध नहीं है। आश्चर्य तो यह है कि विक्रम की चौदहवी शताब्दी में होनेवाले आचार्य प्रभाचन्द्र ने अपने प्रभावक-चरित्र मे अन्य अनेक महाप्रभावक पुरुषो का जीवन चरित्र दिया है। किन्तु इनका कहीं निर्देश भी नहीं किया है।

देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण ने आगमो को ग्रन्थबद्ध करते समय कुछ महत्त्वपूर्ण बातें ध्यान में रखी। जहाँ जहाँ शास्त्रो मे समान पाठ आये वहाँ-वहाँ उनकी पुनरावृत्ति न करते हुए उनके लिए एक विशेष ग्रथ अथवा स्थान का निर्देश कर दिया, जैसे 'जहा उववाइए', 'जहा पण्णवणाए' इत्यादि। एक ही ग्रथ में वही बात बार-बार आने पर उसे पुन पुन न लिखते हुए 'जाव' शब्द का प्रयोग करते हुए उसका अन्तिम शब्द लिख दिया, जैसे 'णागकुमारा जाव विहरति,' तेण कालेण जाव परिसा णिग्गया' इत्यादि। इसके अतिरिक्त उन्होंने महावीर के बाद की कुछ महत्त्वपूर्ण घटनाएँ भी आगमो मे जोड दी। उदाहरण के लिए स्थानाग मे उल्लिखित दस गण भगवान् महावीर के निर्वाण के बहुत समय बाद

प्रणेता देववाचक नाम के आचार्य है। उनकी गुरुपरपरा नदिसूत्र की स्थविरावली में दी है और वे स्पष्टरूप से वाचकवश की परपरा में है अत देववाचक और देवर्द्धिगणिक्षमाश्रमण अलग-अलग आचार्य के नाम है तथा किसी प्रकार से कदाचित् गणिक्षमाश्रमण पद और वाचक पद भिन्न नहीं है ऐसा मानने पर भी इन दोनों आचार्यों की गुरुपरपरा भी एक-सी नहीं मालूम होती। इसलिए भी ये दोनों भिन्न भिन्न आचार्य हैं। प्रश्न-पद्धति नामक छोटे से ग्रन्थ में लिखा है कि नदिसूत्र देववाचक ने बनाया है और पाठों को वारवार न लिखना पड़े इसलिए देववाचककृत नन्दिसूत्र की साक्षी पुस्तकारूढ करते समय देवर्द्धिगणिक्षमाश्रमण ने दी है। ये दोनों आचार्य भिन्न भिन्न होने पर ही प्रश्नपद्धति का यह उल्लेख सगत हो सकता है। प्रश्नपद्धति के कर्ता के विचार से ये दोनों एक ही होते तो वे ऐसा लिखते कि नदिसूत्र देववाचक की कृति है और अपनी ही कृति की साक्षी देवर्द्धि ने दी है, परतु उन्होंने ऐसा न लिखकर ये दोनों भिन्न भिन्न हों, इस प्रकार निर्देश किया है। प्रश्नपद्धति के कर्ता मुनि हरिश्चन्द्र हैं जो अपने को नवागीवृत्तिकार या अभयदेवसूरिके शिष्य कहते है। —देखो प्रश्नपद्धति, पृ० २

उत्पन्न हुए। यही बात जमालि को छोडकर शेष निह्नवो के विषय में भी कही जा सकती है। पहले से चली आने वाली माथुरी व वालभी इन दो वाचनाओ में से देवर्द्धिगणि ने माथुरी वाचना को प्रधानता दी। साथ ही वालभी वाचना के पाठभेद को भी सुरक्षित रखा। इन दो वाचनाओ में सगति रखने का भी उन्होंने भरसक प्रयत्न किया एव सबका समाधान कर माथुरी वाचना को प्रमुख स्थान दिया।

महाराज खारवेल

महाराज खारवेल ने भी अपने समय मे जैन प्रवचन के समुद्धार के लिए श्रमण-श्रमणियो एव श्रावक श्राविकाओ का बृहद् सघ एकत्र किया। खेद है कि इस सम्बन्ध मे किसी भी जैन ग्रथ मे कोई उल्लेख उपलब्ध नही है। महाराज खारवेल ने कलिगगत खडगिरि व उदयगिरि पर एतद्विषयक जो विस्तृत लेख खुदवाया है उसमे इस सम्बन्ध में स्पष्ट उल्लेख है। यह लेख पूरा प्राकृत में है। इसमें कलिग मे भगवान् ऋषभदेव के मन्दिर की स्थापना व अन्य अनेक घटनाओ का उल्लेख है। वर्तमान में उपलब्ध 'हिमवत् थेरावली' नामक प्राकृत सस्कृतमिश्रित पट्टावली मे महाराज खारवेल के विषय मे स्पष्ट उल्लेख है कि उन्होंने प्रवचन का उद्धार किया।

आचाराग के शब्द

उपर्युक्त तथ्यो को ध्यान में रखते हुए आचाराग के कर्तृत्व का विचार करने पर यह स्पष्ट प्रतीत होगा कि इसमे आशय तो भगवान् महावीर का ही है। रही बात शब्दो की। हमारे सामने जो शब्द हैं वे किसके हैं? इसका उत्तर इतना सरल नहीं है। या तो ये शब्द सुधर्मास्वामी के हैं या जम्बूस्वामी के हैं या उनके बाद होने वाले किसी सुविहित गीतार्थ के हैं। फिर भी इतना निश्चित है कि ये शब्द इतने पैने हैं कि सुनते ही सीधे हृदय में घुस जाते हैं। इससे मालूम होता है कि ये किसी असाधारण अनुभवात्मक आध्यात्मिक परा काष्ठा पर पहुँचे हुए पुरुष के हृदय में से निकले हुए हैं एव सुनने वाले ने भी इन्हें उसी निष्ठा से सुरक्षित रखा है। अत इसमें तनिक भी सन्देह नहीं कि ये शब्द सुधर्मास्वामी की वाचना का अनुसरण करने वाले हैं। सभव है इनमे सुधर्मा के खुद के ही शब्दो का प्रतिबिम्ब हो। यह भी असम्भव नहीं कि इन प्रतिबिम्बरूप शब्दों में से अमुक शब्द भगवान् महावीर के खुद के शब्दो के प्रतिबिम्ब के रूप में हों, अमुक शब्द सुधर्मास्वामी के वचनों के

प्रतिबिम्ब के रूप मे हों, अमुक शब्द गीतार्थ महापुरुषो के शब्दो की प्रतिध्वनि के रूप में हो। इनमे से कौन से शब्द किस कोटि के है, इसका पृथक्करण यहाँ सम्भव नहीं। वर्तमान में हम गुरुनानक, कबीर, नरसिंह मेहता, आनन्दघन, यशोविजय उपाध्याय आदि के जो भजन-स्तवन गाते हैं उनमे मूल को अपेक्षा कुछ कुछ परिवर्तन दिखाई देता है। इसी प्रकार का थोडा-बहुत परिवर्तन आचारांग के प्रथम श्रुतस्कन्ध मे प्रतीत होता है। यही बात सूत्रकृतांग के प्रथम श्रुतस्कन्ध के विषय मे भी कही जा सकती है। शेष अंगो के विषय मे ऐसा नही कह सकते। ये गीतार्थ स्थविरो की रचनाएँ हैं। इनमे महावीर आदि के शब्दो का आधिक्य न होते हुए भी उनके आशय का अनुसरण तो है ही।

ब्रह्मचर्य एव ब्राह्मण

आचारांग का दूसरा नाम बभचेर अर्थात् ब्रह्मचर्य है। इस नाम मे 'ब्रह्म' और 'चर्य' ये दो शब्द हैं। निर्युक्तिकार ने ब्रह्म की व्याख्या करते हुए नामत ब्रह्म, स्थापनात ब्रह्म, द्रव्यत ब्रह्म एव भावत ब्रह्म—इस प्रकार ब्रह्म के चार भेद बतलाये हैं। नामत ब्रह्म अर्थात् जो केवल नाम से ब्रह्म—ब्राह्मण है। स्थापनात ब्रह्म का अर्थ है चित्रित ब्रह्म अथवा ब्राह्मणो की निशानी रूप यज्ञोपवीतादि युक्त चित्रित आकृति अथवा मिट्टी आदि द्वारा निर्मित वैसा आकार—मूर्ति—प्रतिमा। अथवा जिन मनुष्यों में बाह्य चिह्नो द्वारा ब्रह्मभाव की स्थापना—कल्पना की गई हो, जिनमें ब्रह्मपद के अर्थानुसार गुण भले ही न हो वह स्थापनात ब्रह्म—ब्राह्मण कहलाता है। यहाँ ब्रह्म शब्द का ब्राह्मण अर्थ विवक्षित है। मूलत तो ब्रह्म शब्द ब्रह्मचर्य का ही वाचक है। चूँकि ब्रह्मचर्य सयम रूप है अत ब्रह्म शब्द सत्रह प्रकार के सयम का सूचक भी है। इसका समर्थन स्वयं निर्युक्तिकार ने (२८ वी गाथा में) किया है। ऐसा होते हुए भी स्थापनात ब्रह्म का स्वरूप समझाते हुए निर्युक्तिकार ने यज्ञोपवीतादियुक्त और ब्राह्मणगुणवर्जित जाति ब्राह्मण को भी स्थापनात ब्रह्म क्यो कहा ? किसी दूसरे को अर्थात् क्षत्रिय, वैश्य अथवा शूद्र को स्थापनात ब्रह्म क्यो नहीं कहा ? इसका समाधान यह है कि जिस काल में आचारांगसूत्र की योजना हुई वह काल भगवान् महावीर व सुधर्मा का था। उस काल में ब्रह्मचर्य धारण करने वाले अधिकांशत ब्राह्मण होते थे। किसी समय ब्राह्मण वास्तविक अर्थ मे ब्रह्मचारी थे किन्तु जिस काल की यह सूत्रयोजना है उस काल में ब्राह्मण अपने ब्राह्मणधर्म से अर्थात् ब्राह्मण के यथार्थ आचार से च्युत हो गये थे। फिर भी ब्राह्मण जाति के बाह्य चिह्नों को

धारण करने के कारण ब्राह्मण ही माने जाते थे। इस प्रकार उस समय गुण नहीं किन्तु जाति ही ब्राह्मणत्व का प्रतीक मानी जाने लगी। सुत्तनिपात के ब्राह्मणधम्मिकसुत्त (चूलवग्ग, सू० ७) में भगवान् बुद्ध ने इस विषय में सुन्दर चर्चा की है। उसका सार नीचे दिया है —

श्रावस्ती नगरी मे जेतवनस्थित अनाथपिण्डिक के उद्यान में आकर ठहरे हुए भगवान् बुद्ध से कोशल देश के कुछ वृद्ध व कुलीन ब्राह्मणो ने आकर प्रश्न किया —' हे गौतम ! क्या आजकल के ब्राह्मण प्राचीन ब्राह्मणो के ब्राह्मणधर्म के अनुसार आचरण करते हुए दिखाई देते हैं ?'' बुद्ध ने उत्तर दिया—"हे ब्राह्मणो ! आजकल के ब्राह्मण पुराने ब्राह्मणों के ब्राह्मणधर्म के अनुसार आचरण करते हुए दिखाई नही देते।'' ब्राह्मण कहने लगे – "हे गौतम ! प्राचीन ब्राह्मणधर्म क्या है, यह हमे बताइए।" बुद्ध ने कहा—"प्राचीन ब्राह्मण ऋषि सयतात्मा एव तपस्वी थे। वे पाच इन्द्रियो के विषयो का त्याग कर आत्मचिन्तन करते। उनके पास पशु न थे, धन न था। स्वाध्याय ही उनका धन था। वे ब्राह्मनिधि का पालन करते। लोग उनके लिए श्रद्धापूर्वक भोजन बना कर द्वार पर तैयार रखते व उन्हें देना उचित समझते। वे अवध्य थे एव उनके लिए किसी भी कुटुम्ब मे आने-जाने की कोई रोक टोक न थी। वे अडतालीस वर्ष तक कौमार ब्रह्मचर्य का पालन करते एव प्रज्ञा व शील का सम्पादन करते। ऋतुकाल के अतिरिक्त वे अपनी प्रिय स्त्री का सहवास भी स्वीकार नही करते। वे ब्रह्मचर्य, शील, आर्जव, मार्दव, तप, समाधि, अहिंसा एव क्षान्ति की स्तुति करते। उस समय के सुकुमार, उन्नतस्कन्ध, तेजस्वी एवं यशस्वी ब्राह्मण स्वधर्मानुसार आचरण करते तथा कृत्य-अकृत्य के विषय मे सदा दक्ष रहते। वे चावल, आसन, वस्त्र, घी, तेल, आदि पदार्थ भिक्षा द्वारा अथवा धार्मिक रीति से एकत्र कर यज्ञ करते। यज्ञ में वे गोवध नही करते। जब तक वे ऐसे थे तब तक लोग सुखी थे। किन्तु राजा से दक्षिणा मे प्राप्त सपत्ति एव अलकृत स्त्रियो जैसी अत्यन्त क्षुद्र वस्तु से उनकी बुद्धि बदली। दक्षिणा में प्राप्त गोवृन्द एव सुन्दर स्त्रियो में ब्राह्मण लुब्ध हुए। वे इन पदार्थों के लिए राजा इक्ष्वाकु के पास गये और कहने लगे कि तेरे पास खूब धन धान्य है, खूब सम्पत्ति है। इसलिए तू यज्ञ कर। उस यज्ञ में सम्पत्ति प्राप्त कर ब्राह्मण धनाढ्य हुए। इस प्रकार लोलुप हुए ब्राह्मणो की तृष्णा अधिक बढ़ी और वे पुन इक्ष्वाकु के पास गये व उसे समझाया। तब उसने यज्ञ में लाखों गायें मारीं'' इत्यादि।

सुत्तनिपात के इस उल्लेख से प्राचीन ब्राह्मणो व पतित ब्राह्मणों का थोडा-बहुत परिचय मिलता है। निर्युक्तिकार ने पतित ब्राह्मणो को चित्रित ब्राह्मणों की कोटि में रखते हुए उनकी धर्मविहीनता एव जडता की ओर सकेत किया।

चतुर्वर्ण

निर्युक्तिकार कहते हैं कि पहले केवल एक मनुष्य जाति थी। बाद मे भगवान् ऋषभदेव के राज्यारूढ होने पर उसके दो विभाग हुए। बाद में शिल्प एवं वाणिज्य प्रारभ होने पर उसके तीन विभाग हुए तथा श्रावकधर्म की उत्पत्ति होने पर उसीके चार विभाग हो गये। इस प्रकार निर्युक्ति की मूल गाथा मे सामान्यतया मनुष्य जाति के चार विभागो का निर्देश किया गया है। उसमे किसी वर्णविशेष का नामोल्लेख नही है। टीकाकार शीलाक ने वर्णों के विशेष नाम बताते हुए कहा है कि जो मनुष्य भगवान् के आश्रित थे वे 'क्षत्रिय' कहलाये। अन्य सब 'शूद्र' गिने गये। वे शोक एव रोदनस्वभावयुक्त थे अत 'शूद्र' के रूप मे प्रसिद्ध हुए। बाद मे अग्नि की खोज होने पर जिन्होने शिल्प एवं वाणिज्य अपनाया वे 'वैश्य' कहलाये। बाद मे जो लोग भगवान् के बताये हुए श्रावकधर्म का परमार्थत पालन करने लगे एव 'मत हनो, मत हनो' ऐसी घोषणा कर अहिंसा-धर्म का उद्घोष करने लगे वे माहन' अर्थात् 'ब्राह्मण' के रूप में प्रसिद्ध हुए।

ऋग्वेद के पुरुष सूक्त में निर्दिष्ट चतुर्वर्ण की उत्पत्ति से यह क्रम बिलकुल भिन्न है। यहां सर्वप्रथम क्षत्रिय, फिर शूद्र, फिर वैश्य और अन्त में ब्राह्मण की उत्पत्ति बताई गई है जबकि उक्त सूक्त मे सर्वप्रथम ब्राह्मण, बाद में क्षत्रिय, उसके बाद वैश्य और अ त मे शूद्र की उत्पत्ति बताई है। निर्युक्तिकार ने ब्राह्मणोत्पत्ति का प्रसग ध्यान में रखते हुए अन्य सात वर्णों एव नौ वर्णान्तरो की उत्पत्ति का क्रम भी बताया है। इन सब वर्ण-वर्णान्तरों का समावेश उन्होंने स्थापना-ब्रह्म में किया है।

इस सम्बन्ध मे चूर्णिकार ने जो निरूपण किया है वह निर्युक्तिकार से कुछ भिन्न मालूम पडता है। चूर्णि मे बताया गया है कि भगवान् ऋषभदेव के समय मे जो राजा के आश्रित थे वे क्षत्रिय हुए तथा जो राजा के आश्रित न थे वे गृहपति कहलाये। बाद में अग्नि की खोज होने के उपरान्त उन गृहपतियो मे से जो शिल्प तथा वाणिज्य करने वाले थे वे वैश्य हुए। भगवान् के प्रव्रज्या लेने व भरत का राज्याभिषेक होने के बाद भगवान् के उपदेश द्वारा श्रावकधर्म की उत्पत्ति होने के अनन्तर ब्राह्मण उत्पन्न हुए। ये श्रावक धर्मप्रिय थे तथा 'मा

धारण करने के कारण ब्राह्मण ही माने जाते थे। इस प्रकार उस समय गुण नही किन्तु जाति ही ब्राह्मणत्व का प्रतीक मानी जाने लगी। सुत्तनिपात के ब्राह्मणधम्मिकसुत्त (चूलवग्ग, सू० ७) में भगवान् बुद्ध ने इस विषय मे सुन्दर चर्चा की है। उसका सार नीचे दिया है —

श्रावस्ती नगरी मे जेतवनस्थित अनाथपिण्डिक के उद्यान में आकर ठहरे हुए भगवान् बुद्ध से कोशल देश के कुछ वृद्ध व कुलीन ब्राह्मणो ने आकर प्रश्न किया —' हे गौतम ! क्या आजकल के ब्राह्मण प्राचीन ब्राह्मणो के ब्राह्मणधर्म के अनुसार आचरण करते हुए दिखाई देते हैं ?" बुद्ध ने उत्तर दिया—"हे ब्राह्मणो ! आजकल के ब्राह्मण पुराने ब्राह्मणो के ब्राह्मणधर्म के अनुसार आचरण करते हुए दिखाई नही देते।" ब्राह्मण कहने लगे – "हे गोतम ! प्राचीन ब्राह्मणधर्म क्या है, यह हमे बताइए।" बुद्ध ने कहा—"प्राचीन ब्राह्मण ऋषि सयतात्मा एव तपस्वी थे। वे पाच इन्द्रियो के विषयो का त्याग कर आत्मचिन्तन करते। उनके पास पशु न थे, धन न था। स्वाध्याय ही उनका धन था। वे ब्रह्मनिधि का पालन करते। लोग उनके लिए श्रद्धापूर्वक भोजन बना कर द्वार पर तैयार रखते व उन्हें देना उचित समझते। वे अवध्य थे एव उनके लिए किसी भी कुटुम्ब में आने-जाने की कोई रोक टोक न थी। वे अडतालीस वर्ष तक कौमार ब्रह्मचर्य का पालन करते एव प्रज्ञा व शील का सम्पादन करते। ऋतुकाल के अतिरिक्त वे अपनी प्रिय स्त्री का सहवास भी स्वीकार नही करते। वे ब्रह्मचर्य, शील, आर्जव, मार्दव, तप, समाधि, अहिंसा एव क्षान्ति की स्तुति करते। उस समय के सुकुमार, उन्नतस्कन्ध, तेजस्वी एव यशस्वी ब्राह्मण स्वधर्मानुसार आचरण करते तथा कृत्य-अकृत्य के विषय मे सदा दक्ष रहते। वे चावल, आसन, वस्त्र, घी, तेल, आदि पदार्थ भिक्षा द्वारा अथवा धार्मिक रीति से एकत्र कर यज्ञ करते। यज्ञ मे वे गोवध नही करते। जब तक वे ऐसे थे तब तक लोग सुखी थे। किन्तु राजा से दक्षिणा में प्राप्त सपत्ति एव अलकृत स्त्रियो जैसी अत्यन्त क्षुद्र वस्तु से उनकी बुद्धि बदली। दक्षिणा मे प्राप्त गोवृन्द एव सु दर स्त्रियो में ब्राह्मण लुब्ध हुए। वे इन पदार्थों के लिए राजा इक्ष्वाकु के पास गये और कहने लगे कि तेरे पास खूब धन धान्य है, खूब सम्पत्ति है। इसलिए तू यज्ञ कर। उस यज्ञ में सम्पत्ति प्राप्त कर ब्राह्मण धनाढ्य हुए। इस प्रकार लोलुप हुए ब्राह्मणों को तृष्णा अधिक बढी और वे पुन इक्ष्वाकु के पास गये व उसे समझाया। तब उसने यज्ञ में लाखों गायें मारी" इत्यादि।

सुत्तनिपात के इस उल्लेख से प्राचीन ब्राह्मणो व पतित ब्राह्मणों का थोडा-बहुत परिचय मिलता है। निर्युक्तिकार ने पतित ब्राह्मणो को चित्रित ब्राह्मणो की कोटि में रखते हुए उनकी धर्मविहीनता एव जडता की ओर सकेत किया।

चतुर्वर्ण

निर्युक्तिकार कहते हैं कि पहले केवल एक मनुष्य जाति थी। बाद मे भगवान् ऋषभदेव के राज्यारूढ होने पर उसके दो विभाग हुए। बाद मे शिल्प एवं वाणिज्य प्रारभ होने पर उसके तीन विभाग हुए तथा श्रावकधर्म की उत्पत्ति होने पर उसीके चार विभाग हो गये। इस प्रकार निर्युक्ति की मूल गाथा मे सामान्यतया मनुष्य जाति के चार विभागो का निर्देश किया गया है। उसमें किसी वर्णविशेष का नामोल्लेख नहीं है। टीकाकार शीलाक ने वर्णों के विशेष नाम बताते हुए कहा है कि जो मनुष्य भगवान् के आश्रित थे वे 'क्षत्रिय' कहलाये। अन्य सब 'शूद्र' गिने गये। वे शोक एव रोदनस्वभावयुक्त थे अत 'शूद्र' के रूप मे प्रसिद्ध हुए। बाद मे अग्नि की खोज होने पर जिन्होने शिल्प एवं वाणिज्य अपनाया वे 'वैश्य' कहलाये। बाद में जो लोग भगवान् के बताये हुए श्रावकधर्म का परमार्थत पालन करने लगे एव 'मत हनो, मत हनो' ऐसी घोषणा कर अहिंसा धर्म का उद्घोष करने लगे वे माहन' अर्थात् 'ब्राह्मण' के रूप मे प्रसिद्ध हुए।

ऋग्वेद के पुरुष सूक्त में निर्दिष्ट चतुर्वर्ण की उत्पत्ति से यह क्रम बिलकुल भिन्न है। यहाँ सर्वप्रथम क्षत्रिय, फिर शूद्र, फिर वैश्य और अन्त में ब्राह्मण की उत्पत्ति बताई गई है जबकि उक्त सूक्त मे सर्वप्रथम ब्राह्मण, बाद मे क्षत्रिय, उसके बाद वैश्य और अन्त मे शूद्र की उत्पत्ति बताई है। निर्युक्तिकार ने ब्राह्मणोत्पत्ति का प्रसग ध्यान में रखते हुए अन्य सात वर्णो एव नौ वर्णान्तरो की उत्पत्ति का क्रम भी बताया है। इन सब वर्ण-वर्णान्तरो का समावेश उन्होने स्थापना-ब्रह्म मे किया है।

इस सम्बन्ध मे चूर्णिकार ने जो निरूपण किया है वह निर्युक्तिकार से कुछ भिन्न मालूम पडता है। चूर्णि मे बताया गया है कि भगवान् ऋषभदेव के समय में जो राजा के आश्रित थे वे क्षत्रिय हुए तथा जो राजा के आश्रित न थे वे गृहपति कहलाये। बाद मे अग्नि की खोज होने के उपरान्त उन गृहपतियो में से जो शिल्प तथा वाणिज्य करने वाले थे वे वैश्य हुए। भगवान् के प्रव्रज्या लेने व भरत का राज्याभिषेक होने के बाद भगवान् के उपदेश द्वारा श्रावकधर्म की उत्पत्ति होने के अनन्तर ब्राह्मण उत्पन्न हुए। ये श्रावक धर्मप्रिय थे तथा 'मा

हणो, मा हणो' रूप अहिंसा का उद्घोष करने वाले थे अत लोगों ने उन्हें माहण–ब्राह्मण नाम दिया। ये ब्राह्मण भगवान् के आश्रित थे। जो भगवान् के आश्रित न थे तथा किसी प्रकार का शिल्प आदि नहीं करते थे व अश्रावक थे वे शोकातुर व द्रोहस्वभावयुक्त होने के कारण शूद्र कहलाये। 'शूद्र' शब्द के 'शू' का अर्थ शोकस्वभावयुक्त एव 'द्र' का अर्थ द्रोहस्वभावयुक्त किया गया है। निर्युक्तिकार ने चतुर्वर्ण का क्रम क्षत्रिय, शूद्र, वैश्य व ब्राह्मण—यह बताया है जबकि चूर्णिकार के अनुसार यह क्रम क्षत्रिय, वैश्य, ब्राह्मण व शूद्र—इस प्रकार है। इस क्रम-परिवर्तन का कारण सम्भवत वैदिक परम्परा का प्रभाव है।

सात वर्ण व नव वर्णान्तर

निर्युक्तिकार ने व तदनुसार चूर्णिकार तथा वृत्तिकार ने सात वर्णो व नौ वर्णान्तरों का उत्पत्ति का जो क्रम बताया है वह इस प्रकार है —

ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य व शूद्र ये चार मूल वर्ण हैं। इनमे से ब्राह्मण व क्षत्रियाणी के सयोग से उत्पन्न होनेवाला उत्तम क्षत्रिय, शुद्ध क्षत्रिय अथवा सकर क्षत्रिय कहलाता है। यह पचम वर्ण है। क्षत्रिय व वैश्य-स्त्री के सयोग से उत्पन्न हाने वाला उत्तम वैश्य, शुद्ध वैश्य अथवा सकर वैश्य कहलाता है। यह षष्ठ वर्ण है। इसी प्रकार वैश्य व शूद्रा के सयोग से उत्पन्न होने वाला उत्तम शूद्र, शुद्ध शूद्र अथवा संकर शूद्ररूप सप्तम वर्ण है। ये सात वर्ण हुए। ब्राह्मण व वैश्य-स्त्री के सयोग से उत्पन्न होने वाला अबष्ठ नामक प्रथम वर्णान्तर है। इसी प्रकार क्षत्रिय व शूद्रा के सयोग से उग्र, ब्राह्मण व शूद्रा के सयोग से निषाद अथवा पाराशर, शूद्र व वैश्य-स्त्री के सयोग से अयोगव, वैश्य व क्षत्रियाणी के सयोग से मागध, क्षत्रिय व ब्राह्मणी के सयोग से सूत, शूद्र व क्षत्रियाणी के सयोग से क्षत्तृक, वैश्य व ब्राह्मणी के सयोग से वैदेह एव शूद्र व ब्राह्मणी के सयोग से चाडाल नामक अन्य आठ वर्णान्तरो की उत्पत्ति बताई गई है। इनके अतिरिक्त कुछ अन्य वर्णान्तर भी हैं। उग्र व क्षत्रियाणी के सयोग से उत्पन्न होने वाला श्वपाक, वैदेह व क्षत्रियाणी के सयोग से उत्पन्न होने वाला वैणव, निषाद व अबष्ठी अथवा शूद्रा के सयोग से उत्पन्न होने वाला बोक्कस, शूद्र व निषादी के सयोग से उत्पन्न होने वाला कुक्कुटक अथवा कुक्कुरक कहलाता है।

इस प्रकार वर्णो व वर्णान्तरो की उत्पत्ति का स्वरूप बताते हुए चूर्णिकार स्पष्ट शब्दो में लिखते हैं कि 'एव स्वच्छदमतिविगप्पित' अर्थात् वैदिकपरपरा में ब्राह्मण आदि की उत्पत्ति के विषय में जो कुछ कहा गया है वह सब स्वच्छन्द-

मतियों की कल्पना है। उपर्युक्त वर्ण-वर्णान्तर सम्बन्धी समस्त विवेचन मनुस्मृति (अ० १०, श्लोक० ४–४५) में उपलब्ध है। चूर्णिकार व मनुस्मृतिकार के उल्लेखो मे कहीं-कहीं नाम आदि में थोडा थोडा अन्तर दृष्टिगोचर होता है।

शस्त्रपरिज्ञा

आचाराग के प्रथम श्रुतस्कन्ध के प्रथम अध्ययन का नाम सत्थपरिन्ना अर्थात् शस्त्रपरिज्ञा है। शस्त्रपरिज्ञा अर्थात् शस्त्रो का ज्ञान। आचाराग श्रमण-ब्राह्मण के आचार से सम्बन्धित ग्रथ है। उसमे कही भी युद्ध अथवा सेना का वर्णन नहीं है। ऐसी स्थिति मे प्रथम अध्ययन मे शस्त्रों के सम्बन्ध मे विवेचन कैसे सम्भव हो सकता है? ससार मे लाठी, तलवार, खंजर, बन्दूक आदि की ही शस्त्रो के रूप मे प्रसिद्धि है। आज के वैज्ञानिक युग में अणुबम, उद्‌जनबम आदि भी शस्त्र के रूप में प्रसिद्ध हैं। ऐसे शस्त्र स्पष्ट रूप से हिंसक हैं, यह सर्वविदित है। आचाराग के कर्ता की दृष्टि से क्रोध, मान, माया, लोभ, राग, द्वेष, काम, ईर्ष्या मत्सर आदि कषाय भी भयकर शस्त्र हैं। इतना ही नही, इन कषायो द्वारा ही उपर्युक्त शस्त्रास्त्र उत्पन्न हुए हैं। इस दृष्टि से कषायजन्य समस्त प्रवृत्तियाँ शस्त्र-रूप हैं। कषाय के अभाव मे कोई भी प्रवृत्ति शस्त्ररूप नही है। यही भगवान् महावीर का दर्शन व चिन्तन है। आचाराग के शस्त्रपरिज्ञा नामक प्रथम अध्ययन में कषायरूप अथवा कषायजन्य प्रवृत्तिरूप शस्त्रो का ही ज्ञान कराया गया है। इसमे बताया गया है कि जो बाह्य शौच के बहाने पृथ्वी, जल इत्यादि का अमर्यादित विनाश करते हैं वे हिंसा तो करते ही हैं, चोरी भी करते हैं। इसी का विवेचन करते हुए चूर्णिकार ने कहा है कि 'चउसट्ठीए मट्टियाहि स ण्हाति' अर्थात् वह चौंसठ (बार) मिट्टी से स्नान करता है। कुछ वैदिकों की मान्यता है कि भिन्न भिन्न अगो पर कुल मिला कर चौंसठ बार मिट्टी लगाने पर ही पवित्र हुआ जा सकता है। मनुस्मृति (अ० ५, श्लो० १३५–१४५) में बाह्य शौच अर्थात् शरीर-शुद्धि व पात्र आदि की शुद्धि के विषय में विस्तृत विधान है। उसमें विभिन्न क्रियाओं के बाद शुद्धि के लिए किस-किस अग पर कितनी कितनी बार मिट्टी व पानी का प्रयोग करना चाहिए, इसका स्पष्ट उल्लेख है। इस विधान में गृहस्थ, ब्रह्मचारी, वनवासी एव यति का अलग-अलग विचार किया गया है अर्थात् इनकी अपेक्षा से मिट्टी व पानी के प्रयोग की सख्या में विभिन्नता बताई गई है। भगवान् महावीर ने समाज को आन्तरिक शुद्धि की ओर मोडने के लिए कहा कि इस प्रकार की बाह्य शुद्धि हिंसा को बढ़ाने का ही एक साधन है। इससे पृथ्वी,

जल, अग्नि, वनस्पति तथा वायु के जीवो का कचूमर निकल जाता है। यह घोर हिंसा की जननी है। इससे अनेक अनर्थ उत्पन्न होते हैं। श्रमण व ब्राह्मण को सरल बनना चाहिए, निष्कपट होना चाहिए, पृथ्वी आदि के जीवो का हनन नही करना चाहिए। पृथ्वी आदि प्राणरूप हैं। इनमे अन्य आगन्तुक जीव भी रहते हैं। अत शौच के निमित्त इनका उपयोग करने से इनकी तथा इनमे रहने वाले प्राणियो की हिंसा होती है। अत यह प्रवृत्ति शस्त्ररूप है। आतरिक शुद्धि के अभिलाषियो को इसका ज्ञान होना चाहिए। यही भगवान् महावीर के शस्त्रपरिज्ञा प्रवचन का सार है।

रूप, रस, गन्ध, शब्द व स्पर्श अज्ञानियो के लिए आवर्तरूप हैं, ऐसा समझ कर विवेकी को इनमे मूर्च्छित नही होना चाहिए। यदि प्रमाद के कारण पहले इनकी ओर झुकाव रहा हो तो ऐसा निश्चय करना चाहिए कि अब मैं इनसे बचूँगा—इनमे नही फँसूँगा—पूर्ववत् आचरण नही करूँगा। रूपादि में लोलुप व्यक्ति विविध प्रकार की हिंसा करते दिखाई देते हैं। कुछ लोग प्राणियो का वध कर उन्हें पूरा का पूरा पकाते हैं। कुछ चमड़ी के लिए उन्हे मारते हैं। कुछ केवल मास, रक्त, पित्त, चरबी, पख, पूँछ, बाल, सींग, दात, नख अथवा हड्डी के लिए उनका वध करते हैं। कुछ शिकार का शौक पूरा करने के लिए प्राणियों का वध करते हैं। इस प्रकार कुछ लोग अपने किसी न किसी स्वार्थ के लिए जीवो का क्रूरतापूर्वक नाश करते हैं तो कुछ निष्प्रयोजन ही उनका नाश करने मे तत्पर रहते हैं। कुछ लोग केवल तमाशा देखने के लिए साढो, हाथियो, मुर्गों वगैरह को लडाते हैं। कुछ साँप आदि को मारने मे अपनी बहादुरी समझते हैं तो कुछ सांप आदि को मारना अपना धर्म समझते हैं। इस प्रकार पूरे शस्त्र-परिज्ञा अध्ययन मे भगवान् महावीर ने ससार में होने वाली विविध प्रकार की हिंसा के विषय मे अपने विचार व्यक्त किये हैं एव उसके परिणाम की ओर लोगो का ध्यान आकर्षित किया है। उन्होंने बताया है कि यह हिंसा ही ग्रन्थ है—परिग्रहरूप हैं, मोहरूप है, माररूप है, नरकरूप है।

खोरदेह—अवेस्ता नामक पारसी धर्मग्रन्थ[1] में पृथ्वी, जल, अग्नि, वनस्पति, पशु, पक्षी, मनुष्य आदि के साथ किसी प्रकार का अपराध न करनेको अर्थात् उनके प्रति घातक व्यवहार न करने की शिक्षा दी गई है। यही बात मनुस्मृति में दूसरी तरह से कही गई है। उसमें चूल्हे द्वारा अग्नि की हिंसा का, घट द्वारा जल की हिंसा का एव

१ 'पतेत पशेमानी' नामक प्रकरण

इसी प्रकार के अन्य साधनों द्वारा अन्य प्रकार की हिंसा का निषेध किया गया है। घट, चूल्हा, चक्की आदि को जीववध का स्थान बताया गया है एवं गृहस्थ के लिए इनके प्रति सावधानी रखने का विधान किया गया है[1]।

शस्त्रपरिज्ञा में जो मार्ग बताया गया है वह पराकाष्ठा का मार्ग है। उस पराकाष्ठा के मार्ग पर पहुँचने के लिए अन्य अवान्तर मार्ग भी हैं। इनमें से एक मार्ग है गृहस्थाश्रम का। इसमें भी चढ़ते उतरते साधन हैं। इन सब में एक बात सर्वाधिक महत्त्व की है और वह है प्रत्येक प्रकार की मर्यादा का निर्धारण। इसमें भी ज्यों-ज्यों आगे बढ़ा जाय त्यों-त्यों मर्यादा का क्षेत्र बढ़ाया जाय एवं अन्त में अनासक्त जीवन का अनुभव किया जाय। इसी का नाम अहिंसक जीवन-साधना अथवा आध्यात्मिक शोधन है। अध्यात्म शुद्धि के लिए देह, इन्द्रियाँ, मन तथा अन्य बाह्य पदार्थ साधनरूप हैं। इन साधनों का उपयोग अहिंसक वृत्तिपूर्वक होना चाहिए। इस प्रकार की वृत्ति के लिए संकल्पशुद्धि परमावश्यक है। संकल्प की शुद्धि के बिना सब क्रियाकाण्ड व प्रवृत्तियाँ निरर्थक हैं। प्रवृत्ति भले ही अल्प हो किन्तु होनी चाहिए संकल्पशुद्धिपूर्वक। आध्यात्मिक शुद्धि ही जिनका लक्ष्य है वे केवल भेड़चाल अथवा रूढ़िगत प्रवाह में बँध कर नहीं चल सकते। उनके लिए विवेकयुक्त संकल्पशीलता की महती आवश्यकता होती है। देहदमन, इन्द्रियदमन, मनोदमन, तथा आरम्भ-समारम्भ व विषय-कषायों के त्याग के सम्बन्ध में जो बातें शस्त्रपरिज्ञा अध्ययन में बताई गई हैं वे सब बातें भिन्न-भिन्न रूप में भिन्न-भिन्न स्थानों पर गीता एवं मनुस्मृति में भी बताई गई हैं। मनु ने स्पष्ट कहा है कि लोहे के मुख वाला काष्ठ (हल आदि) भूमि का एवं भूमि में रहे हुए अन्य-अन्य प्राणियों का हनन करता है। अतः कृषि की वृत्ति निन्दित है[2]। यह विधान अमुक कोटि के सच्चे ब्राह्मण के लिए है और वह भी उत्सर्ग के रूप में। अपवाद के तौर पर तो ऐसे ब्राह्मण के लिए भी इससे विपरीत विधान हो सकता है। भूमि की ही तरह जल आदि से सम्बन्धित आरम्भ-समारम्भ का भी मनुस्मृति में निषेध किया गया है[3]। गीता में 'सर्वारम्भपरित्यागी'[4] को पण्डित कहा गया है

---

[1] मनुस्मृति, अ० ३, श्लो० ६८

[2] कृषिं साध्विति मन्यन्ते सा वृत्तिः सद्विगर्हिता।
भूमिं भूमिशयांश्चैव हन्ति काष्ठमयोमुखम्॥
—मनुस्मृति, अ० १०, श्लो० ८४

[3] अ० ४, श्लो० २०१ २

[4] अ० १२, श्लो० १६, अ० ४, श्लो० १९

एव बताया गया है कि जो समस्त आरम्भ का परित्यागी है वह गुणातीत है[1]। उसमे देहदमन की भी प्रतिष्ठा की गई है एव तप के बाह्य व आन्तरिक स्वरूप पर पर्याप्त प्रकाश डाला गया है[2]। जैन परम्परा के त्यागी मुनियो के तपश्चरण की भाँति कायक्लेशरूप तप सम्बन्धी प्ररूपणा वैदिक परम्परा को भी अभीष्ट है। इसी प्रकार जलशौच अर्थात् स्नान आदिरूप बाह्य शौच का त्याग भी वैदिक परम्परा को इष्ट है[3]। आचाराग के प्रथम व द्वितीय दोनो श्रुतस्कन्धो में आचार-विचार का जो वर्णन है वह सब मनुस्मृति के छठे अध्याय मे वर्णित वानप्रस्थ व सन्यास के स्वरूप के साथ मिलता-जुलता है। भिक्षा के नियम, कायक्लेश सहन करने की पद्धति, उपकरण, वृक्ष के मूल के पास निवास, भूमि पर शयन, एक समय भिक्षा-चर्या, भूमि का अवलोकन करते हुए गमन करने की पद्धति, चतुर्थ भक्त, अष्टम भक्त आदि अनेक नियमो का जैन परम्परा के त्यागी वर्ग के नियमों के साथ साम्य है। इसी प्रकार का जैन परम्परा के नियमो का साम्य महाभारत के शान्तिपर्व में उपलब्ध तप एव त्याग के वर्णन के साथ भी है। बौद्ध परम्परा के नियमों मे इस प्रकार की कठोरता एव देहदमनता का प्राय अभाव दिखाई देता है।

आचाराग के प्रथम अध्ययन शस्त्रपरिज्ञा मे समग्र आचाराग का सार आ जाता है अत यहाँ अन्य अध्ययनों का विस्तारपूर्वक विवेचन न करते हुए आचाराग में आने वाले परमतो का विचार किया जाएगा।

आचाराग मे उल्लिखित परमत

आचाराग के प्रथम श्रुतस्कन्ध मे जो परमतो का उल्लेख है वह किसी विशेष नामपूर्वक नहीं अपितु 'एगे' अर्थात् 'कुछ लोगो' के रूप में है जिसका विशेष स्पष्टीकरण चूर्णि अथवा वृत्ति मे किया गया है। प्रारम्भ मे ही अर्थात् प्रथम अध्ययन के प्रथम वाक्य मे ही यह बताया गया है कि '*इह एगेसि नो सन्ना भवइ*' अर्थात् इस ससार में कुछ लोगो को यह भान नही होता कि मैं पूर्व से आया हुआ हूँ या दक्षिण से आया हुआ हूँ अथवा किस दिशा या विदिशा से आया हुआ हूँ अथवा ऊपर से या नीचे से आया हुआ हूँ ? इसी प्रकार '*एगेसि नो नाय भवइ*' अर्थात् कुछ को यह पता नहीं होता कि मेरी आत्मा औपपातिक

---

१ सर्वारम्भपरित्यागी गुणातीत स उच्यते—अ० १४, श्लो० २५

२ अ० १७, श्लो० ५६, १४, १६७

३ देखिये—श्री लक्ष्मणशास्त्री जोशी लिखित वैदिक सस्कृति का इतिहास (मराठी), पृ० १७६

है अथवा अनौपपातिक, मैं कौन था व इसके बाद क्या होऊँगा ? इसके विषय में सामान्यतया विचार करने पर प्रतीत होगा कि यह बात साधारण जनता को लक्ष्य करके कही गई है अर्थात् सामान्य लोगो को अपनी आत्मा का एव उसके भावी का ज्ञान नही होता। विशेषरूप से विचार करने पर मालूम होगा कि यह उल्लेख तत्कालीन भगवान् बुद्ध के सत्कार्यवाद के विषय मे है। बुद्ध निर्वाण को स्वीकार करते हैं, पुनर्जन्म को भी स्वीकार करते हैं। ऐसी अवस्था मे वे आत्मा को न मानते हो ऐसा नही हो सकता। उनका आत्मविषयक मत अनात्मवादी चार्वाक जैसा नहीं है। यदि उनका मत वैसा होता तो वे भोगपरायण बनते, न कि त्यागपरायण। वे आत्मा को मानते अवश्य हैं किन्तु भिन्न प्रकार से। वे कहते हैं कि आत्मा के विषय मे गमनागमन सम्बन्धी अर्थात् वह कहाँ से आई है, कहाँ जाएगी—इस प्रकार का विचार करने से विचारक के आस्रव कम नहीं होते, उलटे नये आस्रव उत्पन्न होने लगते हैं। अतएव आत्मा के विषय मे 'वह कहाँ से आई है व कहा जाएगी' इस प्रकार का विचार करने की आवश्यकता नही है। मज्झिमनिकाय के सब्बासव नामक द्वितीय सुत्त में भगवान् बुद्ध के वचनो का यह आशय स्पष्ट है। आचाराग मे भी आगे (तृतीय अध्ययन के तृतीय उद्देशक मे) स्पष्ट बताया गया है कि 'मैं कहा से आया हूँ ? मैं कहा जाऊँगा ?' इत्यादि विचारधाराओ को तथागत बुद्ध नही मानते।

भगवान् महावीर के आत्मविषयक वचनों को उद्दिष्ट कर चूर्णिकार कहते हैं कि क्रियावादी मतो के एक सौ अस्सी भेद हैं। उनमें से कुछ आत्मा को सर्वव्यापी मानते हैं। कुछ मूर्त्त, कुछ अमूर्त्त, कुछ कर्त्ता, कुछ अकर्त्ता मानते हैं। कुछ श्यामाक[1] परिमाण, कुछ तडुलपरिमाण, कुछ अगुष्ठपरिमाण मानते हैं। कुछ लोग आत्मा को दीपशिखा के समान क्षणिक मानते हैं। जो अक्रियावादी हैं वे आत्मा का अस्तित्व ही नहीं मानते। जो अज्ञानवादी—अज्ञानी हैं वे इस विषय में कोई विवाद ही नहीं करते। विनयवादी भी अज्ञानवादियो के ही समान हैं। उपनिषदों मे आत्मा को श्यामाकपरिमाण, तण्डुलपरिमाण, अगुष्ठपरिमाण आदि मानने के उल्लेख उपलब्ध हैं[2]।

---

१ अन्न विशेष—साँवा

२ छान्दोग्य—तृतीय अध्याय चौदहवा खण्ड, आत्मोपनिषद्—प्रथम कण्डिका, नारायणोपनिषद्—श्लो० ७१

प्रथम अध्ययन के तृतीय उद्देशक में 'अणगारा मो त्ति एगे वयमाणा' अर्थात् 'कुछ लोग कहते हैं कि हम अनगार हैं' ऐसा वाक्य आता है। अपने को अनगार कहने वाले ये लोग पृथ्वी आदि का आलभन अर्थात् हिंसा करते हुए नही हिचकिचाते। ये अनगार कौन हैं ? इसका स्पष्टीकरण करते हुए चूर्णिकार कहते हैं कि ये अनगार बौद्ध परम्परा के श्रमण हैं। ये लोग ग्राम आदि दान मे स्वीकार करते हैं एव ग्रामदान आदि स्वीकृत कर वहा की भूमि को ठीक करने के लिए हल, कुदाली आदि का प्रयोग करते है तथा पृथ्वी का व पृथ्वी मे रहे हुए कीट-पतगों का नाश करते है। इसी प्रकार कुछ अनगार ऐसे हैं जो स्नान आदि द्वारा जल को व जल मे रहे हुए जीवो की हिंसा करते हैं। स्नान नही करने वाले आजीविक तथा अन्य सरजस्क श्रमण स्नानादि प्रवृत्ति के निमित्त पानी की हिंसा नही करते किन्तु पीने के लिए तो करते ही है। बौद्ध श्रमण (तच्चणिया) नहाने व पीने दोनो के लिए पानी की हिंसा करते हैं। कुछ ब्राह्मण स्नान पान के अतिरिक्त यज्ञ के बर्तनो व अन्य उपकरणो को धोने के लिए भी पानी की हिंसा करते हैं। इस प्रकार आजीविक श्रमण, सरजस्क श्रमण, बौद्ध श्रमण व ब्राह्मण श्रमण किसी न किसी कारण से पानी का आलभन—हिंसा करते हैं। मूल सूत्र मे यह बताया गया है कि इह च खलु भो अणगाराण उदय जीवा वियाहिया' अर्थात् ज्ञातपुत्रीय अनगारों के प्रवचन में ही जल को जीवरूप कहा गया है, 'न अण्णेसि' (चूर्णि)अर्थात् दूसरों के प्रवचन मे नही। यहा 'दूसरो' का अर्थ बौद्ध श्रमण समझना चाहिए। वैदिक परम्परा मे तो जल को जीवरूप ही माना गया है, जैसा कि पहले कहा जा चुका है। केवल बौद्ध परम्परा ही ऐसी है जो पानी को जीवरूप नही मानती। इस विषय मे मिलिंदपञ्ह[1] मे स्पष्ट उल्लेख है कि पानी में जीव नही है—सत्व नही है न हि महाराज! उदक जीवति, नत्थि उदके जीवो वा सत्तो वा।

द्वितीय अध्ययन के द्वितीय उद्देशक में बताया गया है कि कुछ लोग यह मानते हैं कि हमारे पास देवो का बल है, श्रमणो का बल है। ऐसा समझ कर वे अनेक हिंसामय आचरण करने से नहीं चूकते। वे ऐसा समझते हैं कि ब्राह्मणो को खिलायेंगे तो परलोक मे सुख मिलेगा। इसी दृष्टि से वे यज्ञ भी करते हैं। बकरों, भैंसो, यहाँ तक कि मनुष्यो के वध द्वारा चण्डिकादि देवियो के याग करते हैं एव चरकादि ब्राह्मणो को दान देंगे तो धन मिलेगा, कीर्ति प्राप्त होगी व धर्म सधेगा,

---

1 पृ० २५३-२५५।

ऐसा समझकर अनेक आलभन-समालभन करते रहते हैं। इस उल्लेख में भगवान् महावीर के समय मे धर्म के नाम पर चलनेवाली हिंसक प्रवृत्ति का स्पष्ट निर्देश है। चतुर्थ अध्ययन के द्वितीय उद्देशक मे बताया गया है कि इस जगत् मे कुछ श्रमण व ब्राह्मण भिन्न-भिन्न रीति से विवाद करते हुए कहते है कि हमने देखा है, हमने सुना है हमने माना है, हमने विशेष तौर से जाना है, तथा ऊँची-नीची व तिरछी सब दिशाओ मे सब प्रकार से पूरी सावधानीपूर्वक पता लगाया है कि सर्व प्राण, सर्व भूत, सर्व जीव, सर्व सत्त्व हनन करने योग्य हैं, सताप पहुँचाने योग्य हैं, उपद्रुत करने योग्य हैं एव स्वामित्व करने योग्य हैं। ऐसा करने मे कोई दोष नहीं। इस प्रकार कुछ श्रमणो व ब्राह्मणो के मत का निर्देश कर सूत्रकार ने अपना अभिमत बताते हुए कहा है कि यह वचन अनार्यों का है अर्थात् इस प्रकार हिंसा का समर्थन करना अनार्यमार्ग है। इसे आर्यों ने दुर्दर्शन कहा है, दुश्रवण कहा है, दुर्मत कहा है दुर्विज्ञान कहा है एव दुष्प्रत्यवेक्षण कहा है। हम ऐसा कहते हैं ऐसा भाषण करते हैं, ऐसा बताते हैं, ऐसा प्ररूपण करते हैं कि किसी भी प्राण, किसी भी भूत, किसी भी जीव, किसी भी सत्त्व को हनना नहीं चाहिए त्रस्त नही करना चाहिए, परिताप नहीं पहुँचाना चाहिए उपद्रुत नही करना चाहिए एव उस पर स्वामित्व नही करना चाहिए। ऐसा करने में ही दोष नही है। यह आर्यवचन है। इसके बाद सूत्रकार कहते हैं कि हिंसा का विधान करने वाले, एव उसे निर्दोष मानने वाले समस्त प्रवादियो को एकत्र कर प्रत्येक को पूछना चाहिए कि तुम्हें मन को अनुकूलता दुखरूप लगती है या प्रतिकूलता ? यदि वे कहें कि हमें तो मन की प्रतिकूलता दुखरूप लगती है तो उनसे कहना चाहिए कि जैसे तुम्हें मन को प्रतिकूलता दुखरूप लगती है वैसे ही समस्त प्राणियो, भूतों, जीवो व सत्त्वों को भी मन की प्रतिकूलता दुखरूप लगती है।

विमोह नामक आठवें अध्ययन मे कहा गया है कि ये वादो आलभार्थी हैं, प्राणियो का हनन करने वाले हैं, हनन कराने वाले हैं, हनन करने वालो का समर्थन करने वाले हैं, अदत्त को लेने वाले हैं। वे निम्न प्रकार से भिन्न-भिन्न वचन बोलते हैं लोक है, लोक नही है, लोक अध्रुव है, लोक सादि है, लोक अनादि है, लोक सान्त है, लोक अनन्त है, सुकृत है दुष्कृत है, कल्याण है, पाप है, साधु है, असाधु है, सिद्धि है, असिद्धि है, नरक है, अनरक है। इस प्रकार की तत्त्वविषयक विप्रतिपत्ति वाले ये वादी अपने अपने धर्म का प्रतिपादन करते हैं। सूत्रकार ने सब वादो को सामान्यतया यादृच्छिक (आकस्मिक) एव हेतु-

शून्य कहा है तथा किसी नाम विशेष का उल्लेख नहीं किया है। इनकी व्याख्या करते हुए चूर्णिकार व वृत्तिकार ने विशेषत वैदिक शाखा के साख्य आदि मतो का उल्लेख किया है एव शाक्य अर्थात् बौद्ध भिक्षुओ के आचरण तथा उनकी अमुक मान्यताओं का निर्देश किया है। आचाराग की ही तरह दीघनिकाय के ब्रह्मजालसुत्त में भी भगवान् बुद्ध के समय के अनेक वादो का उल्लेख है।

निर्ग्रन्थसमाज

तत्कालीन निर्ग्रन्थसमाज के वातावरण पर भी आचाराग में प्रकाश डाला गया है। उस समय के निर्ग्रन्थ सामान्यतया आचारसम्पन्न, विवेकी, तपस्वी एव विनीतवृत्ति वाले ही होते थे, फिर भी कुछ ऐसे निर्ग्रन्थ भी थे जो वर्तमान काल के अविनीत शिष्यो की भाँति अपने हितैषी गुरु के सामने होने में भी नहीं हिचकिचाते। आचाराग के छठे अध्ययन के चौथे उद्देशक में इसी प्रकार के शिष्यों को उद्दिष्ट करके बताया गया है कि जिस प्रकार पक्षी के बच्चे को उसकी माता दाने दे-देकर बडा करती है उसी प्रकार ज्ञानी पुरुष अपने शिष्यो को दिन-रात अध्ययन कराते हैं। शिष्य ज्ञान प्राप्त करने के बाद 'उपशम' को त्याग कर अर्थात् शान्ति को छोडकर ज्ञान देनेवाले महापुरुषों के सामने कठोर भाषा का प्रयोग प्रारम्भ करते हैं।

भगवान् महावीर के समय में उत्कृष्ट त्याग, तप व सयम के अनेक जीते-जागते आदर्शों की उपस्थिति में भी कुछ श्रमण तप त्याग अगीकार करने के बाद भी उसमे स्थिर नही रह सकते थे एव छिपे छिपे दूषण सेवन करते थे। आचार्य के पूछने पर झूठ बोलने तक के लिए तैयार हो जाते थे। प्रस्तुत सूत्र मे ऐसा एक उल्लेख उपलब्ध है जो इस प्रकार है 'बहुक्रोधी, बहुमानी, बहुकपटी, बहुलोभी, नट की भाँति विविध ढग से व्यवहार करने वाला, शठवत्, विविध सकल्प वाला, आस्रवो में आसक्त, मुँह से उत्थित वाद करनेवाला, 'मुझे कोई देख न ले' इस प्रकार के भय से अपकृत्य करने वाला सतत मूढ धर्म को नहीं जानता। जो चतुर आत्मार्थी है वह कभी अब्रह्मचर्य का सेवन नहीं करता। कदाचित् कामावेश में अब्रह्मचर्य का सेवन हो जाय तो उसका अपलाप करना अर्थात् आचार्य के सामने उसे स्वीकार न करना महान् मूर्खता है।' इस प्रकार के उल्लेख यही बताते हैं कि उग्र तप, उग्र सयम, उग्र ब्रह्मचर्य के युग में भी कोई-कोई ऐसे निकल आते हैं। यह वासना व कषाय की विचित्रता है।

जैन श्रमणो का अन्य श्रमणो के साथ किस प्रकार का सम्बन्ध रहता था, यह भी जानने योग्य है। इस विषय में आठवें अध्ययन के प्रथम उद्देशक के

प्रारम्भ में ही बताया गया है कि समनोज्ञ (समान आचार-विचार वाला) भिक्षु असमनोज्ञ (भिन्न आचार-विचार वाला) को भोजन, पानी, वस्त्र, पात्र, कम्बल व पाद-पुञ्छण[1] न दे, इसके लिए उसे निमन्त्रित भी न करे, न उसकी आदरपूर्वक सेवा ही करे। इसी प्रकार असमनोज्ञ से ये सब वस्तुएँ ले भी नहीं, न उसके निमन्त्रण को ही स्वीकार करे और न उससे अपनी सेवा ही करावे। जैन श्रमणो मे अन्य श्रमणो के ससर्ग से किसी प्रकार की आचार-विचारविषयक शिथिलता न आ जाय, इसी दृष्टि से यह विधान है। इसके पीछे किसी प्रकार की द्वेष बुद्धि अथवा निन्दा-भाव नहीं है।

आचाराग के वचनों से मिलते वचन

आचाराग के कुछ वचन अन्य शास्त्रो के वचनो से मिलते-जुलते हैं। आचारांग मे एक वाक्य है 'दोहिं वि अतेहिं अदिस्समाणे'[2]—अर्थात् जो दोनों अन्तो द्वारा अदृश्यमान है अर्थात् जिसका पूर्वान्त—आदि नही है व पश्चिमान्त—अन्त भी नहीं है। इस प्रकार जो (आत्मा) पूर्वान्त व पश्चिमान्त में दिखाई नही देता। इसी से मिलता हुआ वाक्य तेजोबिन्दु उपनिषद् के प्रथम अध्ययन के तेईसवें श्लोक मे इस प्रकार है

आदावन्ते च मध्ये च जनोऽस्मिन्न विद्यते।
येनेदं सतत व्याप्तं स देशो विजन स्मृत ॥

यह पद्य पूर्ण आत्मा अथवा सिद्ध आत्मा के स्वरूप के विषय में है।

आचाराग के उपर्युक्त वाक्य के बाद ही दूसरा वाक्य है 'स न छिज्जइ न भिज्जइ न डज्झइ न हम्मइ कचण सव्वलोए' अर्थात् सर्वलोक मे किसी के द्वारा आत्मा का छेदन नही होता, भेदन नहीं होता, दहन नही होता, हनन नहीं होता। इससे मिलते हुए वाक्य उपनिषद् तथा भगवद्गीता में इस प्रकार हैं

---

[1] मूलशब्द 'पायपुञ्छण' है। प्राकृत भाषा में 'पुञ्छ' धातु परिमार्जन अर्थ में आता है। देखिए—प्राकृत-व्याकरण, ८ ४ १०४ सस्कृत भाषा का 'मृज्' धातु और प्राकृत भाषा का 'पुंछ' धातु समानार्थक हैं। अत 'पायपुञ्छण' शब्दका सस्कृत रूपान्तर 'पादमार्जन' हो सकता है। जैनपरम्परा में 'पुजणी' नाम का एक छोटा सा उपकरण प्रसिद्ध है। इसका सबध भी 'पुञ्छ' धातु से है और यह उपकरण परिमार्जन के लिए ही उपयुक्त होता है। 'अगोछा' शब्द का सबंध भी 'अगपुञ्छ' शब्द के साथ है। 'पोंछना' क्रियापद इस 'पुञ्छ' धातु से ही सबध रखता है—पोंछना माने परिमार्जन करना।

[2] आचाराग, १ ३ ३

न जायते न म्रियते न मुह्यति न भिद्यते न दह्यते।
न छिद्यते न कम्पते न कुप्यते सर्वदहनोऽयमात्मा ॥
—सुबालोपनिषद्, नवम खण्ड, ईशाद्यष्टोत्तरशतोपनिषद्, पृ २१०

अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमक्लेद्योऽशोष्य एव च।
नित्य सर्वगत स्थाणुरचलोऽय सनातन ॥
—भगवद्गीता, अ २, श्लो०२३.

'जस्स नत्थि पुरा पच्छा मज्झे तस्स कओ सिया'[1] अर्थात् जिसका आगा व पीछा नही हैं उसका बोच कैसे हो सकता है? आचाराग का यह वाक्य भी आत्मविषयक है। इससे मिलता-जुलता वाक्य गौडपादकारिका[2] में इस प्रकार है. आदावन्ते च यन्नास्ति वर्तमानेऽपि तत्तथा।

जन्ममरणातीत, नित्यमुक्त आत्मा का स्वरूप बताते हुए सूत्रकार कहते हैं

सव्वे सरा नियट्टंति। तक्का जत्थ न विज्जइ, मई तत्थ न गाहिया। ओए, अप्पइट्ठाणस्स खेयन्ने—से न दीहे, न हस्से, न वट्टे, न तसे, न चउरसे, न परिमडले, न किण्हे, न नीले, न लोहिए, न हालिद्दे, न सुक्किल्ले, न सुरभिगंधे, न दुरभिगधे, न तित्ते, न कडुए, न कसाए, न अंबिले, न महुरे, न कक्खडे, न मउए, न गुरुए, न लहुए, न सीए, न उण्हे, न निद्धे, न लुक्खे, न काउ, न रुहे, न संगे, न इत्थी, न पुरिसे, न अन्नहा, परिन्ने, सन्ने, उवमा न विज्जइ। अरूवी सत्ता, अपयस्स पय नत्थि, से न सद्दे, न रूवे, न गधे, न रसे, न फासे, इच्चेयाव ति बेमि।[3]

ये सब वचन भिन्न-भिन्न उपनिषदों में इस प्रकार मिलते हैं :

'न तत्र चक्षुर्गच्छति न वाग् गच्छति न मनो, न विद्मो न विजानीमो यथैतद् अनुशिष्यात् अन्यदेव तद् विदितात् अथो अविदितादपि इति शुश्रुम पूर्वेषा ये नस्तद् व्याचचक्षिरे।'[4]

'अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययम, तथाऽरस नित्यमगन्धवच्च यत्।'[5]

---

१ वही १४४
२ प्रकरण ?, श्लोक ६
३ आचाराग, १ ५ ६
४ केनोपनिषद्, ख १, श्लो० ३
५ कठोपनिषद्, अ १, श्लो १५

'अस्थूलम्, अनणु, अह्रस्वम्, अदीर्घम्, अलोहितम्, अस्नेहम्, अच्छायम्, अतमो, अवायु, अनाकाशम्, असगम्, अरसम्, अगन्धम्, अचक्षुष्कम्, अश्रोत्रम्, अवाग्, अमनो, अतेजस्कम्, अप्राणम्, अमुखम्, अमात्रम्, अनन्तरम्, अबाह्यम्, न तद् अश्नाति किंचन, न तद् अश्नाति कश्चन।'[1]

'नान्त प्रज्ञम्, न बहि·प्रज्ञम्, नोभयत प्रज्ञम्, न प्रज्ञानघनम्, न प्रज्ञम्, नाप्रज्ञम्, अदृष्टम्, अव्यवहार्यम्, अग्राह्यम्, अलक्षणम्, अचिन्त्यम् अव्यपदेश्यम्।'[2]

'यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह।'[3]

'अच्युतोऽहम्, अचिन्त्योऽहम् अतर्क्योऽहम्, अप्राणोऽहम्, अकायोऽहम् अशब्दोऽहम्, अरूपोऽहम्, अस्पर्शोऽहम्, अरसोऽहम्, अगन्धोऽहम्, अगोत्रोऽहम्, अगात्रोऽहम्, अवागहम्, अदृश्योऽहम्, अवर्णोऽहम् अश्रुतोऽहम्, अदृष्टोऽहम् . . ।'[4]

आचाराग मे बताया गया है कि ज्ञानियो के बाहु कृश होते हैं तथा मास एवं रक्त पतला होता है—कम होता है . आगयपन्नाणाण किसा वाहा भवति पयणुए य मस सोणिए।[5]

उपनिषदो में भी बताया गया है कि ज्ञानी पुरुष को कृश होना चाहिए, इत्यादि

मधुकरीवृत्त्या आहारमाहरन् कृशो भूत्वा मेदोवृद्धिमकुर्वन् आज्य रुधिरमिव त्यजेत्—नारदपरिव्राजकोपनिषद्, सप्तम उपदेश, यथालाभमश्नीयात् प्राणसधारणार्थं यथा मेदोवृद्धिर्न जायते। कृशो भूत्वा ग्रामे एकरात्रम् नगरे . सन्यासोपनिषद्, प्रथम अध्याय।

आचाराग प्रथमश्रुतस्कन्ध के अनेक वाक्य सूत्रकृताग, उत्तराध्ययन एव दशवैकालिक में अक्षरश उपलब्ध हैं। इस सम्बन्ध मे श्री शुब्रिग ने आचाराग के स्वसम्पादित सस्करण में यथास्थान पर्याप्त प्रकाश डाला है। साथ ही उन्होंने

---

[1] बृहदारण्यक, ब्राह्मण ८, श्लोक ८
[2] माण्डुक्योपनिषद्, श्लोक ७
[3] तैत्तिरीयोपनिषद्, ब्रह्मानन्द वल्ली २, अनुवाक ४
[4] ब्रह्मविद्योपनिषद्, श्लोक ८१-९१.
[5] आचाराग, १.६ ३

आचारांग के कुछ वाक्यों की बौद्ध ग्रंथ धम्मपद व सुत्तनिपात के सदृश वाक्यों से भी तुलना की है।

आचारांग के शब्दों से मिलते शब्द

अब यहां कुछ ऐसे शब्दों की चर्चा की जाएगी जो आचारांग के साथ ही साथ परशास्त्रों में भी उपलब्ध हैं तथा ऐसे शब्दों के सम्बन्ध में भी विचार किया जाएगा जिनकी व्याख्या चूर्णिकार एवं वृत्तिकार ने विलक्षण की है।

आचारांग के प्रारंभ में ही कहा गया है कि 'मैं कहां से आया हूं व कहां जाऊँगा' ऐसी विचारणा करने वाला आयावाई, लोगावाई, कम्मावाई, किरियावाई कहलाता है। आयावाई का अर्थ है आत्मवादी अर्थात् आत्मा का स्वतन्त्र अस्तित्व स्वीकार करने वाला। लोगावाई का अर्थ है लोकवादी अर्थात् लोक का अस्तित्व मानने वाला। कम्मावाई का अर्थ है कर्मवादी एवं किरियावाई का अर्थ है क्रियावादी। ये चारों वाद आत्मा के अस्तित्व पर अवलम्बित हैं। जो आत्मवादी है वही लोकवादी कर्मवादी एवं क्रियावादी है। जो आत्मवादी नहीं है वह लोकवादी, कर्मवादी अथवा क्रियावादी नहीं है। सूत्रकृतांग में बौद्धमत को क्रियावादी दर्शन कहा गया है अहावर पुरक्खायं किरियावाइदरिसणं (अ १, उ २, गा २४)। इसकी व्याख्या करते हुए चूर्णिकार व वृत्तिकार भी इसी कथन का समर्थन करते हैं। इसी सूत्रकृत-अंगसूत्र के समवसरण नामक बारहवें अध्ययन में क्रियावादी आदि चार वादों की चर्चा की गई है। वहां मूल में किसी दर्शन विशेष के नाम का उल्लेख नहीं है तथापि वृत्तिकार ने अक्रियावादी के रूप मे बौद्धमत का उल्लेख किया है। यह कैसे ? सूत्र के मूल पाठ में जिसे क्रियावादी कहा गया है एवं व्याख्यान करते हुए स्वयं वृत्तिकार ने जिसका एक जगह समर्थन किया है उसी को अन्यत्र अक्रियावादी कहना कहाँ तक युक्तिसंगत है ?

आचारांग में आने वाले 'एयावंति' व 'सव्वावंति' इन दो शब्दों का चूर्णिकार ने कोई स्पष्टीकरण नहीं किया है। वृत्तिकार शीलांकसूरि इनकी व्याख्या करते हुए कहते हैं "एतौ द्वौ शब्दौ मागधदेशीभाषाप्रसिद्धया, 'एतावन्त सर्वेऽपि' इत्येतत्पर्यायौ" (आचारांग वृत्ति, पृ० २५) अर्थात् ये दो शब्द मगध की देशी भाषा में प्रसिद्ध हैं एवं इनका 'इतने सारे' ऐसा अर्थ है। प्राकृत व्याकरण की किसी प्रक्रिया द्वारा 'एतावन्त' के अर्थ में 'एयावंति' सिद्ध नहीं किया जा सकता और न 'सर्वेऽपि' के अर्थ में 'सव्वावंति' ही लाया जा

सकता है। वृत्तिकार ने परम्परा के अनुसार अर्थ समझाने की पद्धति का आश्रय लिया प्रतीत होता है। बृहदारण्यक उपनिषद् मे (तृतीय ब्राह्मण में) 'लोकस्य सर्वावत.' अर्थात् 'सारे लोक की' ऐसा प्रयोग आता है। यहाँ 'सर्वावत' 'सर्वावत्' का षष्ठी विभक्ति का रूप है। इसका प्रथमा का बहुवचन 'सर्वावन्तः' हो सकता है। आचाराग के 'सव्वावति' और उपनिषद् के 'सर्वावत.' इन दोनों प्रयोगो की तुलना की जा सकती है।

आचाराग में एक जगह 'अकस्मात्' शब्द का प्रयोग मिलता है। आठवें अध्ययन में जहाँ अनेक वादो—लोक है, लोक नहीं है इत्यादि का निर्देश है वहाँ इन सब वादों को निर्हेतुक बताने के लिए 'अकस्मात्' शब्द का प्रयोग किया गया है। सम्पूर्ण आचाराग मे, यहाँ तक कि समस्त अगसाहित्य में अत्यव्यञ्जनयुक्त ऐसा विजातीय प्रयोग अन्यत्र कहीं दृष्टिगोचर नहीं होता। वृत्तिकार ने इस शब्द का स्पष्टीकरण भी पूर्ववत् मगध की देशी भाषा के रूप मे ही किया है। वे कहते हैं: 'अकस्मात् इति मागधदेशे आगोपालाङ्गनादिना सस्कृतस्यैव उच्चारणाद् इहापि तथैव उच्चारित इति' (आचारागवृत्ति, पृ २४२) अर्थात् मगध देश में ग्वालिनें भी 'अकस्मात्' का प्रयोग करती हैं। अतः यहाँ भी इस शब्द का वैसा ही प्रयोग हुआ है।

मुण्डकोपनिषद् के (प्रथम मुण्डक, द्वितीय खण्ड, श्लोक ९) 'यत् कर्मिणो न प्रवेदयन्ति रागात् तेन आतुरा क्षीणलोकाश्च्यवन्ते' इस पद्य में जिस अर्थ में 'आतुर' शब्द है उसी अर्थ मे आचाराग का आउर—आतुर शब्द भी है। लोकभाषा मे 'कामातुर' का प्रयोग इसी प्रकार का है।

लोगों में जो-जो वस्तुएँ शस्त्र के रूप में प्रसिद्ध हैं उनके अतिरिक्त अन्य पदार्थों अर्थात् भावो के लिए भी शस्त्र शब्द का प्रयोग होता है। आचाराग में राग, द्वेष, क्रोध, लोभ, मोह एव तज्जन्य समस्त प्रवृत्तियो को सत्य—शस्त्ररूप कहा गया है। अन्य किसी शास्त्र में इस अर्थ में 'शस्त्र' शब्द का प्रयोग दिखाई नहीं देता।

बौद्ध पिटको में जिस अर्थ मे 'मार' शब्द का प्रयोग हुआ है उसी अर्थ में आचाराग में भी 'मार' शब्द प्रयुक्त है। सुत्तनिपात के कप्पमाणवपुच्छा सुत्त के चतुर्थ पद्य व भद्रावुधमाणवपुच्छा सुत्त के तृतीय पद्य में भगवान् बुद्ध ने 'मार' का स्वरूप स्पष्ट समझाया है। लोकभाषा मे जिसे 'शैतान' कहते हैं वही 'मार' है। सर्व प्रकार का आलमन शैतान की प्रेरणा का ही कार्य है। सूत्रकार

आचाराग के कुछ वाक्यो की बौद्ध ग्रथ धम्मपद व सुत्तनिपात के सदृश वाक्यों से भी तुलना की है।

आचारांग के शब्दों से मिलते शब्द

अब यहा कुछ ऐसे शब्दो की चर्चा की जाएगी जो आचाराग के साथ ही साथ परशास्त्रो में भी उपलब्ध हैं तथा ऐसे शब्दो के सम्बन्ध में भी विचार किया जाएगा जिनकी व्याख्या चूर्णिकार एव वृत्तिकार ने विलक्षण की है।

आचाराग के प्रारभ मे ही कहा गया है कि 'मैं कहाँ से आया हू व कहाँ जाऊँगा' ऐसी विचारणा करने वाला आयावाई, लोगावाई, कम्मावाई, किरियावाई कहलाता है। आयावाई का अर्थ है आत्मवादी अर्थात् आत्मा का स्वतन्त्र अस्तित्व स्वीकार करने वाला। लोगावाई का अर्थ है लोकवादी अर्थात् लोक का अस्तित्व मानने वाला। कम्मावाई का अर्थ है कर्मवादी एव किरियावाई का अर्थ है क्रियावादी। ये चारो वाद आत्मा के अस्तित्व पर अवलम्बित हैं। जो आत्मवादी है वही लोकवादी कर्मवादी एव क्रियावादी है। जो आत्मवादी नहीं है वह लोकवादी, कर्मवादी अथवा क्रियावादी नही है। सूत्रकृताग में बौद्धमत को क्रियावादी दर्शन कहा गया है अहावर पुरक्खाय किरिया-वाइदरिसण (अ १, उ २, गा २४)। इसकी व्याख्या करते हुए चूर्णिकार व वृत्तिकार भी इसी कथन का समर्थन करते हैं। इसी सूत्रकृत अगसूत्र के समवसरण नामक बारहवें अध्ययन में क्रियावादी आदि चार वादो की चर्चा की गई है। वहाँ मूल मे किसी दर्शन विशेष के नाम का उल्लेख नहीं है तथापि वृत्तिकार ने अक्रियावादी के रूप मे बौद्धमत का उल्लेख किया है। यह कैसे? सूत्र के मूल पाठ में जिसे क्रियावादी कहा गया है एव व्याख्यान करते हुए स्वय वृत्तिकार ने जिसका एक जगह समर्थन किया है उसी को अन्यत्र अक्रियावादी कहना कहाँ तक युक्तिसगत है?

आचारांग में आने वाले 'एयावति' व 'सव्वावति' इन दो शब्दो का चूर्णिकार ने कोई स्पष्टीकरण नहीं किया है। वृत्तिकार शीलाकसूरि इनकी व्याख्या करते हुए कहते हैं "एतौ द्वौ शब्दौ मागधदेशीभाषाप्रसिद्धया, 'एतावन्त सर्वेऽपि' इत्येतत्पर्यायौ" (आचाराग वृत्ति, पृ० २५) अर्थात् ये दो शब्द मगध की देशी भाषा मे प्रसिद्ध हैं एव इनका 'इतने सारे' ऐसा अर्थ है। प्राकृत व्याकरण की किसी प्रक्रिया द्वारा 'एतावन्त.' के अर्थ में 'एयावति' सिद्ध नही किया जा सकता और न 'सर्वेऽपि' के अर्थ में 'सव्वावति' ही साधा जा

सकता है। वृत्तिकार ने परम्परा के अनुसार अर्थ समझाने की पद्धति का आश्रय लिया प्रतीत होता है। बृहदारण्यक उपनिषद् मे (तृतीय ब्राह्मण में) 'लोकस्य सर्वावत.' अर्थात् 'सारे लोक की' ऐसा प्रयोग आता है। यहाँ 'सर्वावत ' 'सर्वावत्' का षष्ठी विभक्ति का रूप है। इसका प्रथमा का बहुवचन 'सर्वावन्तः' हो सकता है। आचारांग के 'सव्वावंति' और उपनिषद् के 'सर्वावत.' इन दोनों प्रयोगो की तुलना की जा सकती है।

आचारांग में एक जगह 'अकस्मात्' शब्द का प्रयोग मिलता है। आठवें अध्ययन मे जहाँ अनेक वादो—लोक है, लोक नहीं है इत्यादि का निर्देश है वहाँ इन सब वादो को निर्हेतुक बताने के लिए 'अकस्मात्' शब्द का प्रयोग किया गया है। सम्पूर्ण आचारांग मे, यहाँ तक कि समस्त अगसाहित्य में अत्यव्यंजनयुक्त ऐसा विजातीय प्रयोग अन्यत्र कहीं दृष्टिगोचर नहीं होता। वृत्तिकार ने इस शब्द का स्पष्टीकरण भी पूर्ववत् मगध की देशी भाषा के रूप मे ही किया है। वे कहते हैं : 'अकस्मात् इति मागधदेशे आगोपालाङ्गनादिना संस्कृतस्यैव उच्चारणाद् इहापि तथैव उच्चारित इति' (आचारांगवृत्ति, पृ १४२) अर्थात् मगध देश मे ग्वालिनें भी 'अकस्मात्' का प्रयोग करती हैं। अतः यहाँ भी इस शब्द का वैसा ही प्रयोग हुआ है।

मुण्डकोपनिषद् के (प्रथम मुण्डक, द्वितीय खण्ड, श्लोक ९) 'यत् कर्मिणो न प्रवेदयन्ति रागात् तेन आतुराः क्षीणलोकाश्च्यवन्ते' इस पद्य मे जिस अर्थ में 'आतुर' शब्द है उसी अर्थ में आचारांग का आउर—आतुर शब्द भी है। लोकभाषा में 'कामातुर' का प्रयोग इसी प्रकार का है।

लोगो मे जो-जो वस्तुएँ शस्त्र के रूप में प्रसिद्ध हैं उनके अतिरिक्त अन्य पदार्थों अर्थात् भावो के लिए भी शस्त्र शब्द का प्रयोग होता है। आचारांग में राग, द्वेष, क्रोध, लोभ, मोह एव तज्जन्य समस्त प्रवृत्तियों को सत्य—शस्त्ररूप कहा गया है। अन्य किसी शास्त्र में इस अर्थ में 'शस्त्र' शब्द का प्रयोग दिखाई नहीं देता।

बौद्ध पिटको मे जिस अर्थ मे 'मार' शब्द का प्रयोग हुआ है उसी अर्थ में आचारांग में भी 'मार' शब्द प्रयुक्त है। सुत्तनिपात के कप्पमाणवपुच्छा सुत्त के चतुर्थ पद्य व भद्रावुधमाणवपुच्छा सुत्त के तृतीय पद्य में भगवान् बुद्ध ने 'मार' का स्वरूप स्पष्ट समझाया है। लोकभाषा मे जिसे 'शैतान' कहते हैं वही 'मार' है। सर्व प्रकार का आलम्बन शैतान की प्रेरणा का ही कार्य है। सूत्रकार

ने इस तथ्य का प्रतिपादन 'मार' शब्द के द्वारा किया है। इसी प्रकार 'नरअ'—'नरक' शब्द का प्रयोग भी सर्व प्रकार के आलभन के लिए किया गया है। निरालब उपनिषद् मे बध, मोक्ष, स्वर्ग, नरक आदि अनेक शब्दो की व्याख्या की गई है। उसमें नरक को व्याख्या इस प्रकार है 'असत्ससारविषयजनससर्ग एव नरक' अर्थात् असत् ससार, उसके विषय एव असज्जनों का ससर्ग ही नरक है। यहाँ सब प्रकार के आलभन को 'नरक' शब्द से निर्दिष्ट किया है। इस प्रकार 'नरक' शब्द का जो अर्थ उपनिषद् को अभीष्ट है वही आचाराग को भी अभीष्ट है।

आचाराग मे नियागपडिवन्न'—नियागप्रतिपन्न (अ १, उ ३) पद में 'नियाग' शब्द का प्रयोग है। याग व नियाग पर्यायवाची शब्द हैं जिनका अर्थ है यज्ञ। इन शब्दो का प्रयोग वैदिक परम्परा मे विशेष होता है। जैन परम्परा में 'नियाग' शब्द का अर्थ भिन्न प्रकार से किया गया है। आचाराग-वृत्तिकार के शब्दों मे 'यजन याग नियतो निश्चितो वा याग नियागो मोक्षमार्ग सगतार्थत्वाद् धातो—सम्यग्ज्ञानदर्शनचारित्रात्मतया गत सगतम् इति त नियाग सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रात्मक मोक्षमार्ग प्रतिपन्न' (आचारागवृत्ति, पृ ३८) अर्थात् जिसमे सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व सम्यक्-चारित्र की सगति हो वह मार्ग अर्थात् मोक्षमार्ग नियाग है। मूलसूत्र मे 'नियाग' के स्थान पर 'निकाय' अथवा 'नियाय' पाठान्तर भी है। वृत्तिकार लिखते हैं 'पाठान्तर वा निकायप्रतिपन्न—निर्गत काय औदारिकादि-यस्मात् यस्मिन् वा सति स निकायो मोक्ष त प्रतिपन्न निकायप्रतिपन्न तत्कारणस्य सम्यग्दर्शनादे स्वशक्त्याऽनुष्ठानात्' (आचारागवृत्ति, पृ ३८) अर्थात् जिसमे से औदारिकादि शरीर निकल गये हैं अथवा जिसकी उपस्थिति में औदारिकादि शरीर निकल गये हैं वह निकाय अर्थात् मोक्ष है। जिसने मोक्ष की साधना स्वीकार की है वह 'निकायप्रतिपन्न' है। चूर्णिकार ने पाठान्तर न देते हुए केवल 'निकाय' पाठ को ही स्वीकार किया है तथा उसका अर्थ इस प्रकार किया है 'णिकाओ णाम देसप्पदेसबहुत्त णिकाय पडिवज्जति जहा आऊजीवा अहवा णिकाय णिव्वं मोक्ख मग्ग पडिवन्नो' (आचाराग-चूर्णि, पृ २५) अर्थात् णिकाय का अर्थ है देशप्रदेश बहुत्व। जिस अर्थ मे जैन प्रवचन में 'अत्थिकाय'—'अस्तिकाय' शब्द प्रचलित है उसी अर्थ में 'निकाय' शब्द भी स्वीकृत है, ऐसा चूर्णिकार का कथन है। जिसने पानी को

निकायरूप-जीवरूप स्वीकार किया है वह निकायप्रतिपन्न है। अथवा निकाय का अर्थ है मोक्ष। वृत्तिकार ने केवल मोक्ष अर्थ को स्वीकार कर 'नियाग अथवा 'निकाय' शब्द का विवेचन किया है।

'महावीहिं' एव 'महाजाण' शब्दों का व्याख्यान करते हुए चूर्णिकार तथा वृत्तिकार दोनों ने इन शब्दों को मोक्षमार्ग का सूचक अथवा मोक्ष के साधनरूप सम्यग्दर्शन ज्ञान-तप आदि का सूचक बताया है। महावीहि अर्थात् महावीथि एव महाजाण अर्थात् महायान। 'महावीहिं' शब्द सूत्रकृताग के वैतालीय नामक द्वितीय अध्ययन के प्रथम उद्देशक की २१वीं गाथा में भी आता है। 'पणया वीरा महावीहिं सिद्धिपहं' इत्यादि। यहा 'महावीहिं' का अर्थ 'महामार्ग' बताया गया है और उसे 'सिद्धिपहं' अर्थात् 'सिद्धिपथ' के विशेषण के रूप में स्वीकार किया गया है। इस प्रकार आचाराग मे प्रयुक्त महावीहिं' शब्द का जो अर्थ है वही सूत्रकृताग में प्रयुक्त 'महावीहिं' शब्द का भी है। 'महाजाण'-महायान' शब्द जो कि जैन परम्परा मे मोक्षमार्ग का सूचक है, बौद्ध दर्शन के एक भेद के रूप मे भी प्रचलित है। प्राचीन बौद्ध परम्परा का नाम हीनयान है और बाद की नयी बौद्ध परम्परा का नाम महायान है।

प्रस्तुत सूत्र मे 'वीर' व 'महावीर' का प्रयोग बार बार आता है। ये दोनों शब्द व्यापक अर्थ में भी समझे जा सकते हैं और विशेष नाम के रूप में भी। जो सयम की साधना में शूर है वह वीर अथवा महावीर है। जैनधर्म के अन्तिम तीर्थंकर का मूल नाम तो वर्धमान है किन्तु अपनी साधना की शूरता के कारण वे वीर अथवा महावीर कहे जाते हैं। 'वीर' व 'महावीर' शब्दो का अर्थ इन दोनो रूपो में समझा जा सकता है।

इस सूत्र में प्रयुक्त 'आरिय' व 'अणारिय' शब्दों का अर्थ व्यापक रूप में समझना चाहिए। जो सम्यक् आचार-सम्पन्न हैं—अहिंसा का सर्वांगीण आचरण करने वाले हैं वे आरिय—आर्य हैं। जो वैसे नही हैं वे अणारिय-अनार्य हैं।

मेहावी (मेधावी), मइम (मतिमान्), धीर, पंडिअ (पण्डित), पासअ (पश्यक), वीर, कुसल, (कुशल), माहण (ब्राह्मण), नाणी (ज्ञानी), परमचक्खु (परमचक्षुष्), मुणि (मुनि), बुद्ध, भगव (भगवान्), आसुपन्न (आशुप्रज्ञ), आययचक्खु (आयतचक्षुष्) आदि शब्दों का प्रयोग प्रस्तुत सूत्र मे कई वार हुआ है। इनका अर्थ वहुत स्पष्ट है। इन शब्दो को सुनते ही जो सामान्य वोध होता है वही इनका मुख्य अर्थ है और यही मुख्य अर्थ यहा बराबर

संगत हो जाता है। ऐसा होते हुए भी चूर्णिकार तथा वृत्तिकार ने इन शब्दों का जैन परिभाषा के अनुसार विशिष्ट अर्थ किया है। उदाहरण के लिए पासअ (पश्यक-द्रष्टा) का अर्थ सर्वज्ञ अथवा केवली, कुसल (कुशल) का अर्थ तीर्थंकर अथवा वर्धमान स्वामी, मुणि (मुनि) का अर्थ त्रिकालज्ञ अथवा तीर्थंकर किया है।

जाणइ-पासइ का प्रयोग भाषाशैली के रूप मे .

आचारांग में 'अकम्मा जाणइ पासइ' (५, ६), 'आसुपन्नेण जाणया पासया' (७, १), 'अजाणओ अपासओ' (६, ४) आदि वाक्य आते हैं, जिनमें केवली के जानने व देखने का उल्लेख है। इस उल्लेख को लेकर प्राचीन ग्रन्थकारो ने सर्वज्ञ के ज्ञान व दर्शन के क्रमाक्रम के विषय में भारी विवाद खडा किया है और जिसके कारण एक आगमिक पक्ष व दूसरा तार्किक पक्ष इस प्रकार के दो पक्ष भी पैदा हो गये हैं। मुझे तो ऐसा प्रतीत होता है कि 'जाणइ' व 'पासइ' ये दो क्रियापद केवल भाषाशैली—बोलने की एक शैली के प्रतीक हैं। कहने वाले के मन मे ज्ञान व दर्शन के क्रम-अक्रम का कोई विचार नहीं रहा है। जैसे अन्यत्र 'पन्नवेमि परूवेमि भासेमि' आदि क्रियापदो का समानार्थ में प्रयोग हुआ है वैसे ही यहाँ भी 'जाणइ पासइ' रूप युगल क्रियापद समानार्थ में ही प्रयुक्त हुए हे। जो मनुष्य केवली नही है अर्थात् छद्मस्थ हैं उसके लिए भी 'जाणइ पासइ' अथवा 'अजाणओ अपासओ' का प्रयोग होता है। दर्शन ज्ञान के क्रम के अनुसार तो पहले 'पासइ अथवा 'अपासओ' और बाद में 'जाणइ' अथवा 'अजाणओ' का प्रयोग होना चाहिए किन्तु ये वचन इस प्रकार के किसी क्रम को दृष्टि में रखकर नही कहे गये हैं। यह तो बोलने की एक शैली मात्र है। बौद्ध ग्रन्थों मे भी इस शैली का प्रयोग दिखाई देता है। मज्झिमनिकाय के सब्बासव सुत्त में भगवान् बुद्ध के मुख से ये शब्द कहलाये गये हैं : 'जानतो अहं भिक्खवे पस्सतो आसवानं खयं वदामि, नो अजानतो नो अपस्सतो' अर्थात् हे भिक्षुओ ! मैं जानता हुआ—देखता हुआ आस्रवों के क्षय की बात करता हूँ, नहीं जानता हुआ—नही देखता हुआ नहीं। इसी प्रकार का प्रयोग भगवती सूत्र मे भी मिलता है 'जे इमे भंते ! बेइंदिया पंचिंदिया जीवा एएसि आणामं वा पाणामं वा उस्सासं वा निस्सासं वा जाणामो पासामो, जे इमे पुढविकाइया एगिंदिया जीवा एएसि णं आणामं वा... नीसासं वा न याणामो न पासामो' (श. २, उ १)—द्वीन्द्रियादिक जीव

जो श्वासोच्छ्वास आदि लेते हैं वह हम जानते हैं, देखते हैं किन्तु एकेन्द्रिय जीव जो श्वास आदि लेते हैं वह हम नहीं जानते, नहीं देखते।

ज्ञान के स्वरूप की परिभाषा के अनुसार दर्शन सामान्य उपयोग, सामान्य बोध अथवा निराकार प्रतीति है, जब कि ज्ञान विशेष उपयोग, विशेष बोध अथवा साकार प्रतीति है। मन पर्याय-उपयोग ज्ञानरूप ही माना जाता है, दर्शनरूप नहीं, क्योंकि उसमें विशेष का ही बोध होता है, सामान्य का नहीं। ऐसा होते हुए भी नदीसूत्र में ऋजुमति एव विपुलमति मन पर्यायज्ञानी के लिए 'जाणइ' व 'पासइ' दोनों पदो का प्रयोग हुआ है। यदि 'जाणइ' पद केवल ज्ञान का ही द्योतक होता और 'पासइ' पद केवल दर्शन का ही प्रतीक होता तो मन पर्यायज्ञानी के लिए केवल 'जाणइ' पद का ही प्रयोग किया जाता, 'पासइ' पद का नहीं। नदी में एतद्विषयक पाठ इस प्रकार है।—

दव्वओ ण उज्जुमई ण अणंते अणतपएसिए खधे जाणइ पासइ, ते चेव विउलमई अब्भहियतराए विउलतराए वितिमिरतराए जाणइ पासइ। खेत्तओ ण उज्जुमई जहन्नेण . ...उक्कोसेणं मणोगए भावे जाणइ पासइ, त चेव विउलमई विसुद्धतर . जाणइ पासइ। कालओ ण उज्जुमई जहन्नेण उक्कोसेणं पि जाणइ पासइ तं चेव विउलमई विसुद्धतराग जाणइ पासइ। भावओ णं उज्जुमई जाणइ पासइ। त चेव विउलमई विसुद्धतराग जाणइ पासइ।

इसी प्रकार श्रुतज्ञानी के सम्बन्ध में भी नदीसूत्र में 'सुअणाणी उवउत्ते सव्वदव्वाइ जाणइ पासइ' ऐसा पाठ आता है। श्रुतज्ञान भी ज्ञान ही है, दर्शन नहीं। फिर भी उसके लिए 'जाणइ' व 'पासइ' दोनो का प्रयोग किया गया है।

यह सब देखते हुए यही मानना विशेष उचित है कि 'जाणइ पासइ' का प्रयोग केवल एक भाषाशैली है। इसके आधार पर ज्ञान व दर्शन के क्रम-अक्रम का विचार करना युक्तियुक्त नहीं।

वसुपद

आचाराग में वसु, अणुवसु, वसुमंत, दुव्वसु आदि वसु पद वाले शब्दो का प्रयोग हुआ है। 'वसु' शब्द अवेस्ता, वेद एव उपनिषद् में भी मिलता है। इससे मालूम होता है कि यह शब्द बहुत प्राचीन है। अवेस्ता में इस शब्द का प्रयोग 'पवित्र' के अर्थ में हुआ है। वहा इसका उच्चारण 'वसु' न होकर

'वोहू' है। वेद व उपनिषद् में इसका उच्चारण 'वसु' के रूप में हो है।[1] उपनिषद् में प्रयुक्त 'वसु' शब्द हंस अर्थात् पवित्र आत्मा का द्योतक है हस शुचिवद् वसु (कठोपनिषद्, वल्ली ५, श्लोक २, छान्दोग्योपनिषद, खड १६, श्लोक १-२)। बाद में इस शब्द का प्रयोग वसु नामक आठ देवो अथवा धन के अर्थ में होने लगा। आचाराग मे इस शब्द का प्रयोग आत्मार्थी पवित्र मुनि एव आत्मार्थी पवित्र गृहस्थ के अर्थ मे हुआ है। वसु अर्थात् मुनि। अणुवसु अर्थात् छोटा मुनि—आत्मार्थी पवित्र गृहस्थ। दुव्वसु अर्थात् मुक्तिगमन के अयोग्य मुनि—अपवित्र मुनि—आचारहीन मुनि।

वेद .

वेयव—वेदवान् और वेयवी—वेदवित् इन दोनो शब्दो का प्रयोग आचाराग मे भिन्न-भिन्न अध्ययनो मे हुआ है। चूर्णिकार ने इनका विवेचन करते हुए लिखा है 'वेतिज्जइ जेण स वेदो त वेदयति इति वेदवि' (आचाराग—चूर्णि), पृ १५२, '*वेदवी-तित्थगर एव कित्तयति विवेग, दुवालसग वा प्रवचन वेदो त जे वेदयति स* वेदवी' (वही पृ १८५)। इन अवतरणो में चूर्णिकार ने तीर्थंकर को वेदवी—वेदवित् कहा है। जिससे वेदन हो अर्थात् ज्ञान हो वह वेद है। इसीलिए जैन सूत्रों को अर्थात् द्वादशाग प्रवचन को वेद कहा गया है। निर्युक्तिकार ने आचाराग को वेदरूप बताया है। वृत्तिकार ने भी इस कथन का समर्थन किया है एव आचारादि आगमो को वेद तथा तीर्थंकरों, गणधरों एव चतुर्दशपूर्वियो को वेदवित्त कहा है। इस प्रकार जैन परम्परा में ऋग्वेदादि को हिंसाचारप्रधान होने के कारण वेद न मानते हुए अहिंसाचारप्रधान आचारागादि को वेद माना गया है। वसुदेव हिंडी (प्रथमभाग, पृ १८३-१९३) मे इसी प्रकार के ग्रन्थो को आर्यवेद कहा गया है। वस्तुत देखा जाय तो वेदकी प्रतिष्ठा से प्रभावित हो कर ही अपने शास्त्र को वेद नाम दिया गया है, यही मानना उचित है।

आमगध

आचाराग के 'सव्वामगध परिन्नाय निरामगंधे परिव्वए' (२,५) वाक्य में यह निर्देश किया गया है कि मुनि को सर्व आमगधो को जानकर उनका त्याग करना चाहिए एव निरामगध हो विचरण करना चाहिए। चूर्णिकार

---

१ अवेस्ता के लिए देखिए—गाथाओ पर नवो प्रकाश, पृ. ४४८, ४६२, ४६४, ८२३

वेद के लिए देखिए—ऋग्वेद मंडल २, सूक्त २३, मन्त्र ६ तथा सूक्त ११, मन्त्र १

अथवा वृत्तिकार ने आमगध का व्युत्पत्तिपूर्वक अर्थ नहीं बताया है। उन्होंने केवल यही कहा है कि 'आमगध' शब्द आहार से सम्बन्धित दोष का सूचक है। जो आहार उद्गम दोष से दूषित हो अथवा शुद्धि की दृष्टि से दोषयुक्त हो वह आमगध कहा जाता है। सामान्यतया 'आम' का अर्थ होता है कच्चा और गंध का अर्थ होता है वास। जिसकी गध आम हो वह आमगध है। इस दृष्टि से जो आहारादि परिपक्व न हो अर्थात् जिसमे कच्चे की गध मालूम होती हो वह आमगध में समाविष्ट होता है। जैन भिक्षुओ के लिए इस प्रकार का आहार त्याज्य है। लक्षणा से 'आमगध' शब्द इसी प्रकार के आहारादि सम्बन्धी अन्य दोषो का भी सूचक है।

बौद्ध पिटक ग्रथ सुत्तनिपात मे 'आमगध' शब्द का प्रयोग हुआ है। उसमे तिष्य नामक तापस और भगवान् बुद्ध के बीच आमगध' के विचार के विषय में एक संवाद है। यह तापस कद, मूल, फल जो कुछ भी धर्मानुसार मिलता है उसके द्वारा अपना निर्वाह करता है एव तापसधर्म का पालन करता है। उसे भगवान् बुद्ध ने कहा कि हे तापस! तू जो परप्रदत्त अथवा स्वोपार्जित कद आदि ग्रहण करता है वह आमगध है—अमेध्यवस्तु है—अपवित्रपदार्थ है। यह सुनकर तिष्य ने बुद्ध से कहा कि हे ब्रह्मबन्धु! तू स्वयं सुसस्कृत—अच्छी तरह से पकाये हुए पक्षियो के मास से युक्त चावल का भोजन करने वाला है और मैं कद आदि खाने वाला हू। फिर भी तू मुझे तो आमगधभोजी कहता है और अपने आप को निरामगधभोजी। यह कैसे? इसका उत्तर देते हुए बुद्ध कहते हैं कि प्राणाघात, वध, छेद, चोरी, असत्य, वचना, लूट, व्यभिचार आदि अनाचार आमगध हैं, मासभोजन आमगध नहीं। असयम, जिह्वालोलुपता, अपवित्र आचरण, नास्तिकता, विषमता तथा अविनय आमगध है, मासाहार आमगंध नहीं। इस प्रकार प्रस्तुत सूत्र मे समस्त दोषों—आतरिक व बाह्य दोषों को आमगध कहा गया है।

आचाराग में प्रयुक्त 'आमगध' का अर्थ आतरिक दोष तो है ही, साथ ही मांसाहार भी है। जैन भिक्षुओं के लिये मासाहार के त्याग का विधान है। 'सव्वामगध परिन्नाय' लिखने का वास्तविक अर्थ यही है कि बाह्य व आतरिक सब प्रकार का आमगध हेय है अर्थात् बाह्य आमगध--मासादि एव आन्तरिक आमगध--आभ्यन्तरिक दोष ये दोनो ही त्याज्य हैं।

आस्रव व परिस्रव

'जे आसवा ते परिस्सवा, जे परिस्सवा ते आसवा, जे अणासवा ते अपरिस्सवा, जे अपरिस्सवा ते अणासवा' आचाराग (अ ४, उ २) के इस वाक्य का अर्थ समझने के लिये आस्रव व परिस्रव का अर्थ जानना जरूरी है। आस्रव शब्द 'बधन के हेतु' के अर्थ में और परिस्रव शब्द 'बधन के नाश के हेतु' के अर्थ में जैन व बौद्ध परिभाषा में रूढ है। अत 'जे आसवा ' का अर्थ यह हुआ कि जो आस्रव हैं अर्थात् बधन के हेतु हैं वे कई बार परिस्रव अर्थात् बंधन के नाश के हेतु बन जाते हैं और जो बधन के नाश के हेतु हैं वे कई बार बधन के हेतु बन जाते हैं। इसी प्रकार जो अनास्रव हैं अर्थात् बधन के हेतु नहीं हैं वे कई बार अपरिस्रव अर्थात् बधन के हेतु बन जाते हैं और जो बधन के हेतु हैं वे कई बार बधन के अहेतु बन जाते हैं। इन वाक्यो का गूढार्थ 'मन एव मनुष्याणा कारण बन्ध-मोक्षयो' के सिद्धान्त के आधार पर समझा जा सकता है। बधन व मुक्ति का कारण मन ही है। मन की विचित्रता के कारण ही जो हेतु बधन का कारण होता है वही मुक्ति का भी कारण बन जाता है। इसी प्रकार मुक्ति का हेतु बधन का कारण भी बन सकता है। उदाहरण के लिए एक ही पुस्तक किसी के लिए ज्ञानार्जन का कारण बनती है तो किसी के लिए क्लेश का, अथवा किसी समय विद्योपार्जन का हेतु बनती है तो किसी समय कलह का। तात्पर्य यह है कि चित्तशुद्धि अथवा अप्रमत्तता पूर्वक की जाने वाली क्रियाए ही अनास्रव अथवा परिस्रव का कारण बनती हैं। अशुद्ध चित्त अथवा प्रमादपूर्वक की गई क्रियाए आस्रव अथवा अपरिस्रव का कारण होती हैं।

वर्णाभिलाषा

'वण्णाएसी नारभे कचण सव्वलोए' (आचाराग, अ ५, उ २ सू १५५) का अर्थ इस प्रकार है वर्ण का अभिलाषी लोक में किसी का भी आलमन न करे। वर्ण अर्थात् प्रशसा, यश, कीर्ति। उसके आदेशी अर्थात् अभिलाषी को सारे ससार में किसी की भी हिंसा नहीं करनी चाहिए, किसी का भी भोग नहीं लेना चाहिए। इसी प्रकार असत्य, चौर्य आदि का भी आचरण नहीं करना चाहिए। यह एक अर्थ है। दूसरा अर्थ इस प्रकार है ससार में कीर्ति अथवा प्रशसा के लिए देहदमनादिक की प्रवृत्ति नहीं करनी चाहिए। तीसरा अर्थ यों है लोक में वर्ण अर्थात् रूपसौन्दर्य के लिए किसी प्रकार का संस्कार—स्नानादि की प्रवृति नहीं करनी चाहिए।

उपर्युक्त सूत्र मे मुमुक्षुओ के लिए किसी प्रकार की हिंसा न करने का विधान है। इसमें किसी अपवाद का उल्लेख अथवा निर्देश नहीं है। फिर भी वृत्तिकार कहते हैं कि प्रवचन की प्रभावना के लिये अर्थात् जैन शासन की कीर्ति के लिए कोई इस प्रकार का आरंभ—हिंसा कर सकता है: *प्रवचनोद्भावनार्थं तु आरभते* (आचारागवृत्ति, पृ १६२)। वृत्तिकार का यह कथन कहा तक युक्तिसंगत है, यह विचारणीय है।

मुनियों के उपकरण .

आचाराग में भिक्षु के वस्त्र के उपयोग एव अनुपयोग के सम्बन्ध में जो पाठ हैं उनमे कहीं भी वृत्तिकारनिर्दिष्ट जिनकल्प आदि भेदों का उल्लेख नहीं है, केवल भिक्षु की साधन-सामग्री का निर्देश है। इसमे अचेलकता एव सचेलकता का प्रतिपादन भिक्षु की अपनी परिस्थिति को दृष्टि मे रखते हुए किया गया है। इस विषय मे किसी प्रकार की अनिवार्यता को स्थान नहीं है। यह केवल आत्मबल व देहबल की तरतमता पर आधारित है। जिसका आत्मबल अथवा देहबल अपेक्षाकृत अल्प है उसे भी सूत्रकार ने साधना का पूरा अवसर दिया है। साथ ही यह भी कहा है कि अचेलक, त्रिवस्त्रधारी, द्विवस्त्रधारी, एकवस्त्रधारी एव केवल लज्जानिवारणार्थ वस्त्र का उपयोग करने वाला—ये सब भिक्षु समानरूप से आदरणीय हैं, इन सबके प्रति समानता का भाव रखना चाहिए। समत्तमेव समभिजाणिया। इनमें से अमुक प्रकार के मुनि उत्तम हैं अथवा श्रेष्ठ हैं एव अमुक प्रकार के हीन हैं अथवा अधम हैं, ऐसा नहीं समझना चाहिए। यहा एक बात विशेष उल्लेखनीय है। प्रथम श्रुतस्कन्ध मे मुनियो के उपकरणों के सम्बन्ध में आने वाले समस्त उल्लेखों में कही भी मुहपत्ती नामक उपकरण का निर्देश नहीं है। उनमें केवल वस्त्र, पात्र, कबल, पादपुछन, अवग्रह तथा कटासन का नाम है. वत्थ पडिग्गह कबल पायपुछणं ओग्गहं च कडासण (२, ५), वत्थं पडिग्गह कबल पायपुछण (६, २), वत्थं वा पडिग्गह वा कबल वा पायपुछण वा (८, १), वत्थ वा पडिग्गहं वा कंबल वा पायपुछण वा (८, २)। भगवतीसूत्र में तथा अन्य अङ्गसूत्रों मे जहा जहा दीक्षा लेने वालों का अधिकार आता है वहा-वहा रजोहरण तथा पात्र के सिवाय किसी अन्य उपकरण का उल्लेख नहीं दीखता है। यह हकीकत भी मुहपत्ती के सम्बन्ध मे विवाद खडा करनेवाली है। भगवती सूत्र मे '*गौतम मुहपत्ती का प्रतिलेखन करते हैं*' इस प्रकार का उल्लेख आता है।

इससे प्रतीत होता है कि आचाराग की रचना के समय मुहपत्ती का भिक्षुओं के उपकरणों मे समावेश न था किन्तु बाद मे इसकी वृद्धि की गई। मुहपत्ती के बाधने का उल्लेख तो कही दिखाई नहीं देता। सभव है बोलते समय अन्य पर थूंक न गिरे तथा पुस्तक पर भी थूक न पडे, इस दृष्टि से मुहपत्ती का उपयोग प्रारभ हुआ हो। मुह पर मुहपत्ती बाध रखने का रिवाज तो बहुत समय बाद ही चला है।[1]

महावीर-चर्या :

आचाराग के उपधानश्रुत नामक नववें अध्ययन में भगवान् महावीर का जो चरित्र दिया गया है वह भगवान् की जीवनचर्या का साक्षात् द्योतक है। उसमें कहीं भी अत्युक्ति नही है। उनके पास इन्द्र, सूर्य आदि के आने की घटना का कहीं भी निर्देश नही है। इस अध्ययन मे भगवान् के धर्मचक्र के प्रवतन अर्थात् उपदेश का स्पष्ट उल्लेख है। इसमें भगवान् की दीक्षा से लेकर निर्वाण तक की समग्र जीवन-घटना का उल्लेख है। भगवान् ने साधना की, वीतराग हुए, देशना दी अर्थात् उपदेश दिया और अन्त में 'अभिनिव्वुडे' अर्थात् निर्वाण प्राप्त किया। इस अध्ययन में एक जगह ऐसा पाठ है —

अप्प तिरियं पेहाए अप्प पिट्ठओ व पेहाए।
अप्प बुइए पडिभाणी पथपेही चरे जयमाणे॥

अर्थात् भगवान् ध्यान करते समय तिरछा नहीं देखते अथवा कम देखते, पीछे नहीं देखते अथवा कम देखते, बोलते नहीं अथवा कम बोलते, उत्तर नहीं देते अथवा कम देते एवं मार्ग को ध्यानपूर्वक यतना से देखते हुए चलते।

इस सहज चर्या का भगवान् के जन्मजात माने जाने वाले अवधिज्ञान के साथ विरोध होता देख चूर्णिकार इस प्रकार समाधान करते हैं कि भगवान् को आख का उपयोग करने की कोई आवश्यकता नही है (क्योंकि वे छद्मावस्था में भी अपने अवधिज्ञान से बिना आख के ही देख सकते हैं, जान सकते हैं) फिर भी शिष्यों को समझाने के लिए इस प्रकार का उल्लेख आवश्यक है ण एत

---

१ जैन शासन में क्रियाकाड में परिवर्तन करनेवाले और स्थानकवासी परपरा के प्रवर्तक प्रधान पुरुष श्री लोकाशाह भी मुहपत्ती नहीं बाधते थे। बाधने की प्रथा बाद में चली है। देखिए—गुरुदेव श्री रत्नमुनि स्मृति ग्रन्थ में पं० दलसुखभाई मालवणिया का लेख 'लोकाशाह और उनकी विचारधारा'।

भगवतो भवति, तहावि आयरियं धम्माण सिस्साणं इति काउं अप्प तिरियं (चूर्णि, पृ ३१०)। इस प्रकार चूर्णिकार ने भगवान् महावीर से सम्बन्धित महिमावर्धक अतिशयोक्तियो को सुसगत करने के लिए मूलसूत्र के बिलकुल सीधे-सादे एव सुगम वचनो को अपने ढग से समझाने का अनेक स्थानो पर प्रयास किया है। पीछे के टीकाकारो ने भी एक या दूसरे ढग से इसी पद्धति का अवलम्बन लिया है। यह तत्कालीन वातावरण एवं भक्ति का सूचक है। ललितविस्तर आदि बौद्ध ग्रथों में भी भगवान् बुद्ध के विषय में जैन ग्रथों के ही समान अनेक अतिशयोक्तिपूर्ण उल्लेख उपलब्ध हैं। महावीर के लिए प्रयुक्त सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, अनतज्ञानी, केवली आदि शब्द आचार्य हरिभद्र के कथनानुसार भगवान् के आत्मप्रभाव, वीतरागता एव क्रान्तदर्शिता—दूरदर्शिता के सूचक हैं। बाद में जिस अर्थ मे ये शब्द रूढ हुए हैं एव शास्त्रार्थ का विषय बने हैं उस अर्थ मे वे उनके लिए प्रयुक्त हुए प्रतीत नही होते। प्रत्येक महापुरुष जब सामान्य चर्या से ऊचा उठ जाता है—असाधारण जीवनचर्या का पालन करने लगता है तब भी वह मनुष्य ही होता है। तथापि लोग उसके लिए लोकोत्तर शब्दो का प्रयोग प्रारभ कर देते हैं और इस प्रकार अपनी भक्ति का प्रदर्शन करते हैं। उत्तम कोटि के विचारक उस महापुरुष का यथाशक्ति अनुसरण करते हैं जब कि सामान्य लोग लोकोत्तर शब्दों द्वारा उनका स्तवन करते हैं, पूजन करते हैं, अर्चन करते हैं, महिमा गाकर प्रसन्न होते हैं।

कुछ सुभाषित

आचाराग के प्रथम श्रुतस्कन्ध की समीक्षा समाप्त करने के पूर्व उसमें आनेवाले कुछ सूक्त अर्थसहित नीचे दिये जाने आवश्यक हैं। वे इस प्रकार हैं —

१ पणया वीरा महावीहिं — वीर पुरुष महामार्ग की ओर अग्रसर होते हैं।

२ जाए सद्धाए निक्खतो तमेव अणुपालिया — जिस श्रद्धा के साथ निकला उसी का पालन कर।

३ धीरे मुहुत्तमवि नो पमायए — धीर पुरुष एक मुहूर्त के लिए भी प्रमाद न करे।

४ वओ अच्चेइ जोव्वण च — वय चला जा रहा है और यौवन भी।

५. खण जाणाहि पंडिए	हे पडित। क्षण को–समय को समझ।
६. सव्वे पाणा पियाउया सुहसाया दुक्खपडिकूला अप्पियवहा पियजीविणो जीविउकामा	सब प्राणियों को आयुष्य प्रिय है, सुख अच्छा लगता है, दु ख अच्छा नहीं लगता, वध अप्रिय है, जीवन प्रिय है, जीने की इच्छा है।
७ सव्वेसिं जीविअं पियं	सबको जीवन प्रिय है।
८ जेण सिया तेण णो सिया	जिसके द्वारा है उसके द्वारा नहीं है अर्थात् जो अनुकूल है वह प्रतिकूल हो जाता है।
९. जहा अतो तहा बाहि जहा बाहिं तहा अतो	जैसा अन्दर है वैसा बाहर है और जैसा बाहर है वैसा अन्दर है।
१०. कामकामी खलु अय पुरिसे	यह पुरुष सचमुच कामकामी है।
११. कासंकासेऽय खलु पुरिसे	यह पुरुष 'मैं करूंगा, मैं करूँगा' ऐसे ही करता रहता है।
१२ वेरं वड्ढइ अप्पणो	ऐसा पुरुष अपना वैर बढ़ाता है।
१३. सुत्ता अमुणी मुणिणो सययं जागरति	अमुनि सोये हुए हैं और मुनि सतत जाग्रत हैं।
१४. अकम्मस्स ववहारो न विज्जइ	कर्महीन के व्यवहार नही होता।
१५ अग्ग च मूल च विगिंच धीरे	हे धीर पुरुष। प्रपच के अग्रभाग व मूल को काट डाल।
१६ का अरइ के आणदे एत्थ पि अग्गहे चरे	क्या अरति और क्या आनन्द, दोनो में अनासक्त रहो।
१७. पुरिसा। तुममेव तुमं मित्त किं बहिया मित्तमिच्छसि	हे पुरुष। तू ही अपना मित्र है फिर बाह्य मित्र की इच्छा क्यो करता है?
१८ पुरिसा। अत्ताणमेव अभि-निगिज्झ एव दुक्खा पमो-क्खसि	हे पुरुष! तू अपने आप को ही निगृहीत कर। इस प्रकार तेरा दु ख दूर होगा।

१९ पुरिसा ! सच्चमेव समभिजाणाहि	हे पुरुष ! सत्य को ही सम्यक्रूप से समझ ।
२० जे एगं नामे से बहु नामे, जे बहु नामे से एग नामे	जो एक को झुकाता है वह बहुतों को झुकाता है और जो बहुतों को झुकाता है वह एक को झुकाता है ।
२१. सव्वओ पमत्तस्स भय अप्पमत्तस्स नत्थि भय	प्रमादी को चारों ओर से भय है, अप्रमादी को कोई भय नहीं ।
२२. जति वीरा महाजाणं	वीर पुरुष महायान की ओर जाते हैं ।
२३ कसेहि अप्पाणं	आत्मा को अर्थात् खुद को कस ।
२४. जरेहि अप्पाणं	आत्मा को अर्थात् खुद को जीर्ण कर ।
२५ बहु दुक्खा हु जंतवो	सचमुच प्राणी बहुत दु खी है ।
२६ तुम सि नाम तं चेव जं हंतव्वं ति मन्नसि	तू जिसे हनने योग्य समझता है वह तू खुद ही है ।

द्वितीय श्रुतस्कन्ध

आचाराग के प्रथम श्रुतस्कन्ध की उपर्युक्त समीक्षा के ही समान द्वितीय श्रुतस्कन्ध की भी समीक्षा आवश्यक है । द्वितीय श्रुतस्कन्ध का सामान्य परिचय पहले दिया जा चुका है । यह पाँच चूलिकाओ मे विभक्त है जिसमे आचार-प्रकल्प अथवा निशीथ नामक पचम चूलिका आचाराग से अलग होकर एक स्वतन्त्र ग्रन्थ ही बन गई है । अतः वर्तमान में द्वितीय श्रुतस्कन्ध में केवल चार चूलिकाएँ ही हैं । प्रथम चूलिका में सात प्रकरण हैं जिनमें से प्रथम प्रकरण आहारविषयक है । इस प्रकरण में कुछ विशेषता है जिसकी चर्चा करना आवश्यक है ।

आहार

जैन भिक्षु के लिए यह एक सामान्य नियम है कि अशन, पान, खादिम एवं स्वादिम छोटे-बडे जीवों से युक्त हो, काई से व्याप्त हो, गेहूँ आदि के दानों के सहित हो, हरी वनस्पति आदि से मिश्रित हो, ठंडे पानी से भिगोया हुआ हो,

जीवयुक्त हो, रजवाला हो उसे भिक्षु स्वीकार न करे। कदाचित् असावधानी से ऐसा भोजन आ भी जाए तो उसमे से जीवजन्तु आदि निकाल कर विवेकपूर्वक उसका उपयोग करे। भोजन करने के लिए स्थान कैसा हो ? इसके उत्तर में कहा गया है कि भिक्षु एकान्त स्थान ढूँढे अर्थात् एकान्त मे जाकर किसी वाटिका, उपाश्रय अथवा शून्यगृह में किसी के न देखते हुए भोजन करे। वाटिका आदि कैसे हों ? जिसमें बैठने की जगह अडे न हो, अन्य जीवजन्तु न हो, अनाज के दाने अथवा फूल आदि के बीज न हो, हरे पत्ते आदि न पडे हों, ओस न पडी हो, ठडा पानी न गिरा हो काई न चिपकी हो, गीली मिट्टी न हो, मकडी के जाले न हों ऐसे निर्जीव स्थान मे बैठकर भिक्षु भोजन करे। आहार, पानी आदि मे अखाद्य अथवा अपेय पदार्थ के निकलने पर उसे ऐसे स्थान में फेंके जहा एकान्त हो अर्थात् किसी का आना जाना न हो तथा जीवजन्तु आदि भी न हो।

भिक्षा के हेतु अन्य मत के साधु अथवा गृहस्थ के साथ किसी के घर में प्रवेश न करे अथवा घर से बाहर न निकले क्योंकि वृत्तिकार के कथनानुसार अन्य तीर्थिको के साथ प्रवेश करने व निकलने वाले भिक्षु को आध्यात्मिक व बाह्य हानि होती है। इस नियम से एक बात यह फलित होती है कि उस जमाने मे भी सम्प्रदाय-सम्प्रदाय के बीच परस्पर सद्भावना का अभाव था।

आगे एक नियम यह है कि जो भोजन अन्य श्रमणों अर्थात् बौद्ध श्रमणों, तापसो, आजीविको आदि के लिए अथवा अतिथियो, भिखारियो, वनीपको[1] आदि के लिए बनाया गया हो उसे जैनभिक्षु ग्रहण न करे। इस नियम द्वारा अन्य भिक्षुओ अथवा श्रमणो को हानि न पहुचाने की भावना व्यक्त होती है। इसी प्रकार जैन भिक्षुओ को नित्यपिण्ड, अग्रपिण्ड (भोजन का प्रथम भाग) आदि देने वाले कुलों मे से भिक्षा ग्रहण करने की मनाही की गई है।

भिक्षा के योग्य कुल

जिन कुलों में भिक्षु भिक्षा के लिए जाते थे वे ये हें उग्रकुल, भोगकुल, राजन्यकुल, क्षत्रियकुल, इक्ष्वाकुकुल, हरिवशकुल, ओसिअकुल—गोष्ठो का कुल, वेसिअकुल—वैश्यकुल, गंडागकुल—गाव में घोषणा करनेवाले नापितों का कुल, कोट्टागकुल—बढईकुल, वुक्कस अथवा वोक्कशालियकुल—बुनकरकुल। साथ ही यह भी बताया गया है कि जो कुल अनिन्दित हैं, अजुगुप्सित हैं उन्हीं में जाना चाहिए।

---

[1] विशिष्ट वेषधारी भिखारी

निन्दित व जुगुप्सित कुलों में नहीं जाना चाहिए। वृत्तिकार के कथनानुसार चमारकुल अथवा दासकुल निन्दित माने जाते हैं। इस नियम द्वारा यह फलित होता है कि द्वितीय श्रुतस्कन्ध की योजना के समय जैनधर्म में कुल के आधार पर उच्चकुल एव नीचकुल की भावना को स्थान मिला हो। इसके पूर्व जैन प्रवचन में इस भावना की गधतक नही मिलती। जहा खुद चाडाल के मुनि बनने के उल्लेख हैं वहा नीचकुल अथवा गर्हितकुल की कल्पना ही कैसे हो सकती है ?

उत्सव के समय भिक्षा

एक जगह खान-पान के प्रसग से जिन विशेष उत्सवो के नामो का उल्लेख किया गया है वे ये हैं इद्रमह, स्कदमह, रुद्रमह, मुकुन्दमह, भूतमह, यक्षमह, नागमह, स्तूपमह, चैत्यमह, वृक्षमह, गिरिमह, कूपमह, नदीमह, सरोवरमह, सागरमह, आकरमह इत्यादि। इन उत्सवों पर उत्सव के निमित्त से आये हुए निमन्त्रित व्यक्तियो के भोजन कर लेने पर ही भिक्षु आहारप्राप्ति के लिए किसी के घर मे जाय, उससे पूर्व नहीं। इतना ही नही, वह घर मे जाकर गृहपति को स्त्री, बहन, पुत्र, पुत्री, पुत्रवधू, दास, दासी, नौकर, नौकरानी से कहे कि जिन्हें जो देना था उन्हें वह दे देने के बाद जो बचा हो उसमें से मुझे भिक्षा दो। इस नियम का प्रयोजन यही है कि किसी के भोजन में अन्तराय न पडे।

संखडि अर्थात् सामूहिक भोज में भिक्षा के लिए जाने का निषेध करते हुए कहा गया है कि इस प्रकार की भिक्षा अनेक दोषो की जननी है। जन्मोत्सव, नामकरणोत्सव आदि के प्रसग पर होने वाले बृहद्भोज के निमित्त अनेक प्रकार की हिंसा होती है। ऐसे अवसर पर भिक्षा लेने जाने की स्थिति में साधुओं की सुविधा के लिए भी विशेष हिंसा की सभावना हो सकती है। अत सखडि में भिक्षु भिक्षा के लिए न जाय। आगे सूत्रकार ने यह भी बताया है कि जिस दिशा में सखडि होती हो उस दिशा मे भी भिक्षु को नहीं जाना चाहिए। सखडि कहाँ-कहाँ होती है? ग्राम, नगर, खेड, कर्बट, मडब, पट्टण, आकर, द्रोणमुख, नैगम, आश्रम, सनिवेश व राजधानी—इन सब में सखडि होती है। सखडि में भिक्षा के लिए जाने से भयकर दोष लगते हैं। उनके विषय में सूत्रकार कहते हैं कि कदाचित् वहाँ अधिक खाया जाय अथवा पीया जाय और वमन हो अथवा अपच हो तो रोग होने की सभावना होती है। गृहपति के साथ, गृहपति की स्त्री के साथ, परिव्राजकों के साथ, परिव्राजिकाओ के साथ एकमेक हो जाने पर, मदिरा आदि पीने की परिस्थिति उत्पन्न होने पर ब्रह्मचर्य भग का भय रहता है। यह एक विशेष भयकर दोष है।

भिक्षा के लिये जाते समय

भिक्षा के लिए जाने वाले भिक्षु को कहा गया है कि अपने सब उपकरण साथ रखकर ही भिक्षा के लिए जाय। एक गाँव से दूसरे गाँव जाते समय भी वैसा ही करे। वर्तमान में एक गांव से दूसरे गाव जाते समय तो इस नियम का पालन किया जाता है किन्तु भिक्षा के लिए जाते समय वैसा नहीं किया जाता। धीरे-धीरे उपकरणो में वृद्धि होती गई। अत भिक्षा के समय सब उपकरण साथ मे नहीं रखने की नई प्रथा चली हो ऐसा शक्य है।

राजकुलों मे

आगे बताया गया है कि भिक्षु को क्षत्रियो अर्थात् राजाओं के कुलों में, कुराजाओ के कुलों में, राजभृत्यों के कुलो में, राजवश के कुलों में भिक्षा के लिए नहीं जाना चाहिए। इससे मालूम होता है कि कुछ राजा एवं राजवश के लोग भिक्षुओ के साथ असद्व्यवहार करते होंगे अथवा उनके यहाँ का आहार सयम की साधना में विघ्नकर होता होगा।

मक्खन मधु, मद्य व मास

किसी गाँव मे निर्बल अथवा वृद्ध भिक्षुओं ने स्थिरवास कर रखा हो अथवा कुछ समय के लिए मासकल्पी भिक्षुओ ने निवास किया हुआ हो और वहां ग्रामानुग्राम विचरते हुए अन्य भिक्षु अतिथि के रूप में आये हों जिन्हें देख कर पहले से ही वहा रहे हुए भिक्षु यो कहें कि हे श्रमणो! यह गाँव तो बहुत छोटा है अथवा घर-घर सूतक लगा हुआ है इसलिए आपलोग आस-पास के अमुक गाव मे भिक्षा के लिए जाइए। वहां हमारे अमुक सम्बन्धी रहते हैं। आपको उनके यहां से दूध, दही, मक्खन, घी, गुड, तेल, शहद, मद्य, मांस, जलेबी, श्रीखण्ड, पूडी आदि सब कुछ मिलेगा। आपको जो पसन्द हो वह लें। खा-पीकर पात्र साफ कर फिर यहाँ आ जावें। सूत्रकार कहते हैं कि भिक्षु को इस प्रकार भिक्षा प्राप्त नहीं करनी चाहिए। यहाँ जिन खाद्य पदार्थों के नाम गिनाये हैं उनमें मक्खन शहद, मद्य व मांस का भी समावेश है। इससे मालूम होता है कि प्राचीन समय में कुछ भिक्षु मक्खन आदि लेते होंगे। यहाँ मक्खन, शहद, मद्य एव मास शब्द का कोई अन्य अर्थ नहीं है। वृत्तिकार स्वयं एतद्विषयक स्पष्टीकरण करते हुए कहते हैं कि कोई भिक्षु अतिप्रमादी हो, खाने-पीने का बहुत लालची हो तो वह शहद, मद्य एव मास ले भी सकता है. अथवा कश्चित्

अतिप्रमादावष्टब्धः अत्यन्तगृध्नुतया मधु-मद्य-मांसानि अपि आश्रयेत् अत' तदुपादानम् (आचारांग-वृत्ति, पृ. ३०६)। वृत्तिकार ने इसका अपवाद-सूत्र के रूप में भी व्याख्यान किया है। मूलपाठ के सन्दर्भ को देखते हुए यह उत्सर्गसूत्र ही प्रतीत होता है, अपवादसूत्र नहीं।

सम्मिलित सामग्री

भिक्षा के लिए जाते हुए बीच में खाई, गढ़ आदि आने पर उन्हे लांघ कर आगे न जाय। इसी प्रकार मार्ग में उन्मत्त सांढ, भैंसा, घोडा, मनुष्य आदि होने पर उस ओर न जाय। भिक्षा के लिए गये हुए जैन भिक्षु आदि को भिक्षा देने वाला गृहपति यदि यों कहे कि हे आयुष्मान् श्रमणो। मैं अभी विशेष काम मे व्यस्त हूँ। मैंने यह सारी भोजन सामग्री आप सब को दे दी है। इसे आप लोग खा लीजिए अथवा आपस में बाँट लीजिए। ऐसी स्थिति में वह भोजन सामग्री जैनभिक्षु स्वीकार न करे। कदाचित् कारणवशात् ऐसी सामग्री स्वीकार करनी पडे तो ऐसा न समझे कि दाता ने यह सारी सामग्री मुझ अकेले को दे दी है अथवा मेरे लिए ही पर्याप्त है। उसे आपस में बाटते समय अथवा साथ में मिलकर खाते समय किसी प्रकार का पक्षपात अथवा चालाकी न करे। भिक्षा-ग्रहण का यह नियम औत्सर्गिक नहीं अपितु आपवादिक है। वृत्तिकार के अनुसार अमुक प्रकार के भिक्षुओ के लिए ही यह नियम है, सबके लिए नहीं।

ग्राह्य जल

भिक्षु के लिए ग्राह्य पानी के प्रकार ये हैं उत्स्वेदिम—पिसी हुई वस्तु को भिगोकर रखा हुआ पानी, संस्वेदिम—तिल आदि बिना पिसी वस्तु को धोकर रखा हुआ पानी, तण्डुलोदक - चावल का धोवन, तिलोदक—तिल का धोवन, तुषोदक—तुष का धोवन, यवोदक—यव का धोवन, आयाम–आचाम्ल—न, आरनाल— काजी, शुद्ध अचित्त— निर्जीव पानी, आम्रपानक— आम का पानक, द्राक्षा का पानी, बिल्व का पानी, अमचूर का पानी, अनार का पानी, खजूर का पानी, नारियल का पानी, केर का पानी, वेर का पानी, आवले का पानी, इमली का पानी इत्यादि।

भिक्षु पकाई हुई वस्तु ही भोजन के लिए ले सकता है, कच्ची नहीं। इन वस्तुओं में कंद, मूल, फल, फूल, पत्र आदि सबका समावेश है।

अग्राह्य भोजन

कहीं पर अतिथि के लिए मास अथवा मछली पकाई जाती हो अथवा तेल में पूए तले जाते हो तो भिक्षु लालचवश लेने न जाय। किसी रुग्ण भिक्षु के लिए उसकी आवश्यकता होने पर वैसा करने में कोई हर्ज नहीं। मूल सूत्र में एक जगह यह भी बताया गया है कि भिक्षु को अस्थिबहुल अर्थात् जिसमें हड्डी की बहुलता हो वैसा मास व कटकबहुल अर्थात् जिसमें काटो की बहुलता हो वैसी मछली नहीं लेनी चाहिए। यदि कोई गृहस्थ यह कहे कि आपको ऐसा मास व मछली चाहिए ? तो भिक्षु कहे कि यदि तुम मुझे यह देना चाहते हो तो केवल पुद्गल भाग दो और हड्डियाँ व काटे न आवें इसका ध्यान रखो। ऐसा कहते हुए भी गृहस्थ यदि हड्डीवाला मास व काटोवाली मछली दे तो उसे लेकर एकान्त में जाकर किसी निर्दोष स्थान पर बैठ कर मास व मछली खाकर बची हुई हड्डियो व काटो को निर्जीव स्थान में डाल दे। यहाँ भी मास व मछली का स्पष्ट उल्लेख है। वृत्तिकार ने इस विषय में स्पष्टीकरण करते हुए कहा है कि इस सूत्र को आपवादिक समझना चाहिए। किसी भिक्षु को लूता अथवा अन्य कोई रोग हुआ हो और किसी अच्छे वैद्य ने उसके उपचार के हेतु बाहर लगाने के लिए मांस आदि की सिफारिश की हो तो भिक्षु आपवादिक रूप से वह ले सकता है। लगाने के बाद बचे हुए काटों व हड्डियों को निर्दोष स्थान पर फेंक देना चाहिए। यहा वृत्तिकार ने मूल में प्रयुक्त 'भुज्' धातु का 'खाना' अर्थ न करते हुए 'बाहर लगाना' अर्थ किया है। यह अर्थ सूत्र के सन्दर्भ की दृष्टि से उपयुक्त प्रतीत नही होता। वृत्तिकार ने अपने युग के अहिंसा प्रधान प्रभाव से प्रभावित होकर ही मूल अर्थ में यत्र-तत्र इस प्रकार के परिवर्तन किए हैं।

शय्यैषणा

शय्यैषणा नामक द्वितीय प्रकरण में कहा गया है कि जिस स्थान में गृहस्थ सकुटुम्ब रहते हों वहा भिक्षु नहीं रह सकता क्योंकि ऐसे स्थान में रहने से अनेक दोष लगते है। कई बार ऐसा होता है कि लोगों की इस मान्यता से कि ये श्रमण ब्रह्मचारी होते हैं अत इनसे उत्पन्न होने वाली सन्तान तेजस्वी होती है, कोई स्त्री अपने पास रहने वाले भिक्षु को कामदेव के पंजे में फँसा देती है जिससे उसे संयमभ्रष्ट होना पड़ता है। प्रस्तुत प्रकरण में मकान के प्रकार, मकानमालिकों के व्यवसाय, उनके आभूषण, उनके अभ्यग के साधन,

उनके स्नान सम्बन्धी द्रव्य आदि का उल्लेख है। इससे प्राचीन समय के मकानों व सामाजिक व्यवसायों का कुछ परिचय मिल सकता है।

ईर्यापथ

ईर्यापथ नामक तृतीय अध्ययन मे भिक्षुओं के पाद-विहार, नौकारोहण, जलप्रवेश आदि का निरूपण किया गया है। ईर्यापथ शब्द बौद्ध-परम्परा में भी प्रचलित है। तदनुसार स्थान, गमन, निषद्या और शयन इन चार का ईर्यापथ मे समावेश होता है। विनयपिटक मे एतद्विषयक विस्तृत विवेचन हैं। विहार करते समय बौद्ध भिक्षु अपनी परम्परा के नियमों के अनुसार तैयार होकर चलता है, इसी का नाम ईर्यापथ है। दूसरे शब्दो में अपने समस्त उपकरण साथ में लेकर सावधानीपूर्वक गमन करने, शरीर के अवयव न हिलाने, हाथ न उछालने, पैर न पछाडने का नाम ईर्यापथ है। जैन परम्पराभिमत ईर्यापथ के नियमो के अनुसार भिक्षु को वर्षाऋतु में प्रवास नही करना चाहिए। जहाँ स्वाध्याय, शौच आदि के लिए उपयुक्त स्थान न हो, सयम की साधना के लिए यथेष्ट उपकरण सुलभ न हों, अन्य श्रमण, ब्राह्मण, याचक आदि बडी सख्या में आये हुए हो अथवा आने वाले हों वहाँ भिक्षु को वर्षावास नही करना चाहिए। वर्षाऋतु बीत जाने पर व हेमन्त ऋतु आने पर मार्ग निर्दोष हो गये हों—जीवयुक्त न रहे हों तो भिक्षु को विहार कर देना चाहिए। चलते हुए पैर के नीचे कोई जीव-जन्तु मालूम पड़े तो पैर को ऊँचा रखकर चलना चाहिए, सकुचित कर चलना चाहिए, टेढ़ा रखकर चलना चाहिए, किसी भी तरह चलकर उस जीव को रक्षा करनी चाहिए। विवेकपूर्वक नीची नजर रखकर सामने चार हाथ भूमि देखते हुए चलना चाहिए। वैदिक परम्परा व बौद्ध परपरा के भिक्षुओं के लिए भी प्रवास करते समय इसी प्रकार से चलने की प्रक्रिया का विधान है। मार्ग मे चोरों के विविध स्थान, म्लेच्छो—बर्बर, शबर, पुलिंद, भील आदि के निवासस्थान आवें तो भिक्षु को उस ओर विहार नहीं करना चाहिए क्योंकि ये लोग धर्म से अनभिज्ञ होते हैं तथा अकालभोजी, असमय मे घूमने वाले, असमय में जगने वाले एवं साधुओं से द्वेष रखने वाले होते हैं। इसी प्रकार भिक्षु राजा-रहितराज्य, गणराज्य (अनेक राजाओं वाला राज्य), अल्पवयस्कराज्य (कम उम्र वाले राजा का राज्य), द्विराज्य (दो राजाओं का सयुक्त राज्य) एव अशान्त राज्य (एक-दूसरे का विरोधी राज्य) की ओर भी विहार न करे क्योंकि ऐसे राज्यो में जाने से सयम की विराधना होने का भय रहता है। जिन गावो की दूरी बहुत अधिक हो अर्थात् जहा दिन भर चलते रहने पर भी एक गाव से दूसरे

गाव न पहुचा जाता हो उस ओर विहार करने का भी निषेध किया गया है। मार्ग मे नदी आदि आने पर उसे नाव की सहायता के बिना पार न कर सकने की स्थिति में ही भिक्षु नाव का उपयोग करे, अन्यथा नहीं। पानी में चलते समय अथवा नाव से पानी पार करते समय पूरी सावधानी रखे। यदि दो-चार कोस के घेरे मे भी स्थलमार्ग हो तो जलमार्ग से न जाय। नाव में बैठने पर नाविक द्वारा किसी प्रकार की सेवा मागी जाने पर न दे किन्तु मौनपूर्वक ध्यान परायण रहे। कदाचित् नाव में बैठे हुए लोग उसे पकड कर पानी में फेंकने लगें तो वह उन्हे कहे कि आप लोग ऐसा न करिये। मैं खुद ही पानी में कूद जाता हू। फिर भी यदि लोग उसे पकड कर फेंक दें तो समभावपूर्वक पानी में गिर जाय एव तैरना आता हो तो शान्ति से तैरते हुए बाहर निकल जाय। विहार करते हुए मार्ग में चोर मिलें और भिक्षु से कहें कि ये कपडे हमे दे दो तो वह उन्हे कपडे न दे। छीनकर ले जाने की स्थिति में दयनीयता न दिखावे और न किसी से किसी प्रकार की शिकायत ही करे।

भाषाप्रयोग

भाषाजात नामक चतुर्थ अध्ययन में भिक्षु की भाषा का विवेचन है। भाषा के विविध प्रकारों मे से किस प्रकार की भाषा का प्रयोग भिक्षु को करना चाहिए, किसके साथ कैसी भाषा बोलनी चाहिए, भाषा-प्रयोग मे किन बातों का विशेष ध्यान रखना चाहिए—इन सब पहलुओ पर पर्याप्त प्रकाश डाला गया है।

वस्त्रधारण

वस्त्रैषणा नामक पचम प्रकरण में भिक्षु के वस्त्रग्रहण व वस्त्रधारण का विचार है। जो भिक्षु तरुण हो, बलवान् हो, रुग्ण न हो उसे एक वस्त्र धारण करना चाहिए, दूसरा नहीं। भिक्षुणी को चार सघाटियाँ धारण करनी चाहिए जिनमें से एक दो हाथ चौडी हो, दो तीन हाथ चौडी हो और एक चार हाथ चौडी हो। श्रमण किस प्रकार के वस्त्र धारण करे? जगिय—ऊँट आदि की ऊन से बना हुआ, भगिय—द्वीन्द्रिय आदि प्राणियो की लार से बना हुआ, साणिय—सनकी छाल से बना हुआ, पोत्तग—ताडपत्र के पत्तो से बना हुआ, खोमिय—कपास का बना हुआ एव तूलकड—आक आदि की रुई से बना हुआ वस्त्र श्रमण काम में ले सकता है। पतले, सुनहले, चमकते एव बहुमूल्य वस्त्रों का उपयोग श्रमण के लिए वर्जित है। ब्राह्मणो के वस्त्र के उपयोग के विषय में मनुस्मृति (अ० २, श्लो० ४०-४१) मे एव बौद्ध श्रमणों के वस्त्रोपयोग के सम्बन्ध में विनयपिटक

(पृ० २७५) मे प्रकाश डाला गया है। ब्राह्मणो के लिए निम्नोक्त छ प्रकार के वस्त्र अनुमत हैं कृष्णमृग, रुरु (मृगविशेष) एवं छाग (बकरा) का चमडा, सन, क्षुमा (अलसी) एवं मेष (भेड) के लोम से बना वस्त्र। बौद्ध श्रमणों के लिए निम्नोक्त छ प्रकार के वस्त्र विहित हैं कौशेय—रेशमी वस्त्र, कबल, कोजव—लबे बाल वाला कबल, क्षौम - अलसी की छाल से बना हुआ वस्त्र, शाण—सन की छाल से बना हुआ वस्त्र, भंग—भग की छाल से बना हुआ वस्त्र। जैन भिक्षुओं के लिए जगिय आदि उपर्युक्त छ. प्रकार के वस्त्र ग्राह्य हैं। बौद्ध भिक्षुओं के लिए बहुमूल्य वस्त्र न लेने के सम्बन्ध में कोई विशेष नियम नही है। जैन श्रमणो के लिए कबल, कोजव एव बहुमूल्य वस्त्र के उपयोग का स्पष्ट निषेध है।

पात्रैषणा

पात्रैषणा नामक षष्ठ अध्ययन में बताया गया है कि तरुण, बलवान् एव स्वस्थ भिक्षु को केवल एक पात्र रखना चाहिए। यह पात्र अलाबु, काष्ठ अथवा मिट्टी का हो सकता है। बौद्ध श्रमणो के लिए मिट्टी व लोहे के पात्र का उपयोग विहित है, काष्ठादि के पात्र का नहीं।

अवग्रहैषणा

अवग्रहैषणा नामक सप्तम अध्ययन में अवग्रहविषयक विवेचन है। अवग्रह अर्थात् किसी के स्वामित्व का स्थान। निर्ग्रन्थ भिक्षु किसी स्थान मे ठहरने के पूर्व उसके स्वामी की अनिवार्यरूप से अनुमति ले। ऐसा न करने पर उसे अदत्तादान—चोरी करने का दोष लगता है।

मलमूत्रविसर्जन

द्वितीय चूलिका के उच्चार प्रस्रवणनिक्षेप नामक दसवें अध्ययन मे बताया गया है कि भिक्षु को अपना टट्टी पेशाब कहाँ व कैसे डालना चाहिए ? ग्रथ की योजना करने वाले ज्ञानी एव अनुभवी पुरुष यह जानते थे कि यदि मलमूत्र उपयुक्त स्थान पर न डाला गया तो लोगो के की हानि होने के साथ ही साथ अन्य प्राणियो को कष्ट पहुँचेगा एव जीवहिंसा में वृद्धि होगी। जहाँ व जिस प्रकार डालने से किसी भी प्राणी के जीवन की विराधना की आशंका हो वहाँ व उस प्रकार भिक्षु को मलमूत्रादिक नहीं डालना चाहिए।

शब्दश्रवण व रूपदर्शन

आगे के दो अध्ययनो में बताया गया है कि किसी भी प्रकार के मधुर शब्द सुनने की भावना से अथवा कर्कश शब्द न सुनने की इच्छा से भिक्षु को गमनागमन

नहीं करना चाहिए। फिर भी यदि वैसे शब्द सुनने ही पड़ें तो समभावपूर्वक सुनना व सहन करना चाहिए। यही बात मनोहर व अमनोहर रूपादि के विषय में भी है। इन अध्ययनों में सूत्रकार ने विविध प्रकार के शब्दों व रूपों पर प्रकाश डाला है।

परक्रियानिषेध :

इनसे आगे के दो अध्ययनों मे भिक्षु के लिए परक्रिया अर्थात् किसी अन्य व्यक्ति द्वारा उसके शरीर पर की जाने वाली किसी भी प्रकार की क्रिया, यथा शृङ्गार, उपचार आदि स्वीकार करने का निषेध किया गया है। इसी प्रकार भिक्षु-भिक्षु के बीच की अथवा भिक्षुणी भिक्षुणी के बीच की परक्रिया भी निषिद्ध है।

महावीर-चरित :

भावना नामक तृतीय चूलिका में भगवान् महावीर का चरित्र है। इसमें भगवान् का स्वर्गच्यवन, गर्भापहार, जन्म, दीक्षा, केवलज्ञान एव निर्वाण वर्णित है। आषाढ़ शुक्ला षष्ठी के दिन हस्तोत्तरा नक्षत्र मे भारतवर्ष के दक्षिण ब्राह्मणकुडपुर ग्राम में भगवान् स्वर्ग से मृत्युलोक में आये। तदनन्तर भगवान् के हितानुकम्पक देव ने उनके गर्भ को आश्विन कृष्णा त्रयोदशी के दिन हस्तोत्तरा नक्षत्र में उत्तर-क्षत्रियकुडपुर ग्राम में रहने वाले ज्ञातक्षत्रिय काश्यप-गोत्रीय सिद्धार्थ की वासिष्ठगोत्रीया त्रिशला क्षत्रियाणी की कुक्षि में बदला और त्रिशला के गर्भ को दक्षिण-ब्राह्मणकुण्डपुर ग्राम में रहने वाली जालधर गोत्रीया देवानन्दा ब्राह्मणी की कुक्षि में बदला। उस समय महावीर तीन ज्ञानयुक्त थे। नौ महीने व साढे सात दिन-रात बीतने पर चैत्र शुक्ला त्रयोदशी के दिन हस्तोत्तरा नक्षत्र में भगवान् का जन्म हुआ। जिस रात्रि में भगवान् पैदा हुए उस रात्रि में भवनपति, वाणव्यन्तर, ज्योतिष्क एव वैमानिक देव व देवियाँ उनके जन्मस्थान पर आये। चारों ओर दिव्य प्रकाश फैल गया। देवो ने अमृत की तथा अन्य सुगन्धित पदार्थों व रत्नो की वर्षा की। भगवान् का सूतिकर्म देव देवियों ने सम्पन्न किया। भगवान् के त्रिशला के गर्भ में आने के बाद सिद्धार्थ का घर धन, सुवर्ण आदि से बढने लगा अत मातापिता ने जातिभोजन कराकर खूब धूमधाम के साथ भगवान् का वर्धमान नाम रखा। भगवान् पांच प्रकार के अर्थात् शब्द, स्पर्श, रस, रूप व गधमय कामभोगो का भोग करते हुए रहने लगे। भगवान् के तीन नाम थे वधमान, श्रमण व महावीर। इनके पिता के भी तीन नाम थे सिद्धार्थ, श्रेयास व जसस। माता के भी तीन नाम थे :

त्रिशला, विदेहदत्ता व प्रियकारिणी। इनके पितृव्य अर्थात् चाचा का नाम सुपार्श्व, ज्येष्ठ भ्राता का नाम नंदिवर्धन, ज्येष्ठ भगिनी का नाम सुदर्शना व भार्या का नाम यशोदा था। इनकी पुत्री के दो नाम थे. अनवद्या व प्रियदर्शना।[१] इनकी दौहित्री के भी दो नाम थे : शेषवती व यशोमती। इनके मातापिता पार्श्वापत्य अर्थात् पार्श्वनाथ के अनुयायी थे। वे दोनों श्रावक धर्म का पालन करते थे। महावीर तीस वर्ष तक सागारावस्था में रहकर मातापिता के स्वर्गवास के बाद अपनी प्रतिज्ञा पूरी होने पर समस्त रिद्धिसिद्धि का त्याग कर अपनी संपत्ति को लोगों में बाँट कर हेमन्त ऋतु की मृगशीर्ष—अगहन कृष्णा दशमी के दिन हस्तोत्तरा नक्षत्र में अनगार वृत्ति वाले हुए। उस समय लोकान्तिक देवों ने आकर भगवान् महावीर से कहा कि भगवन्! समस्त जीवों के हितरूप तीर्थ का प्रवर्तन कीजिये। बाद में चारों प्रकार के देवों ने आकर उनका दीक्षा-महोत्सव किया। उन्हें शरीर पर व शरीर के नीचे के भाग पर फूँक मारते ही उड़ जाय ऐसा पारदर्शक हंसलक्षण वस्त्र पहनाया, आभूषण पहनाये और पालकी में बैठा कर अभिनिष्क्रमण-उत्सव किया। भगवान् पालकी में सिंहासन पर बैठे। उनके दोनों ओर शक्र और ईशान इन्द्र खड़े-खड़े चँवर डुलाते थे। पालकी के अग्रभाग अर्थात् पूर्वभाग को सुरों ने, दक्षिणभाग को असुरों ने, पश्चिमभाग को गरुडों ने एवं उत्तरभाग को नागों ने उठाया। त्रिय-कुण्डपुर के बीचोबीच होते हुए भगवान् ज्ञातखण्ड नामक उद्यान में आये। पालकी से उतर कर सारे आभूषण निकाल दिये। बाद में भगवान् के पास घुटनों के बल बैठे हुए वैश्रमण देवों ने हंसलक्षण कपड़े में वे आभूषण ले लिये। तदनन्तर भगवान् ने अपने दाहिने हाथ से सिर की दाहिनी ओर के व बायें हाथ से बायीं ओर के बालों का लोच किया। इन्द्र ने भगवान् के पास घुटनों के बल बैठकर वज्रमय थाल में वे बाल ले लिये व भगवान् की अनुमति से उन्हें क्षीरसमुद्र में डाल दिये। बाद में भगवान् ने सिद्धों को नमस्कार कर 'सव्वं मे अकरणिज्जं पावकम्मं' अर्थात् 'मेरे लिए सब प्रकार का पापकर्म अकरणीय है', इस प्रकार का सामायिकचारित्र स्वीकार किया। जिस समय भगवान् ने यह चारित्र स्वीकार किया उस समय देवपरिषद् एवं मनुष्यपरिषद् चित्रवत्

---

[१] ज्येष्ठ भगिनी व पुत्री के नामों में कुछ गड़बड़ी हुई मालूम होती है। विशेषावश्यक-भाष्यकार ने (गा २३०७) महावीर की पुत्री का नाम ज्येष्ठा, सुदर्शना व अनवद्यांगी बताया है जब कि आचारांग में महावीर की बहिन का नाम सुदर्शना तथा पुत्री का नाम अनवद्या व प्रियदर्शना बताया गया है।

स्थिर एव शान्त हो गई। इन्द्र की आज्ञा से बजने वाले दिव्य बाजे शान्त हो गये। भगवान् द्वारा उच्चरित चारित्रग्रहण के शब्द सबने शान्तभाव से सुने। क्षायोपशमिक चारित्र स्वीकार करने वाले भगवान् को मनःपर्यायज्ञान उत्पन्न हुआ। इस ज्ञानद्वारा वे ढाई द्वीप में रहे हुए व्यक्त मनवाले समस्त पंचेन्द्रिय प्राणियो के मनोगत भावो को जानने लगे। बाद में दीक्षित हुए भगवान् को उनके मित्रजनो, ज्ञातिजनों स्वजनों एव सम्बन्धीजनो ने विदाई दी। विदाई लेने के बाद भगवान् ने यह प्रतिज्ञा की कि आज से बारह वर्ष पर्यन्त शरीर की चिन्ता न करते हुए देव, मानव, पशु एव पक्षीकृत समस्त उपसर्गों को समभावपूर्वक सहन करूँगा, क्षमापूर्वक सहन करूँगा। ऐसी प्रतिज्ञा कर वे मुहूर्त दिवस शेष रहने पर उत्तरक्षत्रियकुण्डपुर से रवाना होकर कम्मारग्राम पहुँचे। तत्पश्चात् शरीर की किसी प्रकार की परवाह न करते हुए महावीर उत्तम सयम, तप, ब्रह्मचर्य, क्षमा, त्याग एव सन्तोषपूर्वक पांच समिति व तीन गुप्ति का पालन करते हुए, अपनी आत्मा को भावित करते हुए विचरने लगे एव आने वाले उपसर्गों को शान्तिपूर्वक प्रसन्न चित्त से सहन करने लगे। इस प्रकार भगवान् ने बारह वर्ष व्यतीत किये। तेरहवा वर्ष लगने पर वैशाख शुक्ला दशमी के दिन छाया के पूर्व दिशा की ओर मुडने पर अर्थात् अपराह्न में जिस समय महावीर जभियग्राम के बाहर उज्जुवालिया नामक नदी के उत्तरी किनारे पर श्यामाक नामक गृहपति के खेत में व्यावृत्त नामक चैत्य के समीप गोदोहासन से बैठे हुए ना ले रहे थे, दो उपवास धारण किये हुए थे, सिर नीचे रख कर दोनों घुटने ऊँचे किये हुए ध्यान में लीन थे उस समय उन्हें अनन्त—प्रतिपूर्ण—समग्र—निरावरण केवलज्ञान-दर्शन हुआ।

अब भगवान् अर्हत्—जिन हुए, केवली—सर्वज्ञ—सर्वभावदर्शी हुए। देव, मनुष्य एवं असुरलोक के पर्यायों के ज्ञाता हुए। आगमन, गमन, स्थिति, च्यवन, उपपात, प्रकट, गुप्त, कथित, अकथित आदि समस्त क्रियाओं व भावों के द्रष्टा हुए, ज्ञाता हुए। जिस समय भगवान् केवली, सर्वज्ञ, सर्वदर्शी हुए उस समय भवनपति आदि चारो प्रकार के देवों व देवियों ने आकर भारी उत्सव किया।

भगवान् ने अपनी आत्मा तथा लोक को सम्पूर्णतया देखकर पहले देवों को और बाद में मनुष्यो को धर्मोपदेश दिया। बाद में गौतम आदि श्रमण-निर्ग्रन्थों को भावनायुक्त पाच महाव्रतो तथा छः जीवनिकायों का स्वरूप समझाया। भावना नामक प्रस्तुत चूलिका में इन पाच महाव्रतों का स्वरूप

विस्तारपूर्वक समझाया गया है। साथ ही प्रत्येक व्रत की पाच-पाच भावनाओ का स्वरूप भी बताया गया है।

ममत्वमुक्ति :

अन्त में विमुक्ति नामक चतुर्थ चूलिका मे ममत्वमूलक आरभ और परिग्रह के फल की मीमासा करते हुए भिक्षु को उनसे दूर रहने को कहा गया है। उसे पर्वत की भाति निश्चल व दृढ़ रह कर सर्प की केंचुली की भाति ममत्व को उतार कर फेंक देना चाहिए।

वीतरागता एव सर्वज्ञता

पातजल योगसूत्र मे यह बताया गया है कि अमुक भूमिका पर पहुँचे हुए साधक को केवलज्ञान होता है और वह उस ज्ञान द्वारा समस्त पदार्थों एव समस्त घटनाओं को जान लेता है। इस परिभाषा के अनुसार भगवान् महावीर को भी केवली, सर्वज्ञ अथवा सर्वदर्शी कहा जा सकता है। किन्तु साधक-जीवन में प्र एवं महत्ता केवलज्ञान-केवलदर्शन की नहीं है अपितु वीतरागता, वीत-मोहता, निरास्रवता, निष्कषायता की है। वीतरागता की दृष्टि से ही आचार्य हरिभद्र ने कपिल और सुगत को भी सर्वज्ञ के रूप में स्वीकार किया है। भगवान् महावीर को ही सर्वज्ञ मानना व किसी अन्य को सर्वज्ञ न मानना ठीक नहीं। जिसमें वीतरागता है वह सर्वज्ञ है—उसका ज्ञान निर्दोष है। जिसमें सरागता है वह है—उसका ज्ञान सदोष है।

इस प्रकार आचारांग की समीक्षा पूरी करने के बाद अब द्वितीय अग सूत्र-कृताग की समीक्षा प्रारम्भ की जाती है। इस अगसूत्र व आगे के अन्य अगसूत्रों की समीक्षा उतने विस्तार से न हो सकेगी जितने विस्तार से आचाराग की हुई है और न वैसा कोई निश्चित विवेचना-क्रम ही रखा जा सकेगा।

प्र

४

सू त्र तां ग

सूत्रकृत की रचना
नियतिवाद तथा आजीविक
साख्यमत
कर्मचयवाद
बुद्ध का शूकर-मांसभक्षण
हिंसा का हेतु
जगत्-कर्तृत्व
सयमधर्म
वेयालिय
उपसर्ग
स्त्री परिज्ञा
नरक-विभक्ति
वीरस्तव
कुशील
वीर्य अर्थात् पराक्रम
धर्म
समाधि
मार्ग
रण
याथातथ्य
ग्रथ अर्थात् परिग्रह
आदान अथवा आदानीय
गाथा
ब्र , श्रमण, भिक्षु व निर्ग्रन्थ
सात महाअध्ययन

पुण्डरीक

क्रियास्थान

बौद्ध दृष्टि से हिंसा

आहारपरिज्ञा

प्रत्याख्यान

आचारश्रुत

आर्द्रकुमार

नालंदा

उदय पेढालपुत्त

चतुर्थ प्रकरण

तं

यांग सूत्र में सूत्रकृतांग[1] का परिचय देते हुए कहा गया है कि इसमें य—स्वमत, परसमय—परमत, जोव, अजीव, पुण्य, पाप, , संवर,

---

१ (अ) निर्युक्ति व शीलांक की टीका के साथ-आगमोदय समिति, बम्बई सन् १९१७, गोडीपार्श्व जैन ग्रन्थमाला, बम्बई, सन् १९५०

(आ) शीलांक, हर्षकुल व पार्श्वचन्द्र की टीकाओं के साथ-धनपतसिंह, कलकत्ता, वि० सं० १९३६

(इ) अंग्रेजी अनुवाद—H Jacobi, S B E Series, Vol 45, Oxford, 1895

(ई) हिन्दी छायानुवाद—गोपालदास जीवाभाई पटेल, श्वे० स्था० जैन कॉन्फरेंस, बम्बई, सन् १९३८

(उ) हिन्दी अनुवादसहित—अमोलक ऋषि, हैदराबाद, वी स २४४६

(ऊ) निर्युक्तिसहित—पी एल वैद्य, पूना, सन् १९२८

(ऋ) गुजराती छायानुवाद—गोपालदास जीवाभाई पटेल, पूंजाभाई जैन ग्रन्थमाला, अहमदाबाद

(ए) प्रथम श्रुतस्कन्ध शीलांककृत टीका व उसके हिन्दी अनुवाद के साथ—अम्बिकादत्त ओझा, महावीर जैन ज्ञानोदय सोसायटी, राजकोट, वि०सं० १९९३-१९९५, द्वितीय श्रुतस्कन्ध हिन्दी अनुवादसहित-अम्बिकादत्त ओझा, बेंगलोर, वि०सं० १९९७

निर्जरा, बध, मोक्ष आदि तत्वो के विषय में निर्देश है, नवदीक्षितों के लिए बोधवचन हैं, एक सौ अस्सी क्रियावादो मतो, चौरासी अक्रियावादी मतों, सडसठ अज्ञानवादी मतो व बत्तीस विनयवादी मतो इस प्रकार सब मिलाकर तीन सौ तिरसठ अन्य दृष्टियों अर्थात् अन्ययूथिक मतो की चर्चा है। इसमे सदृष्टान्त वर्णित सूत्रार्थ मोक्षमार्ग के प्रकाशक हैं। सूत्रकृताग के इस सामान्य विषयवर्णन के साथ ही साथ समवायाग (तेईसवें समवाय) में इसके तेईस अध्ययनों के विशेष नामो का भी उल्लेख किया गया है। इसी प्रकार श्रमणसूत्र में भी इस अग के तेईस अध्ययनों का निर्देश है—प्रथम श्रुतस्कन्ध में सोलह व द्वितोय श्रुतस्कन्ध में सात। इसमें अध्ययनो के नाम नही दिये गये हैं।

नंदिसूत्र मे बताया गया है कि सूत्रकृताग मे लोक, अलोक, लोकालोक, जोव, अजीव, स्वसमय एव परसमय का निरूपण है तथा क्रियावादी आदि तीन सौ तिरसठ पाखण्डियों अर्थात् अन्य मतावलम्बियों की चर्चा है।

राजवार्तिक के अनुसार सूत्रकृताग में ज्ञान, विनय, कल्प्य तथा अकल्प्य का विवेचन है, छेदोपस्थापना, व्यवहारधर्म एव क्रियाओ का प्ररूपण है।

धवला के अनुसार सूत्रकृताग का विषयनिरूपण राजवार्तिक के ही समान है। इसमें स्वसमय एव परसमय का विशेष उल्लेख है।

जयधवला मे कहा गया है कि सूत्रकृताग मे स्वसमय, परसमय, स्त्री परिणाम, क्लीबता, अस्पष्टता—मन की बातो की अस्पष्टता, कामावेश, विभ्रम, आस्फालनसुख—स्त्री सग का सुख, पुंस्कामिता—पुरुषेच्छा आदि की चर्चा है।

अंगपण्णत्ति में बताया है कि सूत्रकृताग में ज्ञान, विनय, निर्विघ्न अध्ययन, सर्वसत्क्रिया, प्रज्ञापना, सुकथा, कल्प्य, व्यवहार, धर्मक्रिया, छेदोपस्थापन, यति-समय, परसमय एव क्रियाभेद का निरूपण है।

प्रतिक्रमणग्रन्थत्रयी नामक पुस्तक में 'तेवीसाए सुद्दयडज्झाणेसु' ऐसा उल्लेख है जिसका अर्थ हैं कि सूत्रकृत के तेईस अध्ययन हैं। इस पाठ की प्रभाचन्द्रीय वृत्ति में इन तेईस अध्ययनों के नाम भी गिनाये हैं। ये नाम इस प्रकार हैं १ समय, २ वैतालोय, ३ उपसर्ग, ४ स्त्रीपरिणाम, ५. नरक, ६ वीरस्तुति, ७ कुशीलपरिभाषा, ८ वीर्य, ९. धर्म, १० अग्र, ११ मार्ग, १२ समवसरण, १३. त्रिकालग्रन्थहृद (?), १४ आत्मा, १५ तदित्थगाथा (?), १६ पुण्डरीक, १७ क्रियास्थान, १८. आहारकपरिणाम, १९, प्रत्याख्यान, २०, अनगारगुणकीर्ति, २१ श्रुत, २२ अर्थ, २३, नालंदा। इस प्रकार अचेलक परम्परा में भी सूत्रकृतांग

के तेईस अध्ययन मान्य हैं। इन नामो व सचेलक परम्परा के टीकाग्रथ आवश्यक-वृत्ति (पृ. ५१ व ६५८) मे उपलब्ध नामो में थोडासा अन्तर है जो नगण्य है।

अचेलक परम्परा मे इस अग के प्राकृत में तीन नाम मिलते हैं सुद्दयड, सूदयड और सूदयद। इनमें प्रयुक्त 'सुद्द' अथवा 'सूद' शब्द 'सूत्र' का एव 'यड' अथवा 'यद' शब्द 'कृत' का सूचक है। इस अग के प्राकृत नामो का सस्कृत रूपान्तर 'सूत्रकृत' ही प्रसिद्ध है। पूज्यपाद स्वामी से लेकर श्रुतसागर तक के सभी तत्त्वार्थवृत्तिकारो ने 'सूत्रकृत' नाम का ही उल्लेख किया है। सचेलक परम्परा मे इसके लिए सूतगड, सूयगड और सुत्तकड—ये तीन प्राकृत नाम प्रसिद्ध हैं। इनका सस्कृत रूपान्तर भी हरिभद्र आदि आचार्यों ने 'सूत्रकृत' ही दिया है। प्राकृत मे भी नाम तो एक ही है किन्तु उच्चारण एव व्यजनविकार की विविधता के कारण उसके रूपो में विशेषता आ गई है। अर्थबोधक सक्षिप्त शब्दरचना को 'सूत्र' कहते हैं। इस प्रकार की रचना जिसमे 'कृत' अर्थात् की गई है वह सूत्रकृत है। समवायाग आदि मे निर्दिष्ट विषयो अथवा अध्ययनों में से सूत्रकृताग की उपलब्ध वाचना में स्वमत तथा परमत की चर्चा प्रथमश्रुत स्कन्ध में सक्षेप मे और द्वितीय श्रुतस्कन्ध में स्पष्ट रूप से आती है। इसमें जीवविषयक निरूपण भी स्पष्ट है। नवदीक्षितो के लिए उपदेशप्रद बोधवचन भी वर्तमान वाचना मे स्पष्ट रूप मे उपलब्ध हैं। तीन सौ तिरसठ पाखडमतो की चर्चा के लिए इस सूत्र में एक पूरा अध्ययन ही है। अन्यत्र भी प्रसगवशात् भूतवादी, स्कन्धवादी, एकात्म-वादी, नियतिवादी आदि मतावलम्बियो की चर्चा आती है। जगत् की रचना के विविध वादों की चर्चा तथा मोक्षमार्ग का निरूपण भी प्रस्तुत वाचना में उपलब्ध है। यत्र-तत्र ज्ञान, आस्रव, पुण्य-पाप आदि विषयो का निरूपण भी इसमें है। कल्प्य-अकल्प्यविषयक श्रमणसम्बन्धी आचार-व्यवहार की चर्चा के लिए भी वर्तमान वाचना मे अनेक गाथाएँ तथा विशेष प्रकरण उपलब्ध हैं। धर्म एव क्रिया-स्थान नामक विशेष अध्ययन भी मौजूद हैं। जयधवलोक्त स्त्रीपरिणाम से लेकर पुस्कामिता तक के सब विषय उपसर्गपरिज्ञा तथा स्त्रीपरिज्ञा नामक अध्ययनों में स्पष्टतया उपलब्ध है। इस प्रकार अचेलक तथा सचेलक ग्रथो में निर्दिष्ट सूत्रकृताग के विषय अधिकाशतया वर्तमान वाचना मे विद्यमान हैं। यह अवश्य है कि किसी विषय का निरूपण प्रधानतया है तो किसी का गौणतया।

सूत्रकृत की रचना

सूत्रकृताग के तेईस अध्ययनो मे से प्रथम अध्ययन का नाम समय है। 'समय' शब्द सिद्धान्त का सूचक है। इस अध्ययन में स्वसिद्धान्त के निरूपण के

साथ ही साथ परमत का भी निरसन की दृष्टि से निरूपण किया गया है। इसका प्रारभ 'बुज्झिज्ज' शब्द से शुरू होने वाले पद्य से होता है

बुज्झिज्ज त्ति तिउट्टिज्जा बंधणं परिजाणिया।
किमाह बंधणं वीरो किं वा जाणं तिउट्टइ॥

इस गाथा के उत्तरार्ध मे प्रश्न है कि भगवान् महावीर ने बंधन किसे कहा है? इस प्रश्न के उत्तर के रूप मे यह समग्र द्वितीय अंग बनाया गया है। निर्युक्तिकार कहते हैं कि जिनवर का वचन सुनकर अपने क्षयोपशम द्वारा शुभ अभिप्रायपूर्वक गणधरों ने जिस 'सूत्र' की रचना 'कृत' अर्थात् की उसका नाम सूत्रकृत है। यह सूत्र अनेक योगधर साधुओ को स्वाभाविक भाषा अर्थात् प्राकृतभाषा में प्रभाषित अर्थात् कहा गया है।[1] इस प्रकार निर्युक्तिकार ने ग्रथकार के रूप में किसी विशेष व्यक्ति का नाम नही बताया है। वक्ता के रूप मे जिनवर का तथा श्रोता के रूप मे गणधरो का निर्देश किया है। चूर्णिकार तथा वृत्तिकार ने अपनी पूर्व परम्परा का अनुसरण करते हुए वक्ता के रूप मे सुधर्मा का एवं श्रोता के रूप मे जबू का नामोल्लेख किया है। इस ग्रथ मे बुद्ध के मत के उल्लेख के साथ बुद्ध का नाम भी स्पष्ट आता है एवं बुद्धोपदिष्ट एक रूपककथा का भी अत्यन्त स्पष्ट उल्लेख है। इससे कल्पना की जा सकती है कि जब बौद्ध पिटको के सकलन के लिए संगीतिकाएँ हुईं, उनकी वाचना निश्चित हुई तथा बुद्ध के विचार लिपिबद्ध हुए वह काल इस सूत्र के निर्माण का काल रहा होगा। आचाराग में भी अन्यमतो का निर्देश है किन्तु एतद्विषयक जैसा उल्लेख सूत्रकृताग में है वैसा आचाराग मे नही। सूत्रकृताग मे इन मत-मतान्तरो का निरसन 'ये मत मिथ्या हैं, ये मतप्रवर्तक आरंभी हैं, प्रमादी हैं, विषयासक्त हैं' इत्यादि शब्दो द्वारा किया गया है। इसके लिए किसी विशेष प्रकार का तर्कशैली का प्रयोग प्राय नहीवत् है।

नियतिवाद तथा आजीविक सम्प्रदाय

सूत्रकृताग के प्रथम अध्ययन के द्वितीय उद्देशक के प्रारभ में नियतिवाद का उल्लेख है। वहा मूल में इस मत के पुरस्कर्ता गोशालक का कहीं भी नाम नहीं है। उपासकदशा नामक सप्तम अग में गोशालक तथा उसके मत नियतिवाद का स्पष्ट उल्लेख है।[2] उसमें बताया गया है कि गोशालक के

---

[1] सूत्रकृतागनिर्युक्ति, गा १८-१९
[2] देखिये—सद्दालपुत्त एवं कुंडकोलियसम्बन्धी प्रकरण

मतानुसार वल, वीर्य, उत्थान, कर्म आदि कुछ नहीं है। सब भाव सर्वदा के लिए नियत हैं। बौद्ध ग्रन्थ दीघनिकाय, मज्झिमनिकाय सयुत्तनिकाय, अगुत्तरनिकाय आदि में तथा जैन ग्रथ व्याख्याप्रज्ञप्ति, स्थानाग, समवायाग, औपपातिक आदि मे भी आजीविक मत-प्रवर्तक नियतिवादी गोशालक का (नामपूर्वक अथवा नामरहित) वर्णन उपलब्ध है। इस वर्णन का सार यह है कि गोशालक ने एक विशिष्ट पथप्रवर्तक के रूप मे अच्छी ख्याति प्राप्त की थी। वह विशेषतया श्रावस्ती की अपनी अनुयायिनी हाला नामक कुम्हारिन के यहा तथा इसी नगरी के आजीविक मठ मे रहता था। गोशालक का आजीविक सम्प्रदाय राजमान्य भी हुआ। प्रियदर्शी राजा अशोक एव उसके उत्तराधिकारी महाराजा दशरथ ने आजीविक सम्प्रदाय को दान दिया था, ऐसा उल्लेख शिलालेखों में आज भी उपलब्ध है। बौद्ध ग्रथ महावश की टीका मे यह बताया गया है कि अशोक का पिता बिन्दुसार भी आजीविक सम्प्रदाय का आदर करता था। छठी शताब्दी मे हुए वराहमिहिर के ग्रथ में भी आजीविक भिक्षुओ का उल्लेख है। बाद में इस सम्प्रदाय का धीरे-धीरे ह्रास होता गया व अन्त में किसी अन्य भारतीय सम्प्रदाय मे विलयन हो गया। फिर तो यहा तक हुआ कि आजीविक सम्प्रदाय, त्रैराशिकमत और दिगम्बर परम्परा—इन तीनो के बीच कोई भेद ही नही रहा। [1]शीलाकदेव व अभयदेव[2] जैसे विद्वान् वृत्तिकार तक इनकी भिन्नता न बता सके। कोशकार[3] हलायुध (दसवी शताब्दी) ने इन तीनो को पर्यायवाची माना है। दक्षिण के तेरहवी शताब्दी के कुछ शिलालेखो में ये तीनो अभिन्न रूप से उल्लिखित हैं।

साख्यमत

प्रस्तुत सूत्र मे अनेक मत-मतान्तरो की चर्चा आती है। इनके पुरस्कर्ताओ के विषय में नामपूर्वक कोई खास वर्णन मूल में उपलब्ध नहीं है। इन मतो में

---

१ "म एव गोशालकमतानुसारी त्रैराशिक निराकृत । पुन अन्येन प्रकारेण आह"—सूत्रकृत० २, श्रुत० ६ आर्द्रकीय अध्ययन गाथा १४ वीं का अवतरण—शीलाङ्कवृत्ति, पृ० ३९३

२ "त एव च आजीविका त्रैराशिका भणिता"—समवायवृत्ति—अभयदेव, पृ० १३०

३ "रजोहरणधारी च श्वेतवासा सिताम्बर ॥ ३४४ ॥
नागाटो दिग्वासा क्षपण श्रमणश्च जीवको जैन ।
आजीवो मलधारी निर्ग्रन्थ कथ्यते सद्भि ॥ ३४५ ॥
—हलायुधकोश, द्वितीयकाड

से बौद्धमत व नियतिवाद विशेष उल्लेखनीय हैं। इन दोनों के प्रवर्तक भगवान् महावीर के समकालीन थे। सांख्यसम्मत आत्मा के अकर्तृत्व का निरसन करते हुए सूत्रकार कहते हैं:

जे ते उ वाइणो एव लोगे तेसिं कओ सिया ?
तमाओ ते तम जति मदा आरभनिस्सिआ ॥

अर्थात् इन वादियो के मतानुसार ससार की जो व्यवस्था प्रत्यक्ष दिखाई देती है उसकी सगति कैसे होगी ? ये अधकार से अधकार में जाते हैं, मद हैं, आरभ-समारभ मे डूबे हुए हैं।

उपर्युक्त गाथा के शब्दो से ऐसा मालूम होता है कि भगवान् महावीर के समय में अथवा सूत्रयोजक के युग मे सांख्यमतानुयायी अहिंसाप्रधान अथवा अपरिग्रहप्रधान नहीं दिखाई देते थे।

अज्ञानवाद

प्रस्तुत सूत्र के प्रथम अध्ययन के द्वितीय उद्देशक की छठी गाथा से जिस वाद की चर्चा प्रारभ होती है व चौदहवी गाथा से जिसका खण्डन शुरू होता है उसे चूर्णिकार तथा वृत्तिकार ने 'अज्ञानवाद' नाम दिया है। निर्युक्तिकार ने कहा है कि नियतिवाद के बाद क्रमश अज्ञानवाद, ज्ञानवाद एव बुद्ध के कर्मचय की चर्चा आती है। निर्युक्तिकारनिर्दिष्ट ज्ञानवाद की चर्चा चूर्णि अथवा वृत्ति में कहीं भी दिखाई नहीं देती। समवसरण नामक बारहवें अध्ययन में जिन मुख्य चार वादों का उल्लेख है उनमें अज्ञानवाद का भी समावेश है। इस वाद का स्वरूप वृत्तिकार ने इस प्रकार बताया है कि 'अज्ञानमेव श्रेय' अर्थात् अज्ञान ही कल्याणरूप है। अत कुछ भी जानने की आवश्यकता नहीं है। ज्ञान प्राप्त करने से उलटी हानि होती है। ज्ञान न होने पर बहुत कम हानि होती है। उदाहरणार्थ जानकर अपराध किये जाने पर अधिक दण्ड मिलता है जब कि अज्ञानवश अपराध होने की स्थिति में दण्ड बहुत कम मिलता है अथवा बिलकुल नही मिलता। वृत्तिकार शीलाकाचार्यनिर्दिष्ट अज्ञानवाद का यह स्वरूप मूल गाथा में दृष्टिगोचर नही होता। यह गाथा इस प्रकार है

माहणा समणा एगे सव्वे नाण सयं वए।
सव्वलोगे वि जे पाणा न ते जाणति किंचण ॥

—अ. १, उ २, गा. १४

अर्थात् कई एक ब्राह्मण कहते हैं कि वे स्वय ज्ञान को प्रतिपादित करते हैं, इस समस्त ससार में उनके अतिरिक्त कोई कुछ भी नहीं जानता।

इस गाथा का तात्पर्य यह है कि कुछ ब्राह्मणो एव श्रमणों की दृष्टि से उनके अतिरिक्त सारा जगत् अज्ञानी है। यही अज्ञानवाद की भूमिका है। इसमें से 'अज्ञानमेव श्रेय' का सिद्धान्त वृत्तिकार ने कैसे निकाला? भगवान् महावीर के समकालीन छ तीर्थंकरों में से सजयवेलट्ठिपुत्त नामक एक तीर्थंकर अज्ञानवादी था। सभवत उसी के मत को ध्यान में रखते हुए उक्त गाथा की रचना हुई हो। उसके मतानुसार तत्त्वविषयक अज्ञेयता अथवा अनिश्चयता ही अज्ञानवाद की आधारशिला है। यह मत पाश्चात्यदर्शन के अज्ञेयवाद अथवा सशयवाद से मिलता जुलता है।

कर्मचयवाद

द्वितीय उद्देशक के अन्त मे भिक्षुसमय अर्थात् बौद्धमत के कर्मचयवाद की चर्चा है। यहाँ बौद्धदर्शन को सूत्रकार, चूर्णिकार तथा वृत्तिकार ने क्रियावादी अर्थात् कर्मवादी कहा है। सूत्रकार कहते हैं कि इस दर्शन की कर्मविषयक मान्यता दु खस्कन्ध[1] को बढाने वाली है

अधावरं पुरक्खाय किरियावादिदरिसण।
कम्मचिंतापणट्ठाण दुक्खक्खधविवद्धण ॥२४॥

चूर्णिकार ने 'दुक्खक्खध' का अर्थ 'कर्मसमूह' किया है एव वृत्तिकार ने 'असातोदयपरम्परा' अर्थात् 'दु खपरम्परा'। दोनो की व्याख्या मे कोई तात्त्विक भेद नही है क्योकि दु खपरम्परा कर्मसमूहजन्य ही होती है। इस प्रसग पर सूत्रकार ने बौद्धमतपरक एक गाथा इस आशय की भी दी है कि अमुक प्रकार की आपत्ति में फँसा हुआ असयमी पिता यदि लाचारीवश अपने पुत्र को मार कर खा जाय तो भी वह कर्म से लिप्त नहीं होता। इस प्रकार के मांस-सेवन से मेधावी अर्थात् संयमी साधु भी कर्मलिप्त नही होता। गाथा इस प्रकार है

पुत्त पि ता समारभ आहारट्ठमसजते।
भुजमाणो वि मेधावी कम्मुणा णोवलिप्पते[2] ॥ २८ ॥

[1] बौद्धसम्मत चार आर्यसत्यों में से एक

[2] चूर्णिकारसम्मत पाठ

से बौद्धमत व नियतिवाद विशेष उल्लेखनीय हैं। इन दोनो के प्रवर्तक भगवान् महावीर के समकालीन थे। साख्यसम्मत आत्मा के अकर्तृत्व का निरसन करते हुए सूत्रकार कहते हैं :

जे ते उ वाइणो एव लोगे तेसिं कओ सिया ?
तमाओ ते तम जति मदा आरभनिस्सिआ ॥

अर्थात् इन वादियो के मतानुसार ससार की जो व्यवस्था प्रत्यक्ष दिखाई देती है उसकी सगति कैसे होगी ? ये अंधकार से अधकार मे जाते हैं, मद हैं, आरभ-समारभ मे डूबे हुए हैं।

उपर्युक्त गाथा के शब्दो से ऐसा मालूम होता है कि भगवान् महावीर के समय मे अथवा सूत्रयोजक के युग मे साख्यमतानुयायी अहिंसाप्रधान अथवा अपरिग्रहप्रधान नहीं दिखाई देते थे।

अज्ञानवाद

प्रस्तुत सूत्र के प्रथम अध्ययन के द्वितीय उद्देशक की छठी गाथा से जिस वाद की चर्चा प्रारभ होती है व चौदहवी गाथा से जिसका खण्डन शुरू होता है उसे चूर्णिकार तथा वृत्तिकार ने 'अज्ञानवाद' नाम दिया है। नियुक्तिकार ने कहा है कि नियतिवाद के बाद क्रमश अज्ञानवाद, ज्ञानवाद एव बुद्ध के कमचय की चर्चा आती है। निर्युक्तिकारनिर्दिष्ट ज्ञानवाद की चर्चा चूर्णि अथवा वृत्ति मे कहीं भी दिखाई नहीं देती। समवसरण नामक बारहवें अध्ययन में जिन मुख्य चार वादो का उल्लेख है उनमे अज्ञानवाद का भी समावेश है। इस वाद का स्वरूप वृत्तिकार ने इस प्रकार बताया है कि 'अज्ञानमेव श्रेय' अर्थात् अज्ञान ही कल्याणरूप है। अत कुछ भी जानने की आवश्यकता नहीं है। ज्ञान प्राप्त करने से उलटी हानि होती है। ज्ञान न होने पर बहुत कम हानि होती है। उदाहरणार्थ जानकर अपराध किये जाने पर अधिक दण्ड मिलता है जब कि अज्ञानवश अपराध होने की स्थिति मे दण्ड बहुत कम मिलता है अथवा बिलकुल नहीं मिलता। वृत्तिकार शीलाकाचार्यनिर्दिष्ट अज्ञानवाद का यह स्वरूप मूल गाथा में दृष्टिगोचर नही होता। यह गाथा इस प्रकार है

माहणा समणा एगे सव्वे नाण सयं वए।
सव्वलोगे वि जे पाणा न ते जाणति किंचण ॥

—श्र. १, उ २, गा १४.

अर्थात् कई एक ब्राह्मण कहते हैं कि वे स्वय ज्ञान को प्रतिपादित करते हैं, इस समस्त ससार मे उनके अतिरिक्त कोई कुछ भी नहीं जानता।

इस गाथा का तात्पर्य यह है कि कुछ ब्राह्मणो एव श्रमणों की दृष्टि से उनके अतिरिक्त सारा जगत् अज्ञानी है। यही अज्ञानवाद की भूमिका है। इसमें से 'अज्ञानमेव श्रेय' का सिद्धान्त वृत्तिकार ने कैसे निकाला ? भगवान् महावीर के समकालीन छ तीर्थंकरों में से सजयबेलट्ठिपुत्त नामक एक तीर्थंकर अज्ञानवादी था। सभवत उसी के मत को ध्यान में रखते हुए उक्त गाथा की रचना हुई हो। उसके मतानुसार तत्त्वविषयक अज्ञेयता अथवा अनिश्चयता ही अज्ञानवाद की आधारशिला है। यह मत पाश्चात्यदर्शन के अज्ञेयवाद अथवा सशयवाद से मिलता जुलता है।

कर्मचयवाद

द्वितीय उद्देशक के अन्त मे भिक्षुसमय अर्थात् बौद्धमत के कर्मचयवाद की चर्चा है। यहाँ बौद्धदर्शन को सूत्रकार, चूर्णिकार तथा वृत्तिकार ने क्रियावादी अर्थात् कर्मवादी कहा है। सूत्रकार कहते हैं कि इस दर्शन की कर्मविषयक मान्यता दु खस्कन्ध[1] को बढाने वाली है

अधावरं पुरक्खाय किरियावादिदरिसण।
कम्मचिंतापणट्ठाण दुक्खक्खधविवद्धण ॥२४॥

चूर्णिकार ने 'दुक्खक्खध' का अर्थ 'कर्मसमूह' किया है एव वृत्तिकार ने 'असातोदयपरम्परा' अर्थात् 'दु खपरम्परा'। दोनो की व्याख्या में कोई तात्त्विक भेद नही है क्योकि दु खपरम्परा कर्मसमूहजन्य ही होती है। इस प्रसग पर सूत्रकार ने बौद्धमतपरक एक गाथा इस आशय की भी दी है कि अमुक प्रकार की आपत्ति में फँसा हुआ असयमी पिता यदि लाचारीवश अपने पुत्र को मार कर खा जाय तो भी वह कर्म से लिप्त नहीं होता। इस प्रकार के मांस सेवन से मेघावी अर्थात् संयमी साधु भी कर्मलिप्त नही होता। गाथा इस प्रकार है

पुत्त पि ता समारभ आहारट्ठमसजते।
भुजमाणो वि मेधावी कम्मुणा णोवलिप्पते[2] ॥ २८ ॥

---

[1] बौद्धसम्मत चार आर्यसत्यों में से एक

[2] चूर्णिकारसम्मत पाठ

से बौद्धमत व नियतिवाद विशेष उल्लेखनीय हैं। इन दोनो के प्रवर्तक भगवान् महावीर के समकालीन थे। साख्यसम्मत आत्मा के अकर्तृत्व का निरसन करते हुए सूत्रकार कहते हैं :

जे ते उ वाइणो एव लोगे तेसिं कओ सिया ?
तमाओ ते तम जति मदा आरभनिस्सिआ ॥

अर्थात् इन वादियो के मतानुसार ससार की जो व्यवस्था प्रत्यक्ष दिखाई देती है उसकी सगति कैसे होगी ? ये अंधकार से अधकार में जाते हैं, मद हैं, आरभ-समारभ मे डूबे हुए हैं।

उपर्युक्त गाथा के शब्दो से ऐसा मालूम होता है कि भगवान् महावीर के समय में अथवा सूत्रयोजक के युग में साख्यमतानुयायी अहिंसाप्रधान अथवा अपरिग्रहप्रधान नहीं दिखाई देते थे।

अज्ञानवाद

प्रस्तुत सूत्र के प्रथम अध्ययन के द्वितीय उद्देशक की छठी गाथा से जिस वाद की चर्चा प्रारभ होती है व चौदहवीं गाथा से जिसका खण्डन शुरू होता है उसे चूर्णिकार तथा वृत्तिकार ने 'अज्ञानवाद' नाम दिया है। निर्युक्तिकार ने कहा है कि नियतिवाद के बाद क्रमश अज्ञानवाद, ज्ञानवाद एव बुद्ध के कर्मचय की चर्चा आती है। निर्युक्तिकारनिर्दिष्ट ज्ञानवाद की चर्चा चूर्णि अथवा वृत्ति में कहीं भी दिखाई नहीं देती। समवसरण नामक बारहवें अध्ययन मे जिन मुख्य चार वादो का उल्लेख है उनमे अज्ञानवाद का भी समावेश है। इस वाद का स्वरूप वृत्तिकार ने इस प्रकार बताया है कि 'अज्ञानमेव श्रेय' अर्थात् अज्ञान ही कल्याणरूप है। अत कुछ भी जानने की आवश्यकता नहीं है। ज्ञान प्राप्त करने से उलटी हानि होती है। ज्ञान न होने पर बहुत कम हानि होती है। उदाहरणार्थ जानकर अपराध किये जाने पर अधिक दण्ड मिलता है जब कि अज्ञानवश अपराध होने की स्थिति में दण्ड बहुत कम मिलता है अथवा बिलकुल नहीं मिलता। वृत्तिकार शीलाकाचार्यनिर्दिष्ट अज्ञानवाद का यह स्वरूप मूल गाथा में दृष्टिगोचर नहीं होता। यह गाथा इस प्रकार है

माहणा समणा एगे सव्वे नाण सयं वए।
सव्वलोगे वि जे पाणा न ते जाणति किंचण ॥

—अ १, उ २, गा १४

अर्थात् कई एक ब्राह्मण कहते हैं कि वे स्वय ज्ञान को प्रतिपादित करते हैं, इस समस्त ससार में उनके अतिरिक्त कोई कुछ भी नहीं जानता।

इस गाथा का तात्पर्य यह है कि कुछ ब्राह्मणो एव श्रमणों की दृष्टि से उनके अतिरिक्त सारा जगत् अज्ञानी है। यही अज्ञानवाद की भूमिका है। इसमें से 'अज्ञानमेव श्रेय' का सिद्धान्त वृत्तिकार ने कैसे निकाला? भगवान् महावीर के समकालीन छ तीर्थंकरों में से संजयवेलट्ठिपुत्त नामक एक तीर्थंकर अज्ञानवादी था। सभवत उसी के मत को ध्यान में रखते हुए उक्त गाथा की रचना हुई हो। उसके मतानुसार तत्त्वविषयक अज्ञेयता अथवा अनिश्चयता ही अज्ञानवाद की आधारशिला है। यह मत पाश्चात्यदर्शन के अज्ञेयवाद अथवा सशयवाद से मिलता जुलता है।

कर्मचयवाद

द्वितीय उद्देशक के अन्त मे भिक्षुसमय अर्थात् बोद्धमत के कर्मचयवाद की चर्चा है। यहां बौद्धदर्शन को सूत्रकार, चूर्णिकार तथा वृत्तिकार ने क्रियावादी अर्थात् कर्मवादी कहा है। सूत्रकार कहते हैं कि इस दर्शन की कर्मविषयक मान्यता दु खस्कन्ध[1] को बढाने वाली है

अधावरं पुरक्खाय किरियावादिदरिसण।
कम्मचिंतापणट्ठाण दुक्खक्खधविवद्धण ॥२४॥

चूर्णिकार ने 'दुक्खक्खध' का अर्थ 'कर्मसमूह' किया है एव वृत्तिकार ने 'असातोदयपरम्परा' अर्थात् 'दु खपरम्परा'। दोनो की व्याख्या मे कोई तात्त्विक भेद नही है क्योकि दु खपरम्परा कर्मसमूहजन्य ही होती है। इस प्रसग पर सूत्रकार ने बौद्धमतपरक एक गाथा इस आशय की भी दी है कि अमुक प्रकार की आपत्ति में फँसा हुआ असयमी पिता यदि लाचारीवश अपने पुत्र को मार कर खा जाय तो भी वह कर्म से लिप्त नहीं होता। इस प्रकार के मांस सेवन से मेधावी अर्थात् संयमी साधु भी कर्मलिप्त नहीं होता। गाथा इस प्रकार है

पुत्त पि ता समारभ आहारट्ठमसजते।
भुजमाणो वि मेधावी कम्मुणा णोवलिप्पते[2] ॥ २८ ॥

---

[1] बौद्धसम्मत चार आर्यसत्यों में से एक

[2] चूर्णिकारसम्मत पाठ

अथवा

पुत्त पिया समारब्भ आहारेज्ज असजए।
भुजमाणो य मेहावी कम्मुणा नोवलिप्पइ[1] ॥ २८ ॥

उपरोक्त ८ वी गाथा मे विशेष प्रकार के अर्थ का सूचक पाठभेद बहुत समय से चला आ रहा है, उस पाठ भेद के अनुसार गाथा के अर्थ मे बडी भिन्नता होती है। देखिए चूर्णिकार का पाठ 'पि ता' ऐसा है, उसमें दो पद हैं तथा 'पिता' का अर्थ इस पाठ मे नही है। इस पाठ के अनुसार 'पुत्र का भी वध करके' ऐसा अर्थ होता है। जब कि वृत्तिकार का पाठ 'पिया' अथवा पिता ऐसा है, इस पाठ में एक ही पद है 'पिया' अथवा 'पिता'। इस पाठ के अनुसार 'पिता पुत्र का वध करके' ऐसा अर्थ होता है और वृत्तिकार ने भी इसी अर्थ का निरूपण किया है, दो पद वाला पाठ जितना प्राचीन है उतना एक पद वाला 'पिता' पाठ प्राचीन नही। 'पि ता' ऐसा पृथक्-पृथक् न पढ कर 'पिता' ऐसा पढने से सभव है कि ऐसा पाठ भेद हुआ हो। चूर्णिकार और वृत्तिकार दोनों ही पुत्र के वध करने इस आशय में एक मत हैं। चूर्णिकार 'पिता' का अर्थ स्वीकार नहीं करते और वृत्तिकार 'पिता' का अर्थ स्पष्ट रूप से स्वीकार करते हैं। पदच्छेद न करने की दृष्टि से ऐसा पाठभेद हो गया है परन्तु विशेष विचार करने से मालूम होता है कि बौद्धत्रिपिटक के अन्तर्गत आए हुए सयुत्तनिकाय में एक ऐसी रूपक कथा आती हैं जिसमें पिता पुत्र का वध करके उसका भोजन में उपयोग करता है। सभव है कि वृत्तिकार की स्मृति मे सयुत्तनिकाय की वह कथा रही हो और उसी कथा का आशय स्मृतिपथ मे रखकर उन्होने 'पिता पुत्र का वध करके' इस प्रकार के अर्थ का निरूपण किया हो।

भगवान् बुद्ध ने अपने सघ के भिक्षुओ को किस दृष्टि से और किस उद्देश से भोजन करना चाहिए इस बात को समझाने के लिए यह कथा कही है। कथा का सार यह है —

एक आदमी अपने इकलौते पुत्र के साथ प्रवास कर रहा है, साथ में पुत्र की माता भी है। प्रवास करते-करते वे तीनो ऐसे दुर्गम गहन जगल में आ पहुँचते हैं जहा शरीर के निर्वाह योग्य कुछ भी प्राप्य न था। विना भोजन शरीर का निर्वाह नही हो सकता और विना जीवन निर्वाह के यह शरीर काम भी नहीं दे सकता।

---

1 वृत्तिकारसम्मत पाठ

अन्त में ऐसी स्थिति आ गई कि उनसे चला ही नहीं जाता था और इस जगल में तीनो ही खतम हो जायेंगे। तब पुत्र ने पिता से प्रार्थना की कि पिता जी, मुझे मार कर भोजन करें और शरीर को गतिशील बना लें। आप हैं तो सारा परिवार है, आप नहीं रहेगे तो हमारा परिवार कैसे जीवित रह सकता है? अत बिना सकोच आप अपने पुत्र के मास का भोजन करके इस भयानक अरण्य को पार कर जायें और सारे परिवार को जीवित रखें। तब पिता ने पुत्र के मास का भोजन में उपयोग किया और उस अरण्य से बाहर निकल आए।

इस कथा को कह कर तथागत ने भिक्षुओ से पूछा कि हे भिक्षुओ! क्या पुत्र के मास का भोजन मे उपयोग करने वाले पिता ने अपने स्वाद के लिए ऐसा किया है? क्या अपने शरीर की शक्ति बढे, बाल का सचय हो, शरीर का रूप-लावण्य और सौंदर्य बढे, इस हेतु से उसने अपने पुत्र के मास का भोजन में उपयोग किया है?

तथागत के इस प्रश्न का उत्तर देते हुए भिक्षुओ ने कहा कि—भदत! नहीं, नहीं। उसने एकमात्र अटवी पार करने के उद्देश्य से शरीर में चलने का सामर्थ्य आ सके इसी कारण से अपने पुत्र के मास का भोजन मे उपयोग किया है। तब श्रीतथागत ने कहा—हे भिक्षुओ! तुमने घरबार छोडा है और ससाररूपी अटवी को पार करने के हेतु से ही भिक्षु-व्रत लिया है, तुम्हें ससाररूप भीषण जगल पार कर निर्वाण लाभ करना है तो इसी एक निमित्त को लक्ष्य मे रखकर भोजन-पान लेते रहो वह भी परिमित और धर्मप्राप्त तथा कालप्राप्त। मिले तो ठीक है, न मिले तो भी ठीक समझो। स्वाद के लालच से, शरीर मे बल बढे, शक्ति का सचय हो तथा अपना रूप लावण्य तथा सौंदर्य बढता रहे इस दृष्टि से खान-पान लोगे तो तुम भिक्षुक धर्म से च्युत हो जाओगे और मोघभिक्षु—पिंडोलक भिक्षु हो जाओगे

तथागत बुद्ध ने इस रूपक कथा द्वारा भिक्षुओं को यह समझाया है कि भिक्षुगण किस उद्देश से खान-पान लेवें। मालूम होता है कि समय बीतने पर इस कथा का आशय विस्मृत हो गया—स्मृति से बाहर चला गया और केवल शब्द का अर्थ ही ध्यान में रहा और इस अर्थ का ही मासभोजन के समर्थन में लोग क्या भिक्षुगण भी उपयोग करने लग गए हो। इसी परिस्थिति को देख कर चूर्णिकार ने अपने तरीके से और वृत्तिकार ने अपने तरीके से इस गाथा का विवरण

किया है ऐसा मालूम पडता है। विसुद्धिमग्ग और महायान के शिक्षासमुच्चय मे भी इसी बात का प्ररूपण किया गया है।

सूत्रकृत की उक्त गाथा की व्याख्या में चूर्णिकार व वृत्तिकार में मतभेद है। चूर्णिकार के अनुसार किसी उपासक अथवा अन्य व्यक्ति द्वारा अपने पुत्र को, मारकर उसके मास द्वारा तैयार किया गया भोजन भी यदि कोई मेधावी भिक्षु खाने के काम में ले तो वह कर्मलिप्त नहीं होता। हाँ, मारने वाला अवश्य पाप का भागी होता है। वृत्तिकार के अनुसार आपत्तिकाल में निरुपाय हो अनासक्त भाव से अपने पुत्र को मारकर उसका भोजन करनेवाला गृहस्थ एव ऐसा भोजन करने वाला भिक्षु इन दोनो में से कोई भी पापकर्म से लिप्त नहीं होता। तात्पर्य यह कि कर्मबन्ध का कारण ममत्वभाव—आसक्ति—रागद्वेष—कषाय है, न कि कोई क्रियाविशेष।

ज्ञाताधर्मकथा नामक छठे अंगसूत्र मे सुसुमा नामक एक अध्ययन है जिसमे पूर्वोक्त सयुत्तनिकायादिप्रतिपादित रूपक के अनुसार यह प्रतिपादित किया गया है कि आपत्तिकाल मे आपवादिक रूप से मनुष्य अपनी खुद की सतान का भी मास भक्षण कर सकता है। यहाँ मृत सतान के मासभक्षण का उल्लेख है न कि मारकर उसका मास खाने का। इस चर्चा का सार केवल यही है कि अनासक्त होकर भोजन करने वाला अथवा अन्य प्रकार की क्रिया मे प्रवृत्त होने वाला कर्मलिप्त नहीं होता।

बुद्ध का शूकर-मासभक्षण

बौद्ध परम्परा मे एक कथा ऐसी प्रचलित है कि खुद बुद्ध ने शूकरमद्दव अर्थात् सूअर का मास खाया था।[१] सूअर का मास खाते हुए भी बुद्ध पापकर्म से लिप्त नहीं हुए। ऐसा मालूम होता है कि उपर्युक्त गाथा में सूत्रकार ने बौद्धसम्मत कर्मचय का स्वरूप समझाते हुए इसी घटना का निर्देश किया है। यह कैसे? गाथा के आरम्भ में जो 'पुत्त' पाठ है वह किसी कारण से विकृत हुआ मालूम पडता है। मेरी दृष्टि से यहा 'पोत्ति' पाठ होना चाहिए। अमरकोश तथा अभिधानचिन्तामणि में पोत्री (प्राकृत पोत्ति) शब्द शूकर के पर्याय के रूप में सुप्रसिद्ध है। अथवा सस्कृत पोत (प्राकृत पुत्त)

१ देखिये—बुद्धचर्या, पृ ५३५

शब्द शूकर के मुख का सूचक माना गया है। यदि ऐसा समझा जाय कि इसी अर्थ वाला पुत्त शब्द इस गाथा में प्रयुक्त हुआ है तो भी शूकर का अर्थ सगत हो जाता है। अत इस 'पुत्तं' पाठको विकृत करने की जरूरत नहीं रहती। संशोधक महानुभाव इस विषय मे जरूर विचार करें इसी प्रकार उक्त गाथा में प्रयुक्त 'मेहावी' अथवा मेघावो' शब्द भगवान् बुद्ध का सूचक है। इस दृष्टि से यह मानना उपयुक्त प्रतीत होता है कि उक्त गाथा में कर्मबन्ध की चर्चा करते हुए बुद्ध के शूकर-मासभक्षण का उल्लेख किया गया है। मेरी यह प्ररूपणा कहाँ तक सत्य है, इसका निर्णय गवेषणाशील विद्वज्जन ही करेंगे। उपर्युक्त गाथा के पहले की तीन गाथाओ में भी बौद्ध समत कर्मबन्धन का ही स्वरूप वताया गया है।

हिंसा का हेतु

सूत्रकृताग के द्वितीय श्रुतस्कन्ध में आने वाले आर्द्रकीय नामक छठे अध्ययन में आर्द्रकुमार नामक प्रत्येक बुद्ध के साथ होने वाले बौद्ध सम्प्रदाय के वादियो के वाद-विवाद का उल्लेख है। उसमे भी कर्मबन्धन के स्वरूप की ही चर्चा है। बौद्धमत के समर्थक कहते हैं कि मानसिक सकल्प ही हिंसा का कारण है। तिल अथवा सरसो की खली का एक पिण्ड पड़ा हो और कोई उसे पुरुष समझ कर उसका नाश करे तो हमारे मत मे वह हिंसा के दोष से लिप्त होता है। इसी प्रकार अलाबु को कुमार समझ कर उसका नाश करने वाला भी हिंसा का भागी होता है। इससे विपरीत पुरुष को खली समझ कर एव कुमार को अलाबु समझ कर उसका नाश करने वाला, प्राणिवध का भागी नहीं होता। इतना ही नही, इस प्रकार की बुद्धि से पकाया हुआ पुरुष का अथवा कुमार का मास बुद्धों के भोजन के लिए विहित है। इस प्रकार पकाये हुए मास द्वारा जो उपासक अपने सम्प्रदाय के दो हजार भिक्षुओ को भोजन कराते हैं वे महान् पुण्यस्कन्ध का उपार्जन करते हैं और उसके द्वारा आरोप्प (आरोप्य) नामक देवयोनि मे जन्म लेते हैं। बौद्धवादियों की इस मान्यता का प्रतीकार करते हुए आर्द्रकुमार कहते हैं कि खली को पुरुष समझना अथवा अलाबु को कुमार समझना या पुरुष को खली समझना अथवा कुमार को अलाबु समझना कैसे सभव है? जो ऐसा कहते हैं और उस कथन को स्वीकार करते हैं वे अज्ञानी हैं। जो ऐसा समझ कर भिक्षुओं को भोजन करवाते हैं वे असयत हैं, अनार्य हैं, रक्तपाणि हैं। वे औद्देशिक मास का भक्षण करने वाले हैं, जिह्वा के स्वाद मे आसक्त हैं। समस्त प्राणियों की रक्षा के लिए ज्ञातपुत्र

महावीर तथा उनके अनुयायी भिक्षु औद्देशिक भोजन का सर्वथा त्याग करते हैं। यह निर्ग्रन्थधर्म है।

प्रथम अध्ययन के तृतीय उद्देशक की पहली ही गाथा मे औद्देशिक भोजन का निषेध किया गया है। किसी भिक्षुविशेष अथवा भिक्षुसमूह के लिए बनाया जाने वाला भोजन, वस्त्र, पात्र, स्थान आदि आर्हत मुनि के लिए अग्राह्य है। बौद्ध भिक्षुओ के विषय मे ऐसा नहीं है। खुद भगवान् बुद्ध निमन्त्रण स्वीकार करते थे। वे एवं उनका भिक्षुसघ उन्ही के लिए तैयार किया गया निरामिष अथवा सामिष आहार ग्रहण करते थे तथा विहारो व उद्यानो का दान भी स्वीकार करते थे।

जगत्-कर्तृत्व

प्रस्तुत उद्देशक की पाचवी गाथा से जगत्कर्तृत्व की चर्चा शुरू होती है। इसमे जगत् को देवउत्त (देवउप्त) अर्थात् देव का बोया हुआ, बभउत्त (ब्रह्मउप्त) अर्थात् ब्रह्मा का बोया हुआ, इस्सरेण कत (ईश्वरेण कृत) अर्थात् ईश्वर का बनाया हुआ, सयभुणा कत (स्वयभुना कृत) अर्थात् स्वयभू का बनाया हुआ कहा गया है। साथ ही यह भी बताया गया है कि यह कथन महर्षियो का है इति वुत्त महेसिणा। चूर्णिकार 'महर्षि' का अर्थ स्पष्ट करते हुए कहते हैं 'महऋषी नाम न एव ब्रह्मा अथवा व्यासादयो महर्षय' अर्थात् महर्षि का अर्थ है ब्रह्मा अथवा व्यास आदि ऋषि। यहा छठी गाथा में जगत् को प्रधानकारणिक भी बताया गया है। प्रधान का अर्थ है साख्यसम्मत प्रकृति। सातवी गाथा मे बताया गया है कि माररचित माया के कारण यह जगत् अशाश्वत है अर्थात् ससार का प्रलयकर्ता मार है। चूर्णिकार ने 'मार' का अर्थ 'विष्णु' बताया है जबकि वृत्तिकार ने मार' शब्द का 'यम' अर्थ किया है। आठवी गाथा में जगत् को अडकृत अर्थात् अडे मे से पैदा होने वाला बताया गया है अडकडे जगे। इन सब वादो का खण्डन करने के लिए सूत्रकार ने कोई विशेष तर्क प्रस्तुत न करते हुए केवल इतना ही कहा है कि ऐसा मानने वाले अज्ञानी हैं, असत्यभाषी है, तत्त्व से अनभिज्ञ हैं। इन गाथाओ का विवेचन करते हुए चूर्णिकार ने सातवी गाथा के बाद नागार्जुनीय पाठान्तर के रूप में एक नई गाथा का उल्लेख किया है जो इस प्रकार है

अतिवड्ढीयजीवा ण मही विण्णवते पभु।
ततो से मायासजुत्ते करे लोगस्सऽभिद्दवा॥

अर्थात् पृथ्वी अपने ऊपरे जीवो का भार अत्यधिक बढ़ जाने के कारण प्रभु से विनती करती है। इससे प्रभु ने माया की रचना की और उसके द्वारा लोक का विनाश किया।

यह मान्यता वैदिक परम्परा में अति प्राचीन काल से प्रचलित है। पुराणों मे तो इसका सुन्दर आलकारिक वर्णन भी मिलता है। ग्यारहवीं व बारहवीं गाथा में गीता के अवतारवाद का निर्देश है। इन गाथाओ का आशय यह है कि आत्मा शुद्ध है फिर भी क्रीडा एव द्वेष के कारण पुन अपराधी अर्थात् रजोगुणयुक्त बनती है एव शरीर धारण करती है। ईश्वर अपने धर्म की प्रतिष्ठा एव दूसरे के धर्म की अप्रतिष्ठा देख कर लीला करता है तथा अपने धर्म की अप्रतिष्ठा एव दूसरे के धर्म की प्रतिष्ठा देख कर उसके मन मे द्वेष उत्पन्न होता है और वह अपने धर्म की पुनः प्रतिष्ठा करने के लिए रजोगुणयुक्त होकर अवतार धारण करता है। अपना कार्य पूरा करने के बाद पुन शुद्ध एव निष्पाप होकर अपने वास्तविक रूप मे अवस्थित होता है। धर्म का विनाश एव अधर्म की प्रतिष्ठा देख कर ईश्वर के अवतार लेने की यह मान्यता ब्राह्मणपरम्परा मे सुप्रतीत है।

सयमधर्म

प्रथम अध्ययन के अन्तिम उद्देशक मे निर्ग्रन्थ को सयमधर्म के आचरण का उपदेश दिया गया है और विभिन्न वादो मे न फंसने को कहा गया है। तीसरी गाथा मे यह बताया गया है कि कुछ लोगो की मान्यता के अनुसार परिग्रह एवं आरभ—आलभन—हिसा आत्मशुद्धि व निर्वाण के लिए हैं। निर्ग्रंथो को यह मत स्वीकार नहीं करना चाहिए। उन्हे समझना चाहिए कि अपरिग्रह तथा अपरिग्रही एव अनारभ तथा अनारभी ही शरणरूप हैं।

पाचवीं गाथा से लोकवाद की चर्चा प्रारभ होती हैं। इसमें लोकविषयक नित्यता व अनित्यता, सान्तता व अनन्तता, परिमितता व अपरिमितता आदि का विचार है। वृत्तिकार ने पौराणिकवाद को लोकवाद कहा है और बताया है कि ब्रह्मा अमुक समय तक सोता है व कुछ देखता नहीं, अमुक समय तक जागता है व देखता है—यह सब लोकवाद है।

वेयालिय

द्वितीय अध्ययन का नाम वेयालिय है। निर्युक्तिकार, चूर्णिकार तथा वृत्तिकार इसका अर्थ वैदारिक तथा वैतालीय के रूप मे करते हैं। विदार का अर्थ है विनाश। यहा रागद्वेषरूप सस्कारो का विनाश विवक्षित है। जिस

अध्ययन मे रागद्वेष के विदार का वर्णन हो उसका नाम है वेदारिक। वैतालीय नामक एक छद है। जो अध्ययन वैतालीय छद में है उसका नाम है वैतालीय। प्रस्तुत अध्ययन के नाम के इन दो अर्थों में से वैतालीय छद वाला अर्थ विशेष उपयुक्त प्रतीत होता है। वैदारिक अर्थपरक नाम अतिव्याप्त है क्योंकि यह अर्थ तो अन्य अध्ययनो अथवा ग्रथो से भी सम्बद्ध है अत केवल इसी अध्ययन को वैदारिक नाम देना उपयुक्त नही।

प्रस्तुत अध्ययन मे तीन उद्देशक हैं जिनमे वैराग्यपोषक वर्णन के साथ श्रमणधर्म का प्रतिपादन है। प्रथम उद्देशक को पाचवीं गाथा मे बताया गया है कि देव, गाधर्व, राक्षस, नाग, राजा, सेठ, ब्राह्मण आदि सब दु खपूर्वक मृत्यु को प्राप्त होते हैं। मृत्यु के लिए सब जीव समान हैं। उसके सामने किसी का रोब काम नहीं करता। नवी गाथा मे सूत्रकार कहते हैं कि साधक भले ही नग्न रहता हो व निरन्तर मास-मास के उपवास करता हो किन्तु यदि वह दम्भी है तो उसका यह सब आचरण खोखला है।

आचाराग सूत्र के प्रथम श्रुतस्कन्ध के प्रथम अध्ययन के तृतीय उद्देशक में 'पणया वीरा महावीहि' ऐसा एक खण्डित वाक्य है। सूत्रकृताग के प्रस्तुत अध्ययन के प्रथम उद्देशक की इक्कीसवी गाथा मे इस वाक्यवाला पूरा पद्य है —

तम्हा दवि इक्ख पडिए पावाओ विरतेऽभिणिव्वुडे।
पणया वीरा महावीहि सिद्धिपह णेआउ धुव॥

इस उद्देशक की वृत्तिसम्मत गाथाओ और चूर्णिसम्मत गाथाओ में अत्यधिक पाठभेद है। पाठभेद के कुछ नमूने ये हैं —

वृत्तिगत पाठ	चूर्णिगत पाठ
सयमेव कडेहि गाहइ	सयमेव कडेऽभिगाहए
णो तस्स मुच्चेज्जऽपुट्ठयं॥ ४॥	णो तेण मुच्चे अपुट्ठव॥ ४॥
कामेहि य सथवेहि गिद्धा	कामेहि य सथवेहि य
कम्मसहा कालेग जतवो॥ ६॥	कम्मसहे कालेण जतवो॥ ६॥
जे इह मायाइ मिज्जई	जइविह मायादि मिज्जती
आगता गब्भायऽणतसो॥ १०॥	आगता गब्भादणतसो॥ ८॥

इन पाठभेदों के अतिरिक्त चूर्णिकार ने कई जगह अन्य पाठान्तर भी दिये हैं एवं नागार्जुनीय वाचना के पाठभेदो का भी उल्लेख किया है।

प्रथम उद्देषक की अतिम गाथा के 'वेतालियमग्गमागतो' इस प्रथम चरण में अध्ययन के वेतालिय—वेतालीय नाम का भी निर्देश है। यहां 'वेतालिय' शब्द

वैतालीय छन्द का निर्देशक है। इसका दूसरा अर्थ वेदारिक अर्थात् रागद्वेष का विदारण करने वाले भगवान् महावीर के रूप में भी किया गया है। ये दोनों अर्थ चूर्णि मे हैं।

प्रथम उद्देशक मे २२, द्वितीय उद्देशक मे ३२ और तृतीय उद्देशक मे २२ गाथाएं हैं। इस प्रकार वैतालीय अध्ययन में कुल मिलाकर ७६ गाथाएं हैं। इनमे हिंसा न करने के सम्बन्ध मे प्रकाश डाला गया है एवं महाव्रतो व अणुव्रतो का निरूपण करते हुए उनके अनुसरण पर भार दिया गया है। साधक श्रमण हो या गृहस्थ, उसे साधना मे आने वाले प्रत्येक विघ्न का सामना करना चाहिए एवं वीतरागता को भूमिका पर पहुंचना चाहिए। इन सब उपदेशात्मक गाथाओ मे उपमाएँ दे देकर भाव को पूरी तरह स्पष्ट किया गया है। द्वितीय उद्देशक की अठारहवीं गाथा का आद्य चरण है 'उ सणोदगतत्तभोइणो' अर्थात् गरम पानी को बिना ठंडा किये ही पीने वाला। यह मुनि का विशेषण है। इस प्रकार के मुनि को राजा आदि के संसर्ग से दूर रहना चाहिए। दशवैकालिक सूत्र के तृतीय अध्ययन को छठी गाथा के उत्तरार्ध का प्रथम चरण तत्ताऽनिव्वुडभोइत्त' भी गरम गरम पानी पीने की परम्परा का समर्थक है। तृतीय उद्देशक की तीसरी गाथा में महाव्रतों की महिमा बताते हुए कहा गया है कि जैसे वणिको द्वारा लाये हुए उत्तम रत्नो को राजा-महाराजा धारण करते हैं उसी प्रकार ज्ञानियो द्वारा उपदिष्ट रात्रिभोजनविरमणयुक्त रत्नसदृश महाव्रतो को उत्तम पुरुष ही धारण कर सकते हैं। इस गाथा की व्याख्या मे चूर्णिकार ने दो मतो का उल्लेख किया है पूर्वदिशा में रहने वाले आचार्यों के मत का व पश्चिम दिशा मे रहने वाले आचार्यों के मत का। संभव है, चूर्णिकार का तात्पर्य पूर्वदिशा अर्थात् मथुरा अथवा पाटलिपुत्र के सम्बन्ध से स्कन्दिलाचार्य आदि से एवं पश्चिमदिशा अर्थात् वलभी के सम्बन्ध से नागार्जुन अथवा देवर्धिगणि आदि से हो। रात्रिभोजनविरमण का पृथक् उल्लेख एतद्विषयक शैथिल्य को दूर करने अथवा इसे व्रत के समकक्ष बनाने की दृष्टि से किया गया प्रतीत होता है। इसी सूत्र के वीरस्तुति नामक छठे अध्ययन में भी रात्रिभोजन का पृथक् निषेध किया गया है। प्रस्तुत उद्देशक की अन्तिम गाथा मे भगवान् महावीर के लिए 'नायपुत्त' का प्रयोग हुआ है। साथ ही इन विशेषणो को भी उपयोग में लिया गया है अणुत्तरणाणी, अणुत्तरदंसी, अणुत्तरनाणदंसणधरे, अरहा, भगव और वेसालिए अर्थात् श्रेष्ठतमज्ञानी, श्रेष्ठतमदर्शी, श्रेष्ठतमज्ञानदर्शनधर, अर्हत्, भगवान् और वैशालिक—विशाला नगरी मे उत्पन्न।

अध्ययन मे रागद्वेष के विदार का वर्णन हो उसका नाम है वैदारिक। वैतालीय नामक एक छद है। जो अध्ययन वैतालीय छद मे है उसका नाम है वेतालीय। प्रस्तुत अध्ययन के नाम के इन दो अर्थों मे से वैतालीय छद वाला अर्थ विशेष उपयुक्त प्रतीत होता है। वैदारिक अर्थपरक नाम अतिव्याप्त है क्योंकि यह अर्थ तो अन्य अध्ययनो अथवा ग्रथो से भी सम्बद्ध है अत केवल इसी अध्ययन को वैदारिक नाम देना उपयुक्त नहीं।

प्रस्तुत अध्ययन मे तीन उद्देशक हैं जिनमे वैराग्यपोषक वर्णन के साथ श्रमणधर्म का प्रतिपादन है। प्रथम उद्देशक को पाचवीं गाथा मे बताया गया है कि देव, गाधर्व, राक्षस, नाग, राजा, सेठ, ब्राह्मण आदि सब दु खपूर्वक मृत्यु को प्राप्त होते हैं। मृत्यु के लिए सब जीव समान हैं। उसके सामने किसी का रोब काम नही करता। नवी गाथा मे सूत्रकार कहते हैं कि साधक भले ही नग्न रहता हो व निरन्तर मास-मास के उपवास करता हो किन्तु यदि वह दम्भी है तो उसका यह सब आचरण खोखला है।

आचाराग सूत्र के प्रथम श्रुतस्कन्ध के प्रथम अध्ययन के तृतीय उद्देशक में 'पणया वीरा महावीहिं' ऐसा एक खण्डित वाक्य है। सूत्रकृताग के प्रस्तुत अध्ययन के प्रथम उद्देशक को इक्कीसवी गाथा मे इस वाक्यवाला पूरा पद्य है —

तम्हा दुवि इक्ख पडिए पावाओ विरतेऽभिणिव्वुडे।
पणया वीरा महावीहिं सिद्धिपह णेआउ धुव॥

इस उद्देशक की वृत्तिसम्मत गाथाओ और चूर्णिसम्मत गाथाओ मे अत्यधिक पाठभेद है। पाठभेद के कुछ नमूने ये हैं —

वृत्तिगत पाठ	चूर्णिगत पाठ
सयमेव कडेहि गाहइ	सयमेव कडेऽभिगाहए
णो तस्स मुच्चेज्जऽपुट्ठयं ॥ ४ ॥	णो तेण मुच्चे अपुट्ठव ॥ ४ ॥
कामेहि य सथवेहि गिद्धा	कामेहि य सथवेहि य
कम्मसहा कालेग जतवो ॥ ६ ॥	कम्मसहे कालेण जतवो ॥ ६ ॥
जे इह मायाइ मिज्जई	जइविह मायादि मिज्जती
आगता गब्भायऽणतसो ॥ १० ॥	आगता गब्भादणतसो ॥ ९ ॥

इन पाठभेदों के अतिरिक्त चूर्णिकार ने कई जगह अन्य पाठान्तर भी दिये हैं एव नागार्जुनीय वाचना के पाठभेदो का भी उल्लेख किया है।

प्रथम उद्देशक की अन्तिम गाथा के 'वेतालियमग्गमागतो' इस प्रथम चरण में अध्ययन के वेतालिय—वैतालीय नाम का भी निर्देश है। यहाँ 'वेतालिय' शब्द

वैतालीय छन्द का निर्देशक है। इसका दूसरा अर्थ वैदारिक अर्थात् रागद्वेष का विदारण करने वाले भगवान् महावीर के रूप में भी किया गया है। ये दोनो अर्थ चूर्णि मे हैं।

प्रथम उद्देशक मे २२, द्वितीय उद्देशक में ३२ और तृतीय उद्देशक मे २२ गाथाए हैं। इस प्रकार वैतालीय अध्ययन में कुल मिलाकर ७६ गाथाएं हैं। इनमे हिंसा न करने के सम्बन्ध मे प्रकाश डाला गया है एव महाव्रतो व अणुव्रतो का निरूपए करते हुए उनके अनुसरण पर भार दिया गया है। साधक श्रमए हो या गृहस्थ, उसे साधना मे आने वाले प्रत्येक विघ्न का सामना करना चाहिए एव वीतरागता की भूमिका पर पहुँचना चाहिए। इन सब उपदेशात्मक गाथाओ में उपमाएँ दे देकर भाव को पूरी तरह स्पष्ट किया गया है। द्वितीय उद्देशक की अठारहवीं गाथा का आद्य चरण है 'उसिणोदगतत्तभोइणो' अर्थात् गरम पानी को बिना ठडा किये ही पीने वाला। यह मुनि का विशेषण है। इस प्रकार के मुनि को राजा आदि के संसर्ग से दूर रहना चाहिए। दशवैकालिक सूत्र के तृतीय अध्ययन की छठी गाथा के उत्तरार्ध का प्रथम चरण तत्ताऽनिव्वुडभोइत्त' भी गरम गरम पानी पीने की परम्परा का समर्थक है। तृतीय उद्देशक की तीसरी गाथा में महाव्रतों की महिमा बताते हुए कहा गया है कि जैसे वणिकों द्वारा लाये हुए उत्तम रत्नों को राजा-महाराजा धारए करते हैं उसी प्रकार ज्ञानियो द्वारा उपदिष्ट रात्रिभोजनविरमणयुक्त रत्नसदृश महाव्रतो को उत्तम पुरुष ही धारण कर सकते हैं। इस गाथा की व्याख्या मे चूर्णिकार ने दो मतो का उल्लेख किया है पूर्वदिशा में रहने वाले आचार्यों के मत का व पश्चिम दिशा मे रहने वाले आचार्यो के मत का। सभव है, चूर्णिकार का तात्पर्य पूर्वदिशा अर्थात् मथुरा अथवा पाटलिपुत्र के सम्बन्ध से स्कन्दिलाचार्य आदि से एव पश्चिमदिशा अर्थात् वलभी के सम्बन्ध से नागार्जुन अथवा देवर्धिगणि आदि से हो। रात्रिभोजनविरमण का पृथक् उल्लेख एतद्विषयक शैथिल्य को दूर करने अथवा इसे व्रत के समकक्ष बनाने की दृष्टि से किया गया प्रतीत होता है। इसी सूत्र के वीरस्तुति नामक छठे अध्ययन में भी रात्रिभोजन का पृथक् निषेध किया गया है। प्रस्तुत उद्देशक की अन्तिम गाथा में भगवान् महावीर के लिए 'नायपुत्त' का प्रयोग हुआ है। साथ ही इन विशेषणो को भी उपयोग में लिया गया है अणुत्तरणाणी, अणुत्तरदसी, अणुत्तरनाणदसणधरे, अरहा, भगव और वेसालिए अर्थात् श्रेष्ठतमज्ञानी, श्रेष्ठतमदर्शी, श्रेष्ठतमज्ञानदर्शनधर, अर्हत्, भगवान् और वैशालिक—विशाला नगरी में उत्पन्न।

उपसर्ग

तृतीय अध्ययन का नाम उपसर्गपरिज्ञा है। साधक जब अपनी साधना के लिए तत्पर होता है तब से लगाकर साधना के अन्त तक उसे अनेक प्रकार के विघ्नो का सामना करना पडता है। साधनाकाल में आने वाले इन विघ्नो, बाधाओं, विपत्तियों को उपसर्ग कहते हैं। वैसे ये उपसर्ग गिने नहीं जासकते, फिर भी प्रस्तुत अध्ययन में इनमे से कुछ प्रतिकूल एव अनुकूल उपसर्ग गिनाये गये हैं। इनसे इन विघ्नों की प्रकृति का पता लग सकता है। सच्चा साधक इस प्रकार के उपसर्गो को जीत कर वीतराग अथवा स्थितप्रज्ञ बनता है। यही सम्पूर्ण अध्ययन का सार है। इस अध्ययन के चार उद्देशक हैं। प्रथम उद्देशक मे १७ गाथाएं हैं जिनमें भिक्षावृत्ति, शीत, ताप, भूख, प्यास, डास, मच्छर, अस्नान, अपमान, प्रतिकूलशय्या, केशलोच, आजीवन ब्रह्मचर्य आदि प्रतिकूल उपसर्गो का वर्णन है। मनुष्य को जब तक सग्राम में जिसे जीतना है उसके बल का पता नहीं होता तब तक वह अपने को शूर समझता है और कहता है कि इसमें क्या? उसे तो मैं एक चुटकी मे साफ कर दूगा। मेरे सामने वह तो एक मच्छर है। किन्तु जब शत्रु सामने आता है तब उसके होश गायब होजाते हैं। सूत्रकार ने इस तथ्य को समझाने के लिए शिशुपाल और कृष्ण का उदाहरण दिया है। यहाँ कृष्ण के लिए 'महारथ' शब्द का प्रयोग हुआ है। चूर्णिकार ने महारथ का अर्थ केशव (कृष्ण) किया है। साधक के लिये उपसर्गों को जीतना उतना ही कठिन है जितना कि शिशुपाल के लिए कृष्ण को जीतना। उपसर्गों की चपेट मे आनेवाले ढीलेढाले व्यक्ति की तो श्रद्धा ही समाप्त हो जाती है। जिस प्रकार निर्बल स्त्री अपने ऊपर आपत्ति आने पर अपने मा-बाप व पीहर के लोगों को याद करती है उसी प्रकार निर्बल साधक अपने ऊपर उपसर्गो का आक्रमण होने पर अपनी रक्षा के लिए स्वजनों को याद करने लगता है।

द्वितीय उद्देशक में २२ गाथाए हैं। इनमें स्वजनो अर्थात् माता-पिता, भाई-बहन, पुत्र-पुत्री, पति-पत्नी आदि द्वारा होने वाले उपसर्गों का वर्णन है। ये उपसर्ग प्रतिकूल नहीं अपितु अनुकूल होते हैं। जिस प्रकार साधक प्रतिकूल उपसर्गों से भयभीत होकर अपना मार्ग छोड सकता है उसी प्रकार अनुकूल उपसर्गो के आकर्षण के कारण भी पथभ्रष्ट हो सकता है। इस तथ्य को समझाने के लिए अनेक उपमाए दी गई हैं।

तृतीय उद्देशक में सब मिल कर २१ गाथाएं हैं। इनमें इस प्रकार के उपसर्गों का वर्णन है जो निर्बल मनवाले श्रमण की वासना द्वारा उत्पन्न होते हैं

तथा अन्य मतवाले लोगों के आक्षेपो के पात्र होते हैं। निर्बल भिक्षु के मन में किस प्रकार के सकल्प-विकल्प उत्पन्न होते हैं, इसका यथार्थ चित्रण प्रस्तुत उद्देशक मे है। बुद्धिमान् भिक्षु इन सब संकल्प-विकल्पो से ऊपर उठ कर अपने मार्ग में स्थिर रहते हैं जबकि अज्ञानी व मूढ भिक्षु अपने मार्ग से च्युत हो जाते हैं। इस उद्देशक में आनेवाले अन्यमतियों से चूर्णिकार व वृत्तिकार का तात्पर्य आजीविको एव दिगम्बर परम्परा के भिक्षुओ से है (आजीविकप्राया अन्य-तीर्थिका, बोडिगा—चूर्णि)। जब सयत भिक्षुओं के सामने किसी के साथ वाद-विवाद करने का प्रसग उपस्थित हो तब उन्हें किसी को विरोधभाव व क्लेश न हो इस ढग से तर्क व युक्ति का बहुगुणयुक्त मार्ग स्वीकार करना चाहिए। प्रस्तुत उद्देशक को सोलहवीं गाथा मे कहा गया है कि प्रतिवादियो की यह मान्यता है कि दानादि धर्म की प्रज्ञापना आरंभ समारंभ मे पडे हुए गृहस्थो की शुद्धि के लिए है, भिक्षुओ के लिए नहीं, ठीक नहीं। पूर्वपुरुषों ने इसी दृष्टि से अर्थात् गृहस्थो की ही शुद्धि को दृष्टि से दानादिक की कोई निरूपणा नही की। चूर्णिकार ने यहा पर केवल इतना ही लिखा है कि इस प्रवृत्ति का पूर्व मे कोई निषेध नहीं किया गया है जबकि वृत्तिकार ने इस कथन को थोडा सा बढ़ाया है और कहा है कि सर्वज्ञ पुरुषो ने प्राचीन काल में ऐसी कोई बात नहीं कही है। यह चर्चा वृत्तिकार के कथनानुसार दिगम्बरपक्षीय भिक्षुओ और श्वेताम्बर परम्परा के साधुओ के बीच है। वृत्तिकार का यह कथन उपयुक्त प्रतीत होता है।

चतुर्थ उद्देशक में सब मिल कर २२ गाथाए हैं। इस उद्देशक के विषय के सम्बन्ध में निर्युक्तिकार कहते हैं कि कुछ श्रमण कुतर्क अर्थात् हेत्वाभास द्वारा अनाचाररूप प्रवृत्तियो को आचार में समाविष्ट करने का प्रयत्न करते हैं एव जानबूझकर अनाचार में फसने का उपसर्ग उत्पन्न करते हैं। प्रस्तुत उद्देशक मे इसी प्रकार के उपसर्गों का वर्णन है।

प्रथम चार गाथाओ में बताया गया है कि कुछ शिथिल श्रमण यो कहने लगते हैं कि प्राचोन काल में कुछ ऐसे भी तपस्वी हुए हैं जो उपवासादि तप न करते, उष्ण पानी न पीते, फल-फूल आदि खाते फिर भी उन्हे जैन प्रवचन में महापुरुष के रूप मे स्वीकार किया गया है। इतना ही नहीं, इन्हें मुक्त भी माना गया है। इनके नाम ये हैं: रामगुत्त, बाहुग्र, नारायणरिसि अथवा तारायणरिसि, आसिलदेवल, दीवायणमहारिसि और पारासर। इन पुरुषो का महापुरुष एव अर्हत् के रूप में ऋषिभाषित नामक अति प्राचीन जैनप्रवचनानुसारी श्रुत में स्पष्ट उल्लेख है। इसके आधार पर कुछ शिथिल श्रमण यह कहने के लिए तैयार होते

हैं कि यदि ये लोग ठडा पानी पीकर, निरतरभोजी रहकर एव फल-फूलादि खाकर महापुरुष बने हैं एव मुक्त हुए है तो हम वैसा क्यो नही कर सकते ? इस प्रकार के हेत्वाभास द्वारा ये शिथिल श्रमण अपने आचार से भ्रष्ट होते हैं। उपर्युक्त सब तपस्वियो का वृत्तान्त वैदिक ग्रन्थो मे विशेष प्रसिद्ध है। एतद्विषयक विशेष विवेचन 'पुरातत्त्व' नामक त्रैमासिक पत्रिका मे प्रकाशित 'सूत्रकृतागमा आवता विशेषनामो' शीर्षक लेख मे उपलब्ध है।

कुछ शिथिल श्रमण यो कहते है कि सुख द्वारा सुख प्राप्त किया जा सकता है अत सुख प्राप्त करने के लिए कष्ट सहन करने की आवश्यकता नहीं है। जो लोग सुखप्राप्ति के लिए तपरूप कष्ट उठाते है वे भ्रम मे हैं। चूर्णिकार ने यह मत शाक्यो अर्थात् बौद्धो का माना है। वृत्तिकार ने भी इसी का समर्थन किया है और कहा है कि लोच आदि के कष्ट से सतप्त कुछ स्वयूथ्य अर्थात् जैन श्रमण भी इस प्रकार कहने लगते हैं एके शाक्यादय स्वयूथ्या वा लोचादिना उपतप्ता। चूर्णिकार व वृत्तिकार की यह मान्यता कि 'सुख से सुख मिलता है' यह मत बौद्धो का है, सही है किन्तु बुद्ध के प्रवचन मे भी तप, सवर, अहिंसा तथा त्याग की महिमा है। हाँ, इतना अवश्य है कि उसमे घोरातिघोरतम तप का समर्थन नहीं है। विशुद्धिमग्ग व धम्मपद को देखने से यह बात स्पष्ट हो जाती है।

आगे की गाथाओ मे तो इनसे भी अधिक भयकर हेत्वाभासो द्वारा अनुकूल तर्क लगाकर वासना तृप्तिरूप सुखकर अनुकूल उपसर्ग उपपन्न किये गये हैं। नवी व दसवीं गाथा मे बताया गया है कि कुछ अनार्य पासत्थ (पार्श्वस्थ अथवा पाशस्थ) जो कि स्त्रियो के वशीभूत हैं तथा जिनशासन से पराङ्मुख हैं, यो कहते हैं कि जैसे फोडे को दबाकर साफ कर देने से शान्ति मिलती है वैसे ही प्रार्थना करने वाली स्त्री के साथ संभोग करने में कोई दोष नही है। जिस प्रकार भेड अपने घुटनो को पानी मे झुकाकर पानी को बिना गदा किये धीरे-धीरे स्थिरतापूर्वक पीता है उसी प्रकार रागरहित चित्त वाला मनुष्य अपने चित्त को दूषित किये बिना स्त्री के साथ सभोग करता है। इसमे कोई दोष नहीं है। वृत्तिकार ने इस प्रकार की मान्यता रखने वालो मे नीलवस्त्रवाले बौद्धविशेषो, नाथवादिक मडल में प्रविष्ट शैवविशेषों एव स्वयूथिक कुशील पार्श्वस्थो का समावेश किया है। इन गाथाओं से स्पष्ट है कि जैनेतर भिक्षुओं की भाँति कुछ जैन श्रमण—शिथिल चैत्यवासी भी स्त्रीससर्ग का सेवन करने लगे थे। इस प्रकार के लोगों को पूतना की उपमा देते हुए सूत्रकार ने कहा है कि जैसे पिशाचिनी पूतना छोटे बालकों में आसक्त रहती है वैसे ही ये मिथ्यादृष्टि स्त्रियो में आसक्त रहते हैं।

स्त्री-परिज्ञा

स्त्रीपरिज्ञा नामक चतुर्थ अध्ययन के दो उद्देशक हैं। पहले उद्देशक मे ३१ एव दूसरे मे २२ गाथाएँ हैं। स्त्रीपरिज्ञा का अर्थ है स्त्रियो के स्वभाव का सब तरह से ज्ञान। इस अध्ययन में यह बताया गया है कि स्त्रियाँ श्रमण को किस प्रकार फँसाती हैं और किस प्रकार उसे अपना गुलाम तक बना लेती हैं। इसमें यहाँ तक कहा गया है कि स्त्रियाँ विश्वसनीय नहीं हैं। वे मन मे कुछ और ही सोचती हैं, मुँह से कुछ और ही बोलती हैं व प्रवृत्ति कुछ और ही करती हैं। इस प्रकार स्त्रियाँ अति मायावी हैं। श्रमण को स्त्रियो का विश्वास कभी नहीं करना चाहिए। इस विषय मे तनिक भी असावधानी रखने पर श्रमणत्व का विनाश हो सकता है। प्रस्तुत अध्ययन मे स्त्रियो की जो निन्दा की गई है वह एकागी है। वास्तव में श्रमण की भ्रष्टता का मुख्य कारण तो उसकी खुद की वासना ही है। स्त्री उस वासना को उत्तेजित करने में निमित्त कारण अवश्य बन सकती है। वैसे सभी स्त्रियाँ एकसी नहीं होती। ससार मे ऐसी अनेक स्त्रियाँ हुई हैं जो प्रात स्मरणीय हैं। फिर जैसे स्त्रियो में दोष दिखाई देते हैं वैसे ही पुरुषो मे भी दोषो की कमी नहीं है। ऐसी स्थिति में केवल स्त्री पर दोषारोपण करना उचित नहीं। निर्युक्तिकार ने इस तथ्य को स्वीकार किया है और कहा है कि जो दोष स्त्रियो मे हैं वेही पुरुषों में भी हैं। अत. साधक श्रमण को पूरी तरह से सावधान रहना चाहिए। पतन का मुख्य कारण तो खुद के दोष ही हैं। स्त्री अथवा पुरुष तो उसमें केवल निमित्त है। जैसे स्त्री के परिचय में आने पर पुरुष मे दोष उत्पन्न होते हैं वैसे ही पुरुष के परिचय मे आने पर स्त्री मे भी दोष उत्पन्न होते हैं। अत वैराग्यमार्ग में स्थित श्रमण व श्रमणी दोनो को सावधानी रखनी चाहिए। यदि ऐसा है तो फिर इस अध्ययन का नाम 'स्त्रीपरिज्ञा' ही क्यो रखा? 'पुरुषपरिज्ञा' भी तो रखना चाहिये था। इस प्रश्न का समाधान करते हुए चूर्णिकार व वृत्तिकार कहते हैं कि 'पुरिसोत्तरिओ धम्मो' अर्थात् धर्म पुरुषप्रधान है अत पुरुष के दोष बताना ठीक नहीं। धर्मप्रवर्तक पुरुष होते हैं अत पुरुष उत्तम माना जाता है। इस उत्तमता को लाछित न करने के लिए ही प्रस्तुत अध्ययन का नाम 'पुरुषपरिज्ञा' न रखते हुए 'स्त्रीपरिज्ञा' रखा गया। व्यावहारिक दृष्टि से टीकाकारो का यह समाधान ठीक है, पारमार्थिक दृष्टि से नहीं। सूत्रकार ने प्रस्तुत अध्ययन में प्रसगवशात् गृहस्थोपयोगी अनेक वस्तुओं तथा बालोपयोगी अनेक खिलौनों के नाम भी गिनाये हैं।

नरक विभक्ति

पंचम अध्ययन का नाम नरकविभक्ति है। चतुर्थं अध्ययनोक्त स्त्रीकृत उपसर्गों मे फँसने वाला नरकगामी बनता है। नरकविभक्ति अध्ययन के दो उद्देशक हैं। प्रथम उद्देशक में २७ गाथाएँ हैं और द्वितीय में २५। इनमें यह बताया गया है कि नरक के विभागो में अर्थात् नरक के भिन्न भिन्न स्थानो में कैसे-कैसे भयकर कष्ट भोगने पडते हैं एव कैसी-कैसी असाधारण यातनाएँ सहनी पड़ती हैं? जो लोग पापी हैं—हिंसक हैं, असत्यभाषी हैं, चोर हैं, लुटेरे हैं, महापरिग्रही हैं, असदाचारी हैं उन्हें इस प्रकार के नरकावासो मे जन्म लेना पडता है। नरक की इन भयकर वेदनाओ को सुनकर धीर पुरुष जरा भी हिंसक प्रवृत्ति न करें, अपरिग्रही बनें एव निर्लोभवृत्ति का सेवन करें—यही इस अध्ययन का उद्देश्य है। वैदिक, बौद्ध व जैन इन तीनो परम्पराओ में नरक के महाभयो का वर्णन है। इससे प्रतीत होता है कि नरकविषयक यह कल्पना अति प्राचीन काल से चली आ रही है। योगसूत्र के व्यासभाष्य में छः महानरको का वर्णन है। भागवत मे अट्ठाईस नरक गिनाये गये हैं। बौद्ध परम्परा के पिटकग्रथरूप सुत्तनिपात के कोकालिय नामक सुत्त में नरको का वर्णन है। यह वर्णन प्रस्तुत अध्ययन के वर्णन से बहुतकुछ मिलता-जुलता है। अभिधर्मकोश के तृतीय कोश-स्थान के प्रारभ मे आठ नरको के नाम दिये गये हैं। इन सब स्थलो को देखने से पता चलता है कि भारतीय परम्परा की तीनो शाखाओ का नरकवर्णन एक दूसरे से काफी मिलता हुआ है। इतना ही नहीं, उनकी शब्दावली भी बहुत-कुछ समान है।

वीरस्तव

षष्ठ अध्ययन में वीर वर्धमान की स्तुति की गई है इसलिए इस अध्ययन का नाम वीरस्तव रखा गया है। इसमें २९ गाथाए हैं। भगवान् महावीर का मूल नाम तो वर्धमान है किन्तु उनकी असाधारण वीरता के कारण उनकी ख्याति वीर अथवा महावीर के रूप में हुई है। इसीलिए प्रस्तुत अध्ययन मे प्रख्यात नाम 'महावीर' द्वारा स्तुति की गई है। इस अध्ययन की निर्युक्ति में स्तव अथवा स्तुति कैसी-कैसी प्रवृत्ति द्वारा होती है उसकी बाह्य व आभ्यन्तरिक दोनों रीतिया बताई गई हैं। इस अध्ययन में भी पहले के अध्ययनो की भांति चूर्णिसमतवाचना एव वृत्तिसमतवाचना में काफी अन्तर है। तीसरी गाथा में महावीर को जिन विशेषणो द्वारा परिचित करवाया गया है वे ये हैं खेयन्न, कुसल, आसुपन्न, अणतनाणी, अणतदसी। खेयन्न अर्थात् क्षेत्रज्ञ अथवा खेदज्ञ। क्षेत्रज्ञ का अर्थ है आत्मा के स्वरूप का यथावस्थित ज्ञान रखने वाला

आत्मज्ञ। अथवा क्षेत्र अर्थात् आकाश। उसे जानने वाला अर्थात् लोकालोकरूप आकाश के स्वरूप का ज्ञाता क्षेत्रज्ञ कहलाता है। खेदज्ञ का अर्थ है ससारियो के खेद अर्थात् दुःख को जानने वाला। भगवद्गीता में 'क्षेत्रक्षेत्रज्ञविभागयोग' नामक एक पूरा अध्याय है। उसमें ३४ श्लोको द्वारा क्षेत्र एवं क्षेत्रज्ञ के स्वरूप के विषय में विस्तृत चर्चा की गई है। भगवान् महावीर के लिए प्रयुक्त 'क्षेत्रज्ञ' विशेषण की व्याख्या यदि गीता के इस अध्याय के अनुसार की जाय तो विशेष उचित है। इस व्याख्या से ही भगवान् की खास विशेषता का पता लग सकता है। कुशल, आशुप्रज्ञ, अनन्तज्ञानी एव अनन्तदर्शी का अर्थ सुप्रतीत है। पाँचवीं गाथा में भगवान् के धृतिगुण का वर्णन है। भगवान् धृतिमान् हैं, स्थितात्मा हैं, निरामगध हैं, ग्रथातीत हैं, निर्भय हैं। धृतिमान् का अर्थ है धैर्यशाली। कैसा भी सुख अथवा दुःख का प्रसग उपस्थित होने पर भगवान् सदा एकरूप रहते हैं। यही उनका धैर्य है। स्थितात्मा का अर्थ है स्थिर आत्मावाला। मानापमान की कैसी भी स्थिति मे भगवान् स्थिरचित्त—निश्चल रहते हैं। निरामगध का अर्थ है निर्दोषभोजी। भगवान् का भोजन आदि सर्व प्रकार से निर्दोष होता है। ग्रन्थातीत का अर्थ है परिग्रहरहित। भगवान् अपने पास किसी प्रकार का परिग्रह नहीं रखते, किसी प्रकार की साधनसामग्री पर उनका अधिकार अथवा ममत्व नहीं होता और न वे किसी वस्तु की आकांक्षा ही रखते हैं। निर्भय का अर्थ है निडर। भगवान् सर्वत्र एव सर्वदा सर्वथा निर्भय रहते हैं। आगे की गाथाओ मे अन्य अनेक विशेषणो व उपमाओ द्वारा भगवान् की स्तुति की गई है। भगवान् भूतिप्रज्ञ अर्थात् मगलमय प्रज्ञावाले हैं, अनिकेतचारी अर्थात् अनगार हैं, ओघतर अर्थात् ससाररूप प्रवाह को तैरने वाले हैं, अनन्तचक्षु अर्थात् अनन्तदर्शी हैं, निरतर धर्मरूप प्रकाश फैलानेवाले एव अधर्मरूप अधकार दूर करने वाले हैं, शक्र के समान द्युतिवाले, महोदधि के समान गभीरज्ञानी, मेरु के समान अडिग हैं। जैसे वृक्षो में शाल्मलीवृक्ष, पुष्पों में अरविन्द कमल, वनो में नदनवन, शब्दों में मेघशब्द, गधो में चदनगध, दानो में अभयदान, वचनों में निर्दोष सत्यवचन, तपों में ब्रह्मचर्य श्रेष्ठ है वैसे ही निर्वाणवादी तीर्थंकरों में भगवान् महावीर श्रेष्ठ हैं। योद्धाओं में जैसे विष्वक्सेन अर्थात् कृष्ण एव क्षत्रियो में जैसे दंतवक्त्र श्रेष्ठ है वैसे ही ऋषियों में वर्धमान महावीर श्रेष्ठ हैं। यहाँ चूर्णिकार व वृत्तिकार ने दंतवक्क—दतवक्त्र का जो सामान्य अर्थ (चक्रवर्ती) किया है वह उपयुक्त प्रतीत नहीं होता। यह शब्द एक विशिष्ट क्षत्रिय के नाम का सूचक है। जिसके मुख में जन्म से ही दात हो उसका नाम है दतवक्त्र। इस नाम के विषय में

महाभारत में भी ऐसी ही प्रसिद्धि है। वृत्तिकार ने तो विष्वक्सेन का भी सामान्य अर्थ (चक्रवर्ती) किया है जब कि अमरकोश आदि मे इसका कृष्ण अर्थ प्रसिद्ध है।

वर्धमान महावीर ने जिस परम्परा का अनुसरण किया उसमे क्या सुधार किया ? इसका उत्तर देते हुए सूत्रकार ने लिखा है कि उन्होने स्त्रीसहवास एव रात्रिभोजन का निषेध किया। भगवान् महावीर के पूर्व चली आने वाली भगवान् पार्श्वनाथ की परम्परा चतुर्यामप्रधान थी। उसमें मैथुनविरमण व्रत का स्पष्ट शब्दों मे समावेश करने का कार्य भगवान् महावीर ने किया। इसी प्रकार उन्होंने उसमे रात्रि-भोजनविरमण व्रत का भी अलग से समावेश किया।

कुशील

सातवा अध्ययन कुशीलविषयक है। इस अध्ययन में ३० गाथाएँ हैं। कुशील का अर्थ है अनुपयुक्त अथवा अनुचित आचार वाला। जैन परम्परा की दृष्टि से जिनका आचार शुद्ध नही है अर्थात् जो असयमी हैं उनमे से कुछ का थोडा-बहुत परिचय प्रस्तुत अध्ययन में मिलता है। इन कुशीलो मे चूर्णिकार ने गौतम सम्प्रदाय, गोव्रतिक सम्प्रदाय, रडदेवता सम्प्रदाय (चडीदेवता सम्प्रदाय), वारिभद्रक सम्प्रदाय, अग्निहोमवादियों तथा जलशौचवादियो का समावेश किया है। वृत्तिकार ने भी इनकी मान्यताओ का उल्लेख किया है। औपपातिक सूत्र मे इस प्रकार के अनेक कुशीलो का नामोल्लेख है। प्रस्तुत अध्ययन मे सूत्रकार ने तीन प्रकार के कुशीलो की चर्चा की है (१) आहारसपज्जण अर्थात् आहार में मधुरता उत्पन्न करने वाले लवण आदि के त्याग से मोक्ष मानने वाले, (२) सीओदगसेवण अर्थात् शीतल जल के सेवन से मोक्ष मानने वाले, (३) हुएण अर्थात् होम से मोक्ष मानने वाले। इनकी मान्यताओ का उल्लेख करते हुए ग्रन्थकार ने विविध दृष्टान्तो द्वारा इन मतो का खण्डन किया है एव यह प्रतिपादित किया है कि मोक्ष के प्रतिबधक कारणों—राग, द्वेष, काम, क्रोध, लोभ आदि का अत करने पर ही मोक्ष प्राप्त हो सकता है।

वीर्य अर्थात् पराक्रम

आठवा अध्ययन वीर्यविषयक है। इसमें वीर्य अर्थात् पराक्रम के स्वरूप का विवेचन है। चूर्णि की वाचना के अनुसार इसमें २७ गाथाएँ हैं जबकि वृत्तिसमत वाचना के अनुसार गाथासख्या २६ ही है। चूर्णि में १९ वीं गाथा अधिक है। इस अध्ययन मे चूर्णि की वाचना व वृत्ति की वाचना में बहुत अन्तर है। निर्युक्तिकार ने वीर्य की व्याख्या करते हुए कहा है कि वीर्य शब्द सामर्थ्य-पराक्रम बल—शक्ति का सूचक है। वीर्य अनेक प्रकार का है। जड

वस्तु में भी वीर्य होता है एव चेतन वस्तु में भी। चदन, कबल, शस्त्र, औषध आदि की विविध शक्तियो का अनुभव हम करते ही हैं। यह जड वस्तु का वीर्य है। शरीरबल, इन्द्रियबल, मनोबल, उत्साह, धैर्य, क्षमा आदि चेतन वस्तु की शक्तिया हैं। सूत्रकार कहते हैं कि वीर्य दो प्रकार का है अकर्मवीर्य अर्थात् पडितवीर्य और कर्मवीर्य अर्थात् बालवीर्य। सयमपरायण का वीर्य पडितवीर्य कहलाता है तथा असयमपरायण का वीर्य बालवीर्य। 'कर्मवीर्य' का 'कर्म' शब्द प्रमाद एव असयम का सूचक है तथा 'अकर्मवीर्य' का 'अकर्म' शब्द अप्रमाद एव सयम का निर्देशक है। कर्मवीर्य—बालवीर्य का विशेष परिचय देते हुए सूत्रकार कहते हैं कि कुछ लोग प्राणियो के विनाश के लिए शस्त्रविद्या सीखते हैं एवं कुछ लोग प्राणियो की हिंसा के लिए मत्रादि सीखते हैं। इसी प्रकार अकर्मवीर्य—पडितवीर्य का विवेचन करते हुए कहा गया है कि इस वीर्य मे सयम की प्रधानता है। ज्यो-ज्यों पडितवीर्य बढता जाता है त्यों-त्यों सयम बढता जाता है एव पूर्णसयम प्राप्त होने पर निर्वाणरूप अक्षय सुख मिलता है। यही पडितवीर्य अथवा अकर्मवीर्य का सार है। बालवीर्य अथवा कर्मवीर्य का परिणाम इससे विपरीत होता है। उससे दु ख बढता है—ससार बढता है।

धर्म

धर्म नामक नवम अध्ययन का व्याख्यान करते हुए निर्युक्तिकार आदि ने 'धर्म' शब्द का अनेक रूपो में प्रयोग किया है, यथा कुलधर्म, नगरधर्म, ग्रामधर्म, राष्ट्रधर्म, गणधर्म, सघधर्म, पाखडधर्म, श्रुतधर्म, चारित्रधर्म, गृहस्थधर्म, पदार्थधर्म, दानधर्म आदि। अथवा सामान्यतया धर्म दो प्रकार का है लौकिक धर्म और लोकोत्तर धर्म। जैन परम्परा अथवा जैन प्रणाली के अतिरिक्त सब धर्म, मार्ग अथवा सम्प्रदाय लौकिक धर्म मे समाविष्ट हैं। जैन प्रणाली की दृष्टि से प्रवर्तित समस्त आचार-विचार लोकोत्तर धर्म में समाविष्ट होते हैं। प्रस्तुत अध्ययन में लोकोत्तर धर्म का निरूपण है। इसमे चूर्णि की वाचना के अनुसार ३७ गाथाएँ हैं जबकि वृत्तिकी वाचना के अनुसार गाथाओ की सख्या ३६ है। गाथाओं की वाचना मे भी चूर्णि व वृत्ति की दृष्टि से काफी भेद है।

प्रथम गाथा के पूर्वार्ध मे प्रश्न है कि मतिमान् ब्राह्मणो ने कौन सा व कैसा धर्म बताया है? उत्तरार्ध में उत्तर है कि जिनप्रभुओं ने—अर्हतों ने जिस आर्जवरूप—अकपटरूप धर्म का प्रतिपादन किया है उसे मेरे द्वारा सुनो। आगे बताया है कि जो लोग आरभ आदि दूषित प्रवृत्तियो में फँसे रहते हैं वे इस लोक तथा पर लोक में दु ख से मुक्ति नही पा सकते। अत निर्ममतारूप एव निरहकाररूप

ऋजुधर्म का आचरण करना चाहिए जो परमार्थानुगामी है। श्रमणधर्म के दूषण-रूप कुछ आदान प्रस्तुत अध्ययन में इस प्रकार गिनाये गये हैं —

१ असत्य वचन
२. बहिद्धा अर्थात् परिग्रह एव अब्रह्मचर्य
३ अदत्तादान अर्थात् चौर्य
४. वक्रता अर्थात् माया—कपट—परिकुचन—पलिउचण
५ लोभ—भजन—भयण
६ क्रोध—स्थडिल—थडिल
७ मान—उच्छ्रयण—उस्सयण

ये सब धूर्तादान अर्थात् धूर्तता के आयतन हैं। इनके अतिरिक्त धावन, रजन, वमन, विरेचन, स्नान, दंतप्रक्षालन, हस्तकर्म आदि दूषित प्रवृत्तियो का उल्लेख करते हुए सूत्रकार ने आहारसम्बन्धी व अन्य प्रकार के कुछ दूषण भी गिनाये हैं। भिक्षुओ को इनका आचरण नहीं करना चाहिए, ऐसा निर्ग्रन्थ महा-मुनि महावीर ने कहा है। भाषा कैसी बोलनी चाहिए, इस पर भी सूत्रकार ने प्रकाश डाला है।

समाधि

दसवें अध्ययन का नाम समाधि है। इस अध्ययन में २४ गाथाएँ हैं। समाधि का अर्थ है तुष्टि—सतोष—प्रमोद—आनन्द। निर्युक्तिकार ने द्रव्यसमाधि, क्षेत्रसमाधि, कालसमाधि एव भावसमाधि का स्वरूप बताया है। जिन गुणो द्वारा जीवन मे समाधिलाभ हो वे भावसमाधि कहलाते हैं। भावसमाधि ज्ञानसमाधि, दर्शनसमाधि, चारित्रसमाधि एव तपसमाधिरूप है। प्रस्तुत अध्ययन में इस भाव-समाधि अर्थात् आत्मप्रसन्नता की प्रवृत्ति के सम्बन्ध में प्रकाश डाला गया है। सम्पूर्ण अध्ययन मे किसी प्रकार का सचय न करना, समस्त प्राणियों के साथ आत्मवत् व्यवहार करना, सब प्रकार की प्रवृत्ति में हाथ-पैर आदि को सयम में रखना, किसी अदत्त वस्तु को ग्रहण न करना आदि सदाचार के नियमो के पालन के विषय में बार-बार कहा गया है। सूत्रकार ने पुनः-पुनः इस बात का समर्थन किया है कि स्त्रियो में आसक्त रहने वाले एव परिग्रह मे ममत्व रखने वाले श्रमण समाधि प्राप्त नहीं कर सकते। अतः समाधिप्राप्ति के लिए यह अनिवार्य है कि स्त्रियो में आसक्ति न रखी जाय, मैथुनक्रिया से दूर रहा जाय एव परिग्रह मे ममत्व न रखा जाय। एकान्त क्रियावाद व एकान्त अक्रियावाद को अज्ञानमूलक बताते हुए सूत्रकार ने

कहा है कि एकान्त क्रियावाद का अनुसरण करनेवाले तथा एकान्त अक्रियावाद का अनुसरण करनेवाले दोनों ही वास्तविक धर्म अथवा समाधि से बहुत दूर हैं।

मार्ग

मार्ग नामक ग्यारहवें अध्ययन का विषय समाधि नामक दसवें अध्ययन के विषय से मिलता-जुलता है। इसकी गाथा संख्या ३८ है। चूर्णिसमत वाचना व वृत्तिसमत वाचना मे पाठभेद है। इस अध्ययन के विवेचन के प्रारंभ में निर्युक्तिकार ने 'मार्ग' शब्द का विविध प्रकार से अर्थ किया है एव मार्ग के अनेक प्रकार बताये हैं, यथा फलकमार्ग (पट्टमार्ग), लतामार्ग, आंदोलकमार्ग (शाखामार्ग), वेत्रमार्ग, रज्जुमार्ग, दवनमार्ग (वाहन मार्ग), विलमार्ग, पाशमार्ग, कीलकमार्ग अजमार्ग, पक्षिमार्ग, छत्रमार्ग, जलमार्ग, आकाशमार्ग। ये सब बाह्यमार्ग हैं। प्रस्तुत अध्ययन में इन मार्गों के विषय में कुछ नहीं कहा गया है किन्तु जिससे आत्मा को समाधि प्राप्त हो—शान्ति मिले उसी मार्ग का विवेचन किया गया है। ऐसा मार्ग ज्ञानमार्ग, दर्शनमार्ग, चारित्रमार्ग एव तपोमार्ग कहलाता है। सक्षेप मे उसका नाम सयममार्ग अथवा सदाचारमार्ग है। इस पूरे अध्ययन मे आहारशुद्धि, सदाचार, सयम, प्राणातिपातविरमण आदि पर प्रकाश डाला गया है एव कहा गया है कि प्राणो की परवाह किये बिना इन सबका पालन करना चाहिए। दानादि प्रवृत्तियो का श्रमण को न तो समर्थन करना चाहिए और न निषेध क्योंकि यदि वह कहता है कि इस प्रवृत्ति मे धर्म है अथवा पुण्य है तो उसमे होने वाली हिंसा का समर्थन होता है जिससे प्राणियो की रक्षा नही हो सकती और यदि वह कहता है कि इस प्रवृत्ति मे धर्म नहीं है अथवा पुण्य नही है तो जिसे सुख पहुँचाने के लिए वह प्रवृत्ति की जाती है उसे सुखप्राप्ति मे अन्तराय पहुँचती है जिससे प्राणियों का कष्ट बढ़ता है। ऐसी स्थिति में श्रमण के लिए इस प्रकार की प्रवृत्तियों के प्रति उपेक्षाभाव अथवा मौन रखना ही श्रेष्ठ है।

समवसरण

बारहवें अध्ययन का नाम समवसरण है। इस अध्ययन में २२ गाथाए हैं। चूर्णिसमत वाचना एव वृत्तिसमत वाचना मे पाठभेद है। देवादिकृत समवसरण अथवा समोसरण यहा विवक्षित नहीं है। उसका शब्दार्थ निर्युक्तिकार ने सम्मेलन अथवा मिलन अर्थात् एकत्र होना किया है। चूर्णिकार तथा वृत्तिकार ने भी इस अर्थ का समर्थन किया है। यही अर्थ

यहा अभीष्ट है। समवसरण नामक प्रस्तुत अध्ययन में विविध प्रकार के मतप्रवर्तकों अथवा मतो का सम्मेलन है। ये मतप्रवर्तक हैं क्रियावादी, अक्रियावादी, अज्ञानवादी और विनयवादी। क्रिया को माननेवाले क्रियावादी कहलाते हैं। ये आत्मा, कर्मफल आदि को मानते हैं। अक्रिया को मानने वाले अक्रियावादी कहलाते हैं। ये आत्मा, कर्मफल आदि का अस्तित्व नहीं मानते। अज्ञान को माननेवाले अज्ञानवादी कहलाते हैं। ये ज्ञान की उपयोगिता स्वीकार नहीं करते। विनय को माननेवाले विनयवादी कहलाते हैं। ये किसी भी मत की निन्दा नही करते अपितु समस्त प्राणियों का विनयपूर्वक आदर करते हैं। विनयवादी लोग गधे से लेकर गाय तक तथा चाडाल से लेकर ब्राह्मण तक सब स्थलचर, जलचर और खेचर प्राणियों को नमस्कार करते रहते हैं। यही उनका विनयवाद है। प्रस्तुत अध्ययन में केवल इन चार मतो अर्थात् वादो का ही उल्लेख है। स्थानाग सूत्र में अक्रियावादियों के आठ प्रकार बताये गये हैं एकवादी, अनेकवादी, मितवादी, निर्मितवादी, सातवादी, समुच्छेदवादी, नियतवादी तथा परलोकाभाववादी।[1] समवायाग में सूत्रकृताग का परिचय देते हुए क्रियावादी आदि मतो के ३६३ भेदों का केवल एक सख्या के रूप में निर्देश कर दिया गया है। ये भेद कौन-से हैं, इसके विषय में वहाँ कुछ नहीं कहा है। सूत्रकृताग की निर्युक्ति में क्रियावादी के १८०, अक्रियावादी के ८४, अज्ञानवादी के ६७ और विनयावादी के ३२—इस प्रकार कुल ३६३ भेदो की सख्या बताई गई है। ये भेद किस प्रकार हुए हैं एव उनके नाम क्या है, इसके विषय में निर्युक्तिकार ने कोई प्रकाश नहीं डाला है। चूर्णिकार एव वृत्तिकार ने इन भेदो की नामपूर्वक गणना की है।

प्रस्तुत अध्ययन के प्रारम्भ में क्रियावाद आदि से सम्बन्धित चार वादियो का नामोल्लेख है। यहाँ पर बताया गया है कि समवसरण चार ही हैं, अधिक नहीं। द्वितीय गाथा में अज्ञानवाद का निरसन है। सूत्रकार कहते हैं कि अज्ञानवादी वैसे तो कुशल हैं किन्तु धर्मोपाय के लिए अकुशल हैं। उनमे विचार करने की प्रवृत्ति का अभाव है। अज्ञानवाद क्या है अर्थात् अज्ञानवादियों की मान्यता का स्वरूप क्या है, इसका स्पष्ट एव पूर्ण निरूपण न तो सूत्रकार ने किया है, न किसी टीकाकार ने। जैसे सूत्रकार ने निरसन को प्रधानता दी है वैसे ही टीकाकारों ने

---

१ विशेष परिचय के लिए देखिये—स्थानाग समवायाग (पं दलसुख मालवणिया कृत गुजराती रूपान्तर), पृ ४४८

भी वही शैली अपनाई है। परिणामत. बौद्धो तक को अज्ञानवादियो को कोटि में गिना जाने लगा। तीसरी गाथा मे विनयवादियो का निरसन है। चौथी गाथा का पूर्वार्ध विनयवाद से सम्बन्धित है एव उत्तरार्ध अक्रियावादविषयक है। पाँचवीं गाथा मे अक्रियावादियों पर आक्षेप किया गया है कि ये लोग हमारे द्वारा प्रस्तुत तर्क का कोई स्पष्ट उत्तर नहीं दे सकते, मिश्रभाषा द्वारा छुटकारा पाने की कोशिश करते हैं, उन्मत्त की भाँति बोलते हैं अथवा गूगे की तरह साफ जवाब नहीं दे सकते। छठी गाथा मे इस प्रकार के अक्रियावादियो को ससार में भ्रमण करने वाला बताया गया है। सातवी गाथा मे अक्रियावाद की मान्यता इस प्रकार बताई है सूर्य उदित नही होता, सूर्य अस्त भी नही होता, चन्द्रमा बढता नहीं, चन्द्रमा कम भी नही होता, नदियां पर्वतो से निकलती नही, वायु बहता नहीं। इस तरह यह सम्पूण लोक नियत है वध्य है, निष्क्रिय है। ग्यारहवीं गाथा मे कहा गया है कि यहाँ जो चार समवसरण अर्थात् वाद बताये गये हैं उनका तथागत पुरुषो अर्थात् तीर्थंकरो ने लोक का यथार्थ स्वरूप समझ कर ही प्रतिपादन किया है एव अन्य वादो का निरसन करते हुए क्रियावाद की प्रतिष्ठा की है। उन्होने बताया है कि जो कुछ दु ख—कम है वह अन्यकृत नही अपितु स्वकृत है एव 'विज्जा' अर्थात् ज्ञान तथा 'चरण अर्थात् चारित्ररूप क्रिया इन दोनो द्वारा मोक्ष प्राप्त किया जा सकता है। इस गाथा में केवल ज्ञान द्वारा अथवा केवल क्रिया द्वारा मुक्ति मानने वालो का निरसन है। आगे की गाथाओ में ससार एव तद्गत आसक्ति का स्वरूप, कमनाश का उपाय, रागद्वेषरहितता, ज्ञानी पुरुषो का नेतृत्व, बुद्धत्व, अतकरत्व, सर्वत्र समभाव, मध्यस्थवृत्ति, धर्मप्ररूपणा, क्रियावादप्ररूपकत्व आदि पर प्रकाश डाला गया है।

याथातथ्य

तेरहवें अध्ययन का नाम आहत्तहिय—याथातथ्य है। इसमें २३ गाथाएँ हैं। याथातथ्य का अर्थ है यथार्थ—वास्तविक-परमार्थ-जैसा है वैसा। इस अध्ययन की प्रथम गाथा में ही आहत्तहिय—आधत्तधिज्ज—याथातथ्य शब्द का प्रयोग हुआ है। अध्ययन के नाम से तो ऐसा मालूम होता है कि इसमें किसी व्यापक वस्तु का विवेचन किया गया है किन्तु बात ऐसी नहीं है। इसमें शिष्य के गुण-दोषो की वास्तविक स्थिति पर प्रकाश डाला गया है। शिष्य कैसे विनयी होते हैं व कैसे अविनयी होते हैं, कैसे अभिमानी होते हैं, व कैसे सरल होते हैं, कैसे क्रोधी होते हैं व कैसे शान्त होते हैं, कैसे कपटी होते हैं व कैसे सरल होते हैं, कैसे लोभी होते हैं व कैसे नि स्पृह रहते हैं—यह सब प्रस्तुत अध्ययन मे वर्णित है।

ग्रन्थ अर्थात् परिग्रह :

चौदहवें अध्ययन का नाम ग्रथ है। निर्युक्ति आदि के अनुसार ग्रन्थ का सामान्य अर्थ परिग्रह होता है। ग्रंथ दो प्रकार का है: बाह्यग्रन्थ और आभ्यन्तरग्रन्थ। बाह्य-ग्रन्थ के मुख्य दस प्रकार हैं: १ क्षेत्र, २. वास्तु, ३ धन-धान्य, ४. ज्ञातिजन व मित्र, ५. वाहन, ६ शयन, ७. आसन, ८ दासी, ९. दास, १० विविध सामग्री। इन दस प्रकार के बाह्य ग्रन्थों में मूर्छा रखना ही वास्तविक ग्रथ है। आभ्यन्तर ग्रथ के मुख्य चौदह प्रकार हैं. १ क्रोध, २ मान, ३ माया, ४ लोभ, ५ स्नेह, ६. द्वेष, ७ मिथ्यात्व, ८. कामाचार, ९ सयम मे अरुचि, १० असयम में रुचि, ११ विकारी हास्य, १२ शोक, १३. भय, १४. घृणा। जो दोनो प्रकार के ग्रथ से रहित हैं अर्थात् जिन्हे दोनो प्रकार के ग्रन्थ मे रुचि नही है तथा जो सयममार्ग की प्ररूपणा करने वाले आचाराग आदि ग्रन्थो का अध्ययन करने वाले है वे शैक्ष अथवा शिष्य कहलाते हैं। शिष्य दो प्रकार के होते हैं दीक्षाशिष्य और शिक्षाशिष्य। दीक्षा देकर बनाया हुआ शिष्य दीक्षाशिष्य कहलाता है। इसी प्रकार शिक्षा देकर अर्थात् सूत्रादि सिखाकर बनाया हुआ शिष्य शिक्षाशिष्य कहलाता है। आचार्य अर्थात् गुरु के भी शिष्य की ही तरह दो भेद हैं दीक्षा देने वाला गुरु—दीक्षागुरु और शिक्षा देने वाला गुरु—शिक्षागुरु। प्रस्तुत अध्ययन मे यह बताया गया है कि इस प्रकार के गुरु और शिष्य कैसे होने चाहिएं, उन्हें कैसी प्रवृत्ति करनी चाहिए, उनके कर्तव्य क्या होने चाहिए? इसमें २७ गाथाएं हैं। अध्ययन की प्रारभिक गाथा में ही 'ग्रन्थ' शब्द का प्रयोग है। बीसवी गाथा में 'ण याऽऽसियावाय वियागरेज्जा' ऐसा उल्लेख है। इसका अर्थ यह है कि भिक्षु को किसी को आशीर्वाद नहीं देना चाहिए। यहाँ 'आशिष्' शब्द का प्राकृत रूप 'आसिया' अथवा 'आसिआ' हुआ है, जैसे 'सरित्' शब्द का प्राकृतरूप 'सरिया' अथवा 'सरिआ' होता है। आचार्य हेमचन्द्र ने इसके लिए स्पष्ट नियम बनाया हुआ है जो 'स्त्रियाम् आत् अविद्युत' (८ १ १५) सूत्र से प्रकट होता है। ऐसा होते हुए भी कुछ विद्वान् इसका अर्थ यो करते हैं कि भिक्षु को अस्याद्वादयुक्त वचन का प्रयोग नहीं करना चाहिए। यह ठीक नहीं। प्रस्तुत गाथा में स्याद्वाद अथवा अस्याद्वाद का कोई उल्लेख नहीं है और न वहा इस प्रकार का कोई प्रसग ही है। वृत्तिकार ने भी इसका अर्थ आशीर्वाद के निषेध के रूप में ही किया है।

आदान अथवा आदानीय

पन्द्रहवें अध्ययन के तीन नाम हैं आदान अथवा आदानीय, संकलिका अथवा शृखला और जमतीत अथवा यमकीय। निर्युक्तिकार का कथन है कि इस अध्ययन की गाथाओ मे जो पद पहली गाथा के अत मे आता है वही दूसरी गाथा के आदि में आता है अर्थात् जिस पद का आदान प्रथम पद्य के अन्त में है उसी का आदान द्वितीय पद्य के प्रारभ में है अतएव इसका नाम आदान अथवा आदानीय है। वृत्तिकार कहते हैं कि कुछ लोग इस अध्ययन को सकलिका नाम से पुकारते हैं। इसके प्रथम पद्य का अन्तिम वचन एव द्वितीय पद्य का आदि वचन शृखला की भाति जुडे हुए हैं अर्थात् उन दोनो की कडिया एक समान हैं अतएव इसका नाम सकलिका अथवा शृखला है। अध्ययन का आदि शब्द जमतीत—ज अतीत है अत इसका नाम जमतीत है। अथवा इस अध्ययन मे यमक अलकार का प्रयोग हुआ है अतः इसका नाम यमकीय है जिसका आर्षप्राकृतरूप जमईय है। निर्युक्तिकार ने इसका नाम आदान अथवा आदानीय ही बताया है। दूसरे दो नाम वृत्तिकार ने बताये हैं।

इस अध्ययन मे विवेक की दुर्लभता, सयम के सुपरिणाम, भगवान् महावीर अथवा वीतराग पुरुष का स्वभाव, सयमी मनुष्य की जीवनपद्धति आदि का निरूपण है। इसमे विशेष नाम अर्थात् व्यक्तिवाचक नाम के रूप में तीन बार 'महावीर' शब्द का तथा एक बार 'काश्यप' शब्द का उल्लेख है। यह 'काश्यप' शब्द भी भगवान् महावीर का ही सूचक है। इसमे २५ गाथाए हैं। अन्य अध्ययनो को भाति इसमे भी चूर्णिसमत एव वृत्तिसमत वाचना मे भेद है।

गाथा

सोलहवें अध्ययन का नाम गाहा—गाथा है। यह प्रथम श्रुतस्कन्ध का अन्तिम अध्ययन है। गाथा का अर्थ बताते हुए निर्युक्तिकार कहते हैं कि जिसका मधुरता से गान किया जा सके वह गाथा है। अथवा जिसमे बहुत अर्थसमुदाय एकत्र कर समाविष्ट किया गया हो वह गाथा है। अथवा सामुद्र छद द्वारा जिसकी योजना की गई हो वह गाथा है। अथवा पूर्वोक्त पन्द्रह अध्ययनों को पिण्डरूप कर प्रस्तुन अध्ययन मे समाविष्ट किया गया है इसलिए भी इसका नाम गाथा है।

निर्युक्तिकार ने ऊपर सामुद्र छद का जो नाम दिया है उसका लक्षण छदोनुशासन के छठे अध्याय में इस प्रकार बताया गया है ओजे सप्त समे नव

सामुद्रकम् । यह लक्षण प्रस्तुत अध्ययन पर लागू नहीं होता अत इस विषय में विशेष शोध की आवश्यकता है। वृत्तिकार ने इस छद के विषय में इतना ही लिखा है कि 'तच्चेद छन्द —अनिबद्ध च यत् लोके गाथा इति तत्पण्डितै प्रोक्तम्' अर्थात् जो अनिबद्ध है—छदोबद्ध नहीं है उसे ससार में पडितों ने 'गाथा' नाम दिया है। इससे मालूम होता है कि यह अध्ययन किसी प्रकार के पद्य मे नहीं है फिर भी गाया जा सकता है अतएव इसका नाम गाथा रखा गया है।

ब्राह्मण, श्रमण, भिक्षु व निर्ग्रन्थ

इस अध्ययन मे बताया गया है कि जो समस्त पापकर्म से विरत है, राग-द्वेष-कलह-अभ्याख्यान-पैशुन्य-परनिन्दा अरति-रति-मायामृषावाद-मिथ्यादर्शनशल्य से रहित है, समितियुक्त है, ज्ञानादिगुण सहित है, सर्वदा प्रयत्नशील है, क्रोध नहीं करता, अहकार नही रखता वह ब्राह्मण है। इसी प्रकार जो अनासक्त है, निदान रहित है, कषायमुक्त है, हिंसा-असत्य बहिद्धा (अब्रह्मचर्य-परिग्रह) रहित है वह श्रमण है। जो अभिमानरहित है, विनयसम्पन्न है, परिषह एव उपसर्गों पर विजय प्राप्त करने वाला है, आध्यात्मिक वृत्तियुक्त है, परदत्तभोजी है वह भिक्षु है। जो ग्रथ-रहित है—परिग्रहादिरहित एकाकी है, एकविद्‌ है—केवल आत्मा का ही जानकार है, पूजा सत्कार का अर्थी नही है वह निर्ग्रन्थ है। इस प्रकार प्रस्तुत अध्ययन में ब्राह्मण, श्रमण, भिक्षु एव निर्ग्रन्थ का स्वरूप बताया गया है। यही समस्त अध्ययनो का सार है।

सात महाअध्ययन

द्वितीय श्रुतस्कन्ध के सात अध्ययन हैं। निर्युक्तिकार ने इन सात अध्ययनो को महाअध्ययन कहा है। वृत्तिकार ने इन्हें महाअध्ययन कहने का कारण बताते हुए लिखा है कि प्रथम श्रुतस्कन्ध में जो बातें सक्षेप में कही गई है वे ही इन अध्ययनो मे विस्तार से बताई गई हैं अतएव इन्हें महाअध्ययन कहा गया है। इन सात अध्ययनो के नाम ये हैं १ पुण्डरीक, २ क्रियास्थान, ३. आहारपरिज्ञा, ४ प्रत्याख्यानक्रिया, ५ आचारश्रुत अथवा अनगारश्रुत, ६. आर्द्रकीय, ७ नालदीय। इनमें से आचारश्रुत व आर्द्रकीय ये दो अध्ययन पद्यरूप है, शेष पाँच गद्यरूप। केवल आहारपरिज्ञा में चारेक पद्य आते हैं, बाकी का सारा अध्ययन गद्यरूप है।

पुण्डरीक

जिस प्रकार प्रथम श्रुतस्कन्ध के प्रथम अध्ययन मे भूतवादी, तज्जीवतच्छरीर-वादी, आत्मषष्ठवादी, ईश्वरवादी, नियतिवादी आदि वादियों के मतों का उल्लेख

है उसी प्रकार द्वितीय श्रुतस्कन्ध के पुण्डरीक नामक प्रथम अध्ययन मे इन वादियों में से कुछ वादियो के मतो की चर्चा है। पुण्डरीक का अर्थ है सौ पंखुडियों वाला उत्तम श्वेत कमल। प्रस्तुत अध्ययन में पुण्डरीक के रूपक की कल्पना की गई है एव उस रूपक का भावार्थ समझाया गया है। रूपक इस प्रकार है एक विशाल पुष्करिणी है। उसमे चारो ओर सुन्दर-सुन्दर कमल खिले हुए हैं। उसके ठीक मध्य में एक पुण्डरीक खिला हुआ है। वहाँ पूर्व दिशा से एक पुरुष आया और उसने इस पुण्डरीक को देखा। देखकर वह कहने लगा—मैं क्षेत्रज्ञ (अथवा खेदज्ञ) हूँ, कुशल हू, पडित हूँ, व्यक्त हूँ, मेधावी हूँ, अबाल हूँ, मार्गस्थ हूँ, मार्गविद् हूँ एव मार्ग पर पहुँचने के गतिपराक्रम का भी ज्ञाता हूँ। मैं इस उत्तम कमल को तोड सकूगा। यों कहते कहते वह पुष्करिणी में उतरा एव ज्यो-ज्यों आगे बढने लगा त्यो-त्यो गहरा पानी एव भारी कीचड आने लगा। परिणामत वह किनारे से दूर कीचड मे फँस गया और न इस ओर वापिस आ सका, न उस ओर जा सका। इसी प्रकार पश्चिम, उत्तर व दक्षिण से आये हुए तीन और पुरुष उस कीचड मे फँसे। इतने में एक सयमी, नि स्पृह एव कुशल भिक्षु वहा आ पहुँचा। उसने उन चारो पुरुषों को पुष्करिणी में फसा हुआ देखा और सोचा कि ये लोग अकुशल, अपडित एवं अमेधावी मालूम होते हैं। इस प्रकार कही कमल प्राप्त किया जा सकता है? मैं इस कमल को प्राप्त कर सकूगा। यो सोच कर वह पानी में न उतरते हुए किनारे पर खडा रह कर ही कहने लगा—हे उत्तम कमल! मेरे पास उड आ, मेरे पास उड आ। यो कहते ही वह कमल वहा से उठकर भिक्षु के पास आ गया।

इस रूपक का परमार्थ – सार बताते हुए सूत्रकार कहते हैं कि यह ससार पुष्करिणी के समान है। इसमे कर्मरूप पानी एव कामभोगरूप कीचड भरा हुआ है। अनेक जनपद चारो ओर फैले हुए कमल के समान हैं। मध्य में रहा हुआ पुण्डरीक राजा के समान है। पुष्करिणी में प्रविष्ट होने वाले चारो पुरुष अन्यतीर्थिकों के समान हैं। कुशल भिक्षु धर्मरूप है, किनारा धर्मतीर्थरूप है, भिक्षु द्वारा उच्चारित शब्द धर्मकथारूप हैं एव पुण्डरीक कमल का उठना निर्वाण के समान है।

उपर्युक्त चार पुरुषो में से प्रथम पुरुष तज्जीवतच्छरीरवादी है। उसके मत से शरीर और जीव एक हैं—अभिन्न हैं। यह अनात्मवाद है। इसका दूसरा नाम नास्तिकवाद भी है। प्रस्तुत अध्ययन में इस वाद का वर्णन है।

यह वर्णन दीघनिकाय के सामञ्ञफलसुत्त में आने वाले भगवान् बुद्ध के समकालीन अजितकेशकबल के उच्छेदवाद के वर्णन से हूबहू मिलता है। इतना ही नहीं, इनके शब्दो मे भी समानता दृष्टिगोचर होती है।

दूसरा पुरुष पचभूतवादी है। उसके मत से पाच भूत ही यथार्थ हैं जिनसे जीव की उत्पत्ति होती है। तज्जीवतच्छरीरवाद एव पचभूतवाद मे अन्तर यह है कि प्रथम के मत से शरीर और जीव एक ही हैं अर्थात् दोनों में कोई भेद ही नहीं है जब कि दूसरे के मत से जीव की उत्पत्ति पांच महाभूतो के सम्मिश्रण से शरीर के बनने पर होती है एव शरीर के नष्ट होने के साथ जीव का भी नाश हो जाता है। पचभूतवादी भी आचार-विचार में तज्जीवतच्छरीरवादी के ही समान है। पंचभूतवादी की चर्चा मे आत्मषष्ठवादी के मत का भी उल्लेख किया गया है। जो पाच भूतों के अतिरिक्त छठे आत्मतत्त्व की भी सत्ता स्वीकार करता है वह आत्मषष्ठवादी है। वृत्तिकार ने इस वादी को सांख्य का नाम दिया है।

तृतीय पुरुष ईश्वरकारणवादी है। उसके मत से यह लोक ईश्वरकृत है अर्थात् ससार का कारण ईश्वर है।

चतुर्थ पुरुष नियतिवादी है। नियतिवाद का स्वरूप प्रथम श्रुतस्कन्ध के प्रथम अध्ययन के द्वितीय उद्देशक की प्रथम तीन गाथाओ मे बताया गया है। उसके अनुसार जगत् की सारी क्रियाएं नियत हैं—अपरिवर्तनीय हैं। जो क्रिया जिस रूप में नियत है वह उसी रूप में पूरी होगी। उसमें कोई किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं कर सकता।

अन्त में आने वाला भिक्षु इन चारो पुरुषो से भिन्न प्रकार का है। वह ससार को असार समझ कर भिक्षु बना है एव धर्म का वास्तविक स्वरूप समझ कर त्यागधर्म का उपदेश देता है जिससे निर्वाण की प्राप्ति होती है। यह धर्म जिनप्रणीत है, वीतरागकथित है। जो अनासक्त हैं, नि.स्पृह हैं, अहिंसादि को जोवन में मूर्तरूप देने वाले हैं वे निर्वाण प्राप्त कर सकते हैं। इससे विपरीत आचरण वाले मोक्ष प्राप्त नहीं कर सकते। यही प्रथम अध्ययन का सार है। इस अध्ययन के कुछ वाक्य एव शब्द आचाराग के वाक्यो एव शब्दो से मिलते-जुलते हैं।

क्रियास्थान

क्रियास्थान नामक द्वितीय अध्ययन में विविध क्रियास्थानो का परिचय दिया गया है। क्रियास्थान का अर्थ है प्रवृत्ति का निमित्त। विविध प्रकार की

प्रवृत्तियो के विविध कारण होते हैं। इन्ही कारणो को प्रवृत्तिनिमित्त अथवा क्रियास्थान कहते हैं। इन क्रियास्थानो के विषय मे प्रस्तुत अध्ययन में पर्याप्त प्रकाश डाला गया है। क्रियास्थान प्रधानतया दो प्रकार के हैं. धर्मक्रिया-स्थान और अधर्मक्रियास्थान। अधर्मक्रियास्थान के बारह प्रकार हैं —

१ अर्थदण्ड, २ अनर्थदण्ड, ३ हिंसादण्ड, ४ अकस्मात्दण्ड, ५ दृष्टि-विपर्यासदण्ड, ६ मृषाप्रत्ययदण्ड, ७ अदत्तादानप्रत्ययदण्ड, ८ अध्यात्मप्रत्यय-दण्ड, ९ मानप्रत्ययदण्ड, १० मित्रदोषप्रत्ययदण्ड, ११ मायाप्रत्ययदण्ड, १२ लोभप्रत्ययदण्ड। धर्मक्रियास्थान मे धर्महेतुक प्रवृत्ति का समावेश होता है। इस प्रकार १२ अधर्मक्रियास्थान एव १ धर्मक्रियास्थान इन १३ क्रियास्थानो का निरूपण प्रस्तुत अध्ययन का विषय है।

१. हिंसा आदि दूषणयुक्त जो प्रवृत्ति किसी प्रयोजन के लिए की जाती है वह अर्थदण्ड है। इसमें अपनी जाति, कुटुम्ब, मित्र आदि के लिए की जाने वाली त्रस अथवा स्थावर जीवों की हिंसा का समावेश होता है।

२ बिना किसी प्रयोजन के केवल आदत के कारण अथवा मनोरजन के हेतु की जानेवाली हिंसादि दूषणयुक्त प्रवृत्ति अनर्थदण्ड है।

३ अमुक प्राणियो ने मुझे अथवा मेरे किसी सबधी को मारा था, मारा है अथवा मारने वाला है—ऐसा समझ कर जो मनुष्य उन्हें मारने की प्रवृत्ति करता है वह हिंसादण्ड का भागी होता है।

४ मृगादि को मारने की भावना से बाण आदि छोडने पर अकस्मात् किसी अन्य पक्षी आदि का वध होने का नाम अकस्मात्दण्ड है।

५ दृष्टि में विपरीतता होने पर मित्र आदि को अमित्र आदि की बुद्धि से मार देने का नाम दृष्टिविपर्यासदण्ड है।

६ अपने लिए, अपने कुटुम्ब के लिए अथवा अन्य किसी के लिए झूठ बोलना, झूठ बुलवाना अथवा झूठ बोलने वाले का समर्थन करना मृषा-प्रत्ययदण्ड है।

७ इसी प्रकार चोरी करना, करवाना अथवा करने वाले का समर्थन करना अदत्तादानप्रत्ययदण्ड है।

का वर्णन दीघनिकाय के सामञ्ञफलसुत्त में आने वाले भगवान् बुद्ध के समकालीन अजितकेशकंबल के उच्छेदवाद के रूप में मिलता है। इतना ही नहीं, दोनों शब्दों में भी समानता दृष्टिगोचर होती है।

दूसरा पुरुष पंचभूतवादी है। उसके मत से पाँच भूत ही यथार्थ हैं जिनसे जीव की उत्पत्ति होती है। तज्जीवतच्छरीरवाद एवं पंचभूतवाद में अन्तर यह है कि प्रथम के मत से शरीर और जीव एक ही हैं अर्थात् दोनों में कोई भेद ही नहीं है जब कि दूसरे के मत से जीव की उत्पत्ति पांच महाभूतों के सम्मिश्रण से शरीर में बनी रहती है तथा शरीर के नष्ट होने के साथ जीव का भी नाश हो जाता है। पंचभूतवादी भी आचार विचार में तज्जीवतच्छरीरवादी के ही समान है। पंचभूतवादी की चर्चा में आत्मषष्ठवादी के मत का भी उल्लेख किया गया है। जो पांच भूतों के अतिरिक्त छठे आत्मतत्त्व की भी सत्ता स्वीकार करता है वह आत्मषष्ठवादी है। वृत्तिकार ने इस वादी को सांख्य का नाम दिया है।

तृतीय पुरुष ईश्वरकारणवादी है। उसके मत से यह लोक ईश्वरकृत है अर्थात् संसार का कारण ईश्वर है।

चतुर्थ पुरुष नियतिवादी है। नियतिवाद का स्वरूप प्रथम श्रुतस्कन्ध के प्रथम अध्ययन के द्वितीय उद्देशक की प्रथम तीन गाथाओं में बताया गया है। उसके अनुसार जगत् की सारी क्रियाएं नियत हैं—अपरिवर्तनीय हैं। जो क्रिया जिस रूप में नियत है वह उसी रूप से पूरी होगी। उसमें कोई किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं कर सकता।

अन्त में आने वाला भिक्षु इन चारों पुरुषों से भिन्न प्रकार का है। वह संसार को असार समझ कर भिक्षु बना है एवं धर्म का वास्तविक स्वरूप समझ कर त्यागधर्म का उपदेश देता है जिससे निर्वाण की प्राप्ति होती है। यह धर्म जिनप्रणीत है, वीतरागकथित है। जो अनासक्त हैं, निःस्पृह हैं, अहिंसादि को जीवन में मूर्तरूप देने वाले हैं वे निर्वाण प्राप्त कर सकते हैं। इससे विपरीत आचरण वाले मोक्ष प्राप्त नहीं कर सकते। यही प्रथम अध्ययन का सार है। इस अध्ययन के कुछ वाक्य एवं शब्द आचारांग के वाक्यों एवं शब्दों से मिलते-जुलते हैं।

क्रियास्थान

क्रियास्थान नामक द्वितीय अध्ययन में विविध क्रियास्थानों का परिचय दिया गया है। क्रियास्थान का अर्थ है प्रवृत्ति का निमित्त। विविध प्रकार की

प्रवृत्तियो के विविध कारण होते हैं। इन्ही कारणो को प्रवृत्तिनिमित्त अथवा क्रियास्थान कहते हैं। इन क्रियास्थानो के विषय में प्रस्तुत अध्ययन में पर्याप्त प्रकाश डाला गया है। क्रियास्थान प्रधानतया दो प्रकार के हैं धर्मक्रिया-स्थान और अधर्मक्रियास्थान। अधर्मक्रियास्थान के बारह प्रकार हैं —

१ अर्थदण्ड, २ अनर्थदण्ड, ३ हिंसादण्ड, ४ अकस्मात्‌दण्ड, ५ दृष्टि-विपर्यासदण्ड, ६ मृषाप्रत्ययदण्ड, ७ अदत्तादानप्रत्ययदण्ड, ८ अध्यात्मप्रत्यय-दण्ड, ९ मानप्रत्ययदण्ड, १ मित्रदोषप्रत्ययदण्ड, ११ मायाप्रत्ययदण्ड, १२ लोभप्रत्ययदण्ड। धर्मक्रियास्थान मे धर्महेतुक प्रवृत्ति का समावेश होता है। इस प्रकार १२ अधर्मक्रियास्थान एव १ धर्मक्रियास्थान इन १३ क्रियास्थानो का निरूपण प्रस्तुत अध्ययन का विषय है।

१. हिंसा आदि दूषणयुक्त जो प्रवृत्ति किसी प्रयोजन के लिए की जाती है वह अर्थदण्ड है। इसमें अपनी जाति, कुटुम्ब, मित्र आदि के लिए की जाने वाली त्रस अथवा स्थावर जीवो की हिंसा का समावेश होता है।

२ बिना किसी प्रयोजन के केवल आदत के कारण अथवा मनोरजन के हेतु की जानेवाली हिंसादि दूषणयुक्त प्रवृत्ति अनर्थदण्ड है।

३ अमुक प्राणियो ने मुझे अथवा मेरे किसी सबधी को मारा था, मारा है अथवा मारने वाला है—ऐसा समझ कर जो मनुष्य उन्हे मारने की प्रवृत्ति करता है वह हिंसादण्ड का भागी होता है।

४ मृगादि को मारने की भावना से बाण आदि छोडने पर अकस्मात् किसी अन्य पक्षी आदि का वध होने का नाम अकस्मात्‌दण्ड है।

५ दृष्टि में विपरीतता होने पर मित्र आदि को अमित्र आदि की बुद्धि से मार देने का नाम दृष्टिविपर्यासदण्ड है।

६ अपने लिए, अपने कुटुम्ब के लिए अथवा अन्य किसी के लिए झूठ बोलना, झूठ बुलवाना अथवा झूठ बोलने वाले का समर्थन करना मृषा-प्रत्ययदण्ड है।

७ इसी प्रकार चोरी करना, करवाना अथवा करने वाले का समर्थन करना अदत्तादानप्रत्ययदण्ड है।

८ हमेशा चिन्ता में डूबे रहना, उदास रहना, भयभीत रहना, संकल्प-विकल्प में मग्न रहना अध्यात्मप्रत्ययदण्ड है। इस प्रकार के मनुष्य के मन में क्रोधादि कषायों की प्रवृत्ति चलती ही रहती है।

९ जातिमद, कुलमद, बलमद, रूपमद, ज्ञानमद, लाभमद, ऐश्वर्यमद, प्रज्ञामद आदि के कारण दूसरों को हीन समझना मानप्रत्ययदण्ड है।

१० अपने साथ रहने वालों में से किसी का जरा सा भी अपराध होने पर उसे भारी दण्ड देना मित्रदोषप्रत्ययदण्ड है। इस प्रकार का दण्ड देने वाला महापाप का भागी होता है।

११ कपटपूर्वक अनर्थकारी प्रवृत्ति करने वाले मायाप्रत्ययदण्ड के भागी होते हैं।

१२ लोभ के कारण हिंसक प्रवृत्ति में फँसने वाले लोभप्रत्ययदण्ड का उपार्जन करते हैं। ऐसे लोग इस लोक व परलोक दोनों में दुःखी होते हैं।

१३. तेरहवाँ क्रियास्थान धर्महेतुकप्रवृत्ति का है। जो इस प्रकार की प्रवृत्ति धीरे धीरे बढ़ाते हैं वे यतनापूर्वक समस्त प्रवृत्ति करने वाले, जितेन्द्रिय, अपरिग्रही, पंचसमिति एवं त्रिगुप्तियुक्त होते हैं एवं अन्ततोगत्वा निर्वाण प्राप्त करते हैं। इस प्रकार निर्वाण के इच्छुकों के लिए यह तेरहवाँ क्रियास्थान आचरणीय है। शुरू के बारह क्रियास्थान हिंसापूर्ण हैं। इनसे साधक को दूर रहना चाहिए।

बौद्ध दृष्टि से हिंसा

बौद्ध परम्परा में हिंसक प्रवृत्ति की परिभाषा भिन्न प्रकार की है। वे ऐसा मानते हैं कि निम्नोक्त पाँच अवस्थाओं की उपस्थिति में ही हिंसा हुई कही जा सकती है, एवं इसी प्रकार की हिंसा कर्मबन्धन का कारण होती है :—

१ मारा जाने वाला प्राणी होना चाहिए।

२ मारने वाले को 'यह प्राणी है' ऐसा स्पष्ट भान होना चाहिए।

३ मारने वाला यह समझता हुआ होना चाहिए कि 'मैं इसे मार रहा हूँ'।

४ साथ ही शारीरिक क्रिया होनी चाहिए।

५ शारीरिक क्रिया के साथ प्राणी का वध भी होना चाहिए।

इन शर्तों को देखते हुए बौद्ध परम्परा में अकस्मात्‌दण्ड, अनर्थदण्ड वगैरह हिंसारूप नहीं गिने जा सकते। जैन परिभाषा के अनुसार राग-द्वेषजन्य प्रत्येक प्रकार की प्रवृत्ति हिंसारूप होती है जो वृत्ति अर्थात्‌ भावना को तीव्रता-मदता के अनुसार कर्मबंध का कारण बनती है।

प्रसगवशात्‌ सूत्रकार ने अष्टागनिमित्तो एव अगविद्या आदि विविध विद्याओ का भी उल्लेख किया है। दीर्घनिकाय के सामञ्ञफलसुत्त में भी अंगविद्या, उत्पातविद्या, स्वप्नविद्या आदि के लक्षणो का इसी प्रकार उल्लेख है।

आहारपरिज्ञा

आहारपरिज्ञा नामक तृतीय अध्ययन में समस्त स्थावर एवं त्रस प्राणियो के जन्म तथा आहार के सम्बन्ध में विस्तृत विवेचन है। इस अध्ययन का प्रारभ बीजकायों—अग्रबीज, मूलबीज, पर्वबीज एव स्कन्धबीज—के आहार की चर्चा से होता है।

पृथ्वी, जल, वायु, अग्नि और वनस्पति स्थावर हैं। पशु, पक्षी, कीट, पतग त्रस हैं। मनुष्य भी त्रस है। मनुष्य की उत्पत्ति कैसे होती है, इसका निरूपण भी प्रस्तुत अध्ययन मे है। मनुष्य के आहार के विषय में इस अध्ययन में यों बताया गया है' ओयणं कुम्मास तसथावरे य पाणे अर्थात्‌ मनुष्य का आहार ओदन, कुल्माष एव त्रस व स्थावर प्राणी हैं। इस सम्पूर्ण अध्ययन मे सूत्रकार ने देव अथवा नारक के आहार की कोई चर्चा नही की है। निर्युक्ति एव वृत्ति में एतद्विषयक चर्चा है। उनमें आहार के तीन प्रकार बताये गये हैं ओजआहार रोमआहार और प्रक्षेपआहार। जहाँ तक दृश्य शरीर उत्पन्न न हो वहाँ तक तैजस एव कार्मण शरीर द्वारा जो आहार ग्रहण किया जाता है वह ओजआहार है। अन्य आचार्यो के मत से जब तक इन्द्रियाँ, श्वासोच्छ्वास मन आदि का निर्माण न हुआ हो तब तक केवल शरीरपिण्ड द्वारा जो आहार ग्रहण किया जाता है वह ओजआहार कहलाता है। रोमकूप-द्वारा चमडी द्वारा गृहीत आहार का नाम रोमाहार है। कवल द्वारा होने वाला आहार प्रक्षेपाहार है। देवो व नारको का आहार रोमाहार अथवा लोमाहार कहलाता है। यह निरन्तर चालू रहता है। इस विषय में अन्य आचार्यों का मत यह है—जो स्थूल पदार्थ जिह्वा द्वारा इस शरीर में पहुँचाया जाता है वह प्रक्षेपाहार है। जो नाक, आँख, कान द्वारा ग्रहण किया जाता है एव धातुरूप से परिणत होता है वह ओजआहार है तथा जो केवल चमडी द्वारा ग्रहण किया जाता है वह रोमाहार—लोमाहार है।

बौद्ध परम्परा में आहार का एक प्रकार कवलीकार आहार माना गया है जो गंध, रस एवं स्पर्शरूप है। इसके अतिरिक्त स्पर्शाहार, मनस्संचेतना एवं विज्ञानरूप तीन प्रकार के आहार और माने गये हैं। कवलीकार आहार दो प्रकार का है : औदारिक स्थूल आहार और सूक्ष्म आहार। जन्मान्तर प्राप्त करते समय गति में रहे हुए जीवों का आहार सूक्ष्म होता है। सूक्ष्म प्राणियों का आहार भी सूक्ष्म ही होता है। कामादि तीन धातुओं में स्पर्श, मनस्संचेतना एवं विज्ञानरूप आहार है।[1]

आहारपरिज्ञा नामक प्रस्तुत अध्ययन में यह स्पष्ट बताया गया है कि जीवको हिंसा किए बिना आहार की प्राप्ति अशक्य है। समस्त प्राणियों की उत्पत्ति एवं आहार को दृष्टि में रखते हुए यह बात आसानी से फलित की जा सकती है। इस अध्ययन के अन्त में संयमपूर्वक आहार प्राप्त करने के प्रयास पर भार दिया गया है जिससे जीवहिंसा कम से कम हो।

प्रत्याख्यान

चतुर्थ अध्ययन का नाम *प्रत्याख्यानक्रिया* है। *प्रत्याख्यान* का अर्थ है अहिंसादि मूलगुणों एवं सामायिकादि उत्तरगुणों के आचरण में बाधक सिद्ध होने वाली प्रवृत्तियों का यथाशक्ति त्याग। प्रस्तुत अध्ययन में इस प्रकार की प्रत्याख्यानक्रिया के सम्बन्ध में निरूपण है। यह प्रत्याख्यानक्रिया निरवद्यानुष्ठानरूप होने के कारण आत्मशुद्धि के लिए साधक है। इससे विपरीत अप्रत्याख्यानक्रिया सावद्यानुष्ठानरूप होने के कारण आत्मशुद्धि के लिए बाधक है। प्रत्याख्यान न करने वाले को भगवान् ने असंयत, अविरत, पापक्रिय, असंवृत, बाल एवं सुप्त कहा है। ऐसा पुरुष विवेकहीन होने के कारण सतत कर्मबंध करता रहता है। यद्यपि इस अध्ययन का प्रारंभ भी पिछले अध्ययनों की ही भांति *'हे आयुष्मन्! मैंने सुना है कि भगवान् ने यों कहा है'* इससे होता है तथापि यह अध्ययन संवादरूप है। इसमें एक पूर्वपक्षी अथवा प्रेरक शिष्य है और दूसरा उत्तरपक्षी अथवा समाधानकर्ता आचार्य है। इस अध्ययन का सार यह है कि जो आत्मा षट्काय के जीवों के वध के त्याग की वृत्तिवाली नहीं है तथा जिसने उन जीवों को किसी भी समय मार देने की छूट ले रखी है वह आत्मा इन छहों प्रकार के जीवों के साथ अनिवार्यतया मित्रवत्

---

१ देखिये—*अभिधर्मकोश, तृतीय कोशस्थान,* श्लो० ३८-४४

व्यवहार करने की वृत्ति से बंधा हुआ नहीं है। वह जब चाहे, जिस किसी का वध कर सकता है। उसके लिए पापकर्म के बंधन की निरंतर संभावना रहती है और किसी सीमा तक वह नित्य पापकर्म बांधता भी रहता है क्योंकि प्रत्याख्यान के अभाव मे उसकी भावना सदा सावद्यानुष्ठानरूप रहती है। इस बात को स्पष्ट करने के लिए सूत्रकार ने एक सुन्दर उदाहरण दिया है। एक व्यक्ति वधक है—वध करने वाला है। उसने यह सोचा कि अमुक गृहस्थ, गृहस्थपुत्र, राजा अथवा राजपुरुष की हत्या करनी है। अभी थोड़ी देर सो जाऊं और फिर उसके घर मे घुस कर मौका पाते ही उसका काम तमाम कर दूगा। ऐसा सोचने वाला सोया हुआ हो अथवा जगता हुआ, चलता हुआ हो अथवा बैठा हुआ, निरन्तर उसके मन में हत्या की भावना बनी ही रहती है। वह किसी भी समय अपनी हत्या की भावना को क्रियारूप मे परिणत कर सकता है। अपनी इस दुष्ट मनोवृत्ति के कारण वह प्रतिक्षण कर्मबन्ध करता रहता है। इसी प्रकार जो जीव सर्वथा सयमहीन हैं, प्रत्याख्यान रहित हैं वे समस्त षड्जीवनिकाय के प्रति हिंसक भावना रखने के कारण निरन्तर कर्मबंध करते रहते हैं। अतएव सयमी के लिए सावद्ययोग का प्रत्याख्यान आवश्यक है। जितने अश में सावद्यवृत्ति का त्याग किया जाता है उतने ही अश मे पापकर्म का बन्धन रुकता है। यही प्रत्याख्यान की उपयोगिता है। असयत एव अविरत के लिए अमर्यादित मनोवृत्ति के कारण पाप के समस्त द्वार खुले रहते हैं अत उसके लिए सर्वप्रकार के पापबंधन की सभावना रहती है। इस सभावना को अल्प अथवा मर्यादित करने के लिए प्रत्याख्यानरूप क्रिया की आवश्यकता है।

प्रस्तुत अध्ययन की वृत्ति में वृत्तिकार ने नागार्जुनीय वाचना का पाठान्तर दिया है। यह पाठान्तर माथुरी वाचना के मूल पाठ की अपेक्षा अधिक विशद एव सुबोध है।

आचारश्रुत

पांचवें अध्ययन के दो नाम हैं आचारश्रुत व अनगारश्रुत। निर्युक्तिकार ने इन दोनो नामो का उल्लेख किया है। यह सम्पूर्ण अध्ययन पद्यमय है। इसमे ३३ गाथाएं हैं। निर्युक्तिकार के कथनानुसार इस अध्ययन का सार 'अनाचारों का त्याग करना' है। जब तक साधक को आचार का पूरा ज्ञान नहीं होता तब तक वह उसका सम्यक्तया पालन नहीं कर सकता। अबहुश्रुत साधक को आचार-अनाचार के भेद का पता कैसे लग सकता है? इस प्रकार के

मुमुक्षु द्वारा आचार की विराधना होने की बहुत सभावना रहती है। अत आचार की सम्यगाराधना के लिए साधक को बहुश्रुत होना आवश्यक है।

प्रस्तुत अध्ययन की प्रथम ग्यारह गाथाओ मे अमुक प्रकार के एकान्तवाद को अनाचरणीय बताते हुए उसका निषेध किया गया है। आगे लोक नहीं है, अलोक नहीं है, जीव नही हैं, अजीव नहीं हैं, धर्म नहीं है, अधर्म नहीं है, बध नहीं है, मोक्ष नही है, पुण्य नही है, पाप नहीं है, आस्रव नही है, सवर नही है, वेदना नहीं है, निर्जरा नही है, क्रिया नहीं है, अक्रिया नहीं हैं, क्रोध-मान-माया-लोभ-राग-द्वेष-ससार-देव-देवी-सिद्धि-असिद्धि नहीं है, साधु-असाधु-कल्याण-अकल्याण नहीं है—इत्यादि मान्यताओ को अनाचरणीय बताते हुए लोकादि के अस्तित्व पर श्रद्धा रखने एव तदनुरूप आचरण करने के लिए कहा गया है। अन्तिम कुछ गाथाओ में अनगार को अमुक प्रकार की भाषा न बोलने का उपदेश दिया गया है।

आर्द्रकुमार

आर्द्रकीय नामक छठा अध्ययन भी पूरा पद्यमय है। इसमें कुल ५५ गाथाएँ हैं। अध्ययन के प्रारम्भ मे ही 'पुराकड अद्द ! इम सुणेह' अर्थात् 'हे आर्द्र ! तू इस पूर्वकृत को सुन' इस प्रकार आर्द्र को सबोधित किया गया है। इससे यह प्रकट होता है कि इस अध्ययन में चर्चित वाद-विवाद का सम्बन्ध 'आर्द्र' के साथ है। निर्युक्तिकार ने इस आर्द्र को आर्द्रनामक नगर का राजकुमार बताया है। यह राजा श्रेणिक के पुत्र अभयकुमार का मित्र था। अनुश्रुति यह है कि आर्द्रपुर अनार्यदेश मे था। कुछ लोगो ने तो 'अद्द-आर्द्र' शब्द की तुलना 'ऐडन' के साथ भी की है। आर्द्रपुर के राजा और मगधराज श्रेणिक के बीच स्नेहसम्बन्ध था। इसीलिए अभयकुमार से भी आर्द्रकुमार का परिचय हुआ। निर्युक्तिकार ने लिखा है कि अभयकुमार ने अपने मित्र आर्द्रकुमार के लिए जिन भगवान् की प्रतिमा भेट भेजी थी। इससे उसे बोध [illegible] अभयकुमार से मिलने के लिए उत्सुक हुआ। पूर्व जन्म का ज्ञा[illegible] आर्द्रकुमार का मन कामभोगों से विरक्त हो गया और उसने ५५ स्वयमेव प्रव्रज्या ग्रहण कर ली। सयोगवशात् उसे एक बार गृहस्थधर्म में प्रविष्ट होना पडा। पुन साधुवेश स्वीकार कर महावीर उपदेश दे रहे थे वहा जाने के लिए निकला। मार्ग में के अनुयायी भिक्षु, बौद्धभिक्षु, ब्रह्मव्रती ([illegible] हस्तितापस

आर्द्रकुमार व इन भिक्षुओ के बीच जो वाद-विवाद हुआ वही प्रस्तुत अध्ययन मे वर्णित है।

इस अध्ययन की प्रारभिक पचीस गाथाओं मे आर्द्रकुमार का गोशालक के भिक्षुओ के साथ वाद-विवाद है। इनमें इन भिक्षुओं ने भगवान् महावीर की बुराई की है और बताया है कि यह महावीर पहले तो त्यागी था, एकान्त में रहता था, प्राय मौन रखता था किन्तु अब आराम में रहता है, सभा में बैठता है, मौन का सेवन नही करता। इस प्रकार के और भी आक्षेप इन भिक्षुओ ने भगवान् महावीर पर लगाये हैं। आर्द्रमुनि ने इन तमाम आक्षेपों का उत्तर दिया है। इस वाद-विवाद के मूल में कहीं भी गोशालक का नाम नहीं है। निर्युक्तिकार एव वृत्तिकार ने इसका सम्बन्ध गोशालक के साथ जोडा है। इस वाद विवाद को पढने से यह मालूम पडता है कि पूर्वपक्षी महावीर का पूरी तरह से परिचित व्यक्ति होना चाहिए। यह व्यक्ति गोशालक के सिवाय दूसरा कोई नहीं हो सकता। इसीलिए इस वाद विवाद का सम्बन्ध गोशालक के अनुयायी भिक्षुओ के साथ जोडा गया है जो उचित हो है। आगे बौद्धभिक्षुओ के साथ वाद-विवाद है। इसमें तो 'बुद्ध' शब्द हो आया है। साथ ही बौद्धपरिभाषा के पदो का प्रयोग भी हुआ है। यह वाद-विवाद बयालीसवीं गाथा तक है। इसके बाद ब्रह्मव्रती (त्रिदण्डो) का वाद विवाद आता है। यह इकावनवी गाथा तक है। अन्तिम चार गाथाओ मे हस्तितापस का वाद-विवाद है। ब्रह्मव्रती को निर्युक्तिकार ने त्रिदण्डी कहा है जब कि वृत्तिकार ने एकदण्डी भी कहा है। त्रिदण्डी हो अथवा एकदण्डी सभी ब्रह्मव्रती वेदवादी हैं। इन्होने आर्हतमत को वेदबाह्य होने के कारण अग्राह्य माना है। हस्तितापस सम्प्रदाय का समावेश प्रथम श्रुतस्कन्धान्तर्गत कुशील नामक सातवें अध्ययन मे वर्णित असयमियो में होता है। इस सम्प्रदाय के मतानुसार प्रतिदिन खाने के लिए अनेक जीवों की हिंसा करने के बजाय एक बडे हाथी को मारकर उसे पूरे वर्ष तक खाना अच्छा है। ये तापस इसी प्रकार अपना जीवन-निर्वाह करते हैं अत इनका 'हस्तितापस' नाम प्रसिद्ध हुआ।

नालंदा

सातवें अध्ययन का नाम नालंदीय है। यह सूत्रकृतांग का अन्तिम अध्ययन है। राजगृह के बाहर उत्तर-पूर्व अर्थात् ईशानकोण मे स्थित नालंदा की प्रसिद्धि जितनी जैन आगमो में है उतनी ही बौद्ध पिटकों मे भी है। निर्युक्तिकार ने

'नालदा' पद का अर्थ बताते हुए कहा है कि न+अल+दा इस प्रकार तीन शब्दों से बनने वाला नालंदा नाम स्त्रीलिंग का है। दा अर्थात् देना—दान देना, न अर्थात् नहीं और अल अर्थात् बस। इन तीनो अर्थों का सयोग करने पर जो अर्थ निकलता है वह यह है कि जहाँ पर दान देने की बात पर किसी की ओर से बस नहीं है—ना नही हे अर्थात जिस जगह दान देने के लिए कोई मना नही करता उस जगह का नाम नालदा है। लेने वाला चाहे श्रमण हो अथवा ब्राह्मण, आजीविक हो अथवा परिव्राजक सबके लिए यहां दान सुलभ है। किसी के लिए किसी की मनाही नही है। कहा जाता है कि राजा श्रेणिक तथा अन्य बडे-बडे सामत, सेठ आदि नरेन्द्र यहा रहते थे अत' इसका नाम 'नारेन्द्र' प्रसिद्ध हुआ। मागधी उच्चारण की प्रक्रिया के अनुसार 'नारेन्द्र' का 'नालेन्द्र' और बाद में ह्रस्व होने पर नालिंद तथा 'इ' का 'अ' होने पर नालद होना स्वाभाविक है। नालंदा की यह व्युत्पत्ति विशेष उपयुक्त मालूम होती है।

उदय पेढालपुत्त

नालदा मे लेव नामक एक उदार एव विश्वासपात्र गृहस्थ रहता था। वह जैन-परम्परा एव जैनधर्म का असाधारण श्रद्धालु था। उसके परिचय के लिए सूत्र में अनेक विशेषण प्रयुक्त हुए हैं। वह जैन श्रमणोपासक होने के कारण जैन-तत्वज्ञान से पूर्ण परिचित था एव तद्विषयक सारी बातें निश्चिततया समझता था। उसका द्वार दान के लिए हमेशा खुला रहता था। उसे राजा के अन्त पुर में भी जाने आने की छूट थी अर्थात् वह इतना विश्वासपात्र था कि राजभडार मे तो क्या रानियो के निवास-स्थान मे भी उसका प्रवेश अनुमत था।

नालदा के ईशानकोण मे लेवद्वारा निर्मापित सेसदविया—शेषद्रव्या नामक एक विशाल उदकशाला—प्याऊ थी। शेषद्रव्या का अर्थ बताते हुए वृत्तिकार ने लिखा है कि लेवने जब अपने रहने के लिए मकान बधवाया तब उसमें से बची हुई सामग्री (शेष द्रव्य) द्वारा इस उदकशाला का निर्माण करवाया। अतएव इसका नाम शेषद्रव्या रखा। इस उदकशाला के ईशानकोण में हस्थिजाम—हस्तियाम नाम का एक वनखण्ड था। यह वनखण्ड बहुत ठडा था। इस वनखण्ड में एक समय गौतम इन्द्रभूति ठहरे हुए थे। उस समय मेयज्जगोत्रीय पेढालपुत्त उदयनामक एक पार्श्वापत्यीय निर्ग्रन्थ गौतम के पास आया और बोला—हे आयुष्मान् गौतम! मैं कुछ पूछना चाहता हूँ। आप उसका यथाश्रुत एव यथादर्शित उत्तर दीजिए। गौतम ने कहा—हे आयुष्मन्! प्रश्न सुनने व समझने के बाद तद्विषयक चर्चा करूँगा।

उदय निर्ग्रन्थ ने पूछा—हे आयुष्मान् गौतम ! आपके प्रवचन का उपदेश देने वाले कुमारपुत्तिय—कुमारपुत्र नामक श्रमण निर्ग्रन्थ श्रावक को जब प्रत्याख्यान—त्याग करवाते हैं तब यो कहते हैं कि अभियोग[1] को छोडकर गृहपतिचौरविमोक्षण-न्याय[2] के अनुसार तुम्हारे त्रसप्राणियो की हिंसा का त्याग है। इस प्रकार का प्रत्याख्यान दुष्प्रत्याख्यान है। इससे प्रत्याख्यान कराने वाला व प्रत्याख्यान करने वाला दोनो दोष के भागी होते हैं। यह कैसे ? ससार में जन्म धारण करने वाले प्राणी स्थावररूप से भी जन्म ग्रहण करते हैं और त्रसरूप से भी। जो स्थावररूप से जन्म लेते हैं वे ही त्रसरूप से भी जन्म लेते हैं तथा जो त्रसरूप से जन्म लेते हैं वे ही स्थावररूप से भी जन्म लेते हैं अतः स्थावर और त्रस प्राणियो की समझ में बहुत उलझन होती है। कौन-सा प्राणी स्थावर है और कौन-सा त्रस, इसका निपटारा अथवा निश्चय नहीं हो सकता। अत त्रस प्राणियो की हिंसा का प्रत्याख्यान व उसका पालन कैसे सभव है ? ऐसी स्थिति में केवल त्रस प्राणी को हिंसा का प्रत्याख्यान करवाने के बजाय त्रसभूत प्राणी की अर्थात् जो वर्तमान में त्रसरूप है उसकी हिंसा का प्रत्याख्यान करवाना चाहिए। इस प्रकार प्रत्याख्यान में 'त्रस' के बजाय 'त्रसभूत' शब्द का प्रयोग करना अधिक उपयुक्त होगा। इससे न प्रत्याख्यान देने वाले को कोई दोष लगेगा, न लेने वाले को। उदय पेढालपुत्त की इस शका का समाधान करते हुए गौतम इन्द्रभूति मुनि ने कहा कि हमारा मत 'त्रस' के बजाय 'त्रसभूत' शब्द का प्रयोग करने का समर्थन इसलिए नहीं करता कि आपलोग जिसे 'त्रसभूत' कहते हैं उसी अर्थ में हम लोग 'त्रस' शब्द का प्रयोग

---

१. अभियोग अर्थात् राजा की आज्ञा, गण की आज्ञा—गणतत्रात्मक राज्य की आज्ञा, बलवान् की आज्ञा, माता-पिता आदि की आज्ञा तथा आजीविका का भय। इन परिस्थितियों की अनुपस्थिति में त्रस प्राणियों की हिंसा का त्याग करना।

२ गृहपतिचौरविमोचणन्याय इस प्रकार है —किसी गृहस्थ के छ पुत्र थे। वे छहों किसी अपराध में फस गये। राजा ने उन छहों को फासी का दण्ड दिया। यह जानकर वह गृहस्थ राजा के पास आया और निवेदन करने लगा—महाराज ! यदि मेरे छहों पुत्रों को फासी होगी तो मै अपुत्र हो जाऊँगा। मेरा वश आगे कैसे चलेगा ? मेरे वश का समूल नाश हो जायगा। कृपया पाच को छोड दीजिये। राजा ने उसकी यह बात नहा मानी। तब उसने चार को छोडने की बात कही। जब राजा ने यह भी स्वीकार नह किया तब उसने क्रमश तीन, दो और अन्त में एक पुत्र को छोड देने की विनती की। राजाने उनमें से एक को छोड दिया। इसी न्याय से छ कायों में से स्थूल प्राणातिपात का त्याग किया जाता है अर्थात् त्रस प्राणियों की हिंसा न करने का नियम स्वीकार किया जाता है।

करते हैं। जिस जीव के त्रस नामकर्म तथा त्रस आयुष्यकर्म का उदय हो उसी को त्रस कहते हैं। इस प्रकार के उदय का सम्बन्ध वर्तमान से ही है, न कि भूत अथवा भविष्य से।

उदय पेढालपुत्त ने गौतम इन्द्रभूति से दूसरा प्रश्न यह पूछा है कि मान लीजिये इस ससार में जितने भी त्रसजीव हैं सबके सब स्थावर हो जाय अथवा जितने भी स्थावर जीव हैं सबके सब त्रस हो जाय तो आप जो प्रत्याख्यान करवाते हैं वह क्या व्यर्थ नहीं हो जायगा ? सब जीवो के स्थावर हो जाने पर त्रस की हिंसा का कोई प्रश्न ही नहीं रहता। इसी प्रकार सब जीवो के त्रस हो जाने पर त्रस की हिंसा का त्याग कैसे सभव हो सकता है ? इसका उत्तर देते हुए गौतम ने कहा है कि सब स्थावरो का त्रस हो जाना अथवा सब त्रसों का स्थावर हो जाना असभव है। ऐसा न कभी हुआ है, न होता है और न होगा। इस तथ्यको समझाने के लिए सूत्रकार ने अनेक उदाहरण दिए हैं। प्रस्तुत अध्ययन में प्रत्याख्यान के सम्बन्ध में इसी प्रकार की चर्चा है। इसमें कुछ शब्द एव वाक्य ऐसे हैं जो पूरी तरह से समझ में नही आते। वृत्तिकार ने तो अपनी पारपरिक अनुश्रुति के अनुसार उनका अर्थ कर दिया है किन्तु मूल शब्दो का जरा गहराई से विचार करने पर मन को पूरा सतोष नहीं होता। इस अध्ययन में पार्श्वापत्यीय उदय पेढालपुत्त एव भगवान् महावीर के मुख्य गणधर गौतम इन्द्रभूति के बीच जो वाद-विवाद अथवा चर्चा हुई है उसकी पद्धति को दृष्टि में रखते हुए यह मानना अनुपयुक्त न होगा कि भगवान् पार्श्वनाथ की परम्परा वाले भगवान् महावीर की परम्परा को अपने से भिन्न परम्परा के रूप मे ही मानते थे एवं महावीर की अथवा गौतम आदि की विनययुक्त प्रतिपत्ति नहीं करते थे, भले ही बाद में पार्श्वनाथ की परम्परा महावीर की परम्परा में मिल गई। इस अध्ययन में एक जगह स्पष्ट लिखा है कि जब गौतम उदय पेढालपुत्त को मैत्री एव विनयप्रतिपत्ति के लिए समझाने लगे तो उदय ने गौतम के इस कथन का अनादर कर अपने स्थान पर लौट जाने का विचार किया• तएण से उदए पेढालपुत्ते भगवं गोयम अणाढायमाणे जामेव दिसिं पाउब्भूए तामेव दिसि पहारेत्थ गमणाए।

५

स्थानांग व समवायांग

शैली

विषय सम्बद्धता

विषय वैविध्य

प्रव्रज्या

स्थविर

लेखन-पद्धति

अनुपलब्ध शास्त्र

गर्भधारण

भूकम्प

नदियाँ

राजधानियाँ

वृष्टि

करते हैं। जिस जीव के त्रस नामकर्म तथा त्रस आयुष्यकर्म का उदय हो उसी को त्रस कहते हैं। इस प्रकार के उदय का सम्बन्ध वर्तमान से ही है, न कि भूत अथवा भविष्य से।

उदय पेढालपुत्त ने गौतम इन्द्रभूति से दूसरा प्रश्न यह पूछा है कि मान लीजिये इस ससार मे जितने भी त्रसजीव हैं सबके सब स्थावर हो जाय अथवा जितने भी स्थावर जीव हैं सबके सब त्रस हो जाय तो आप जो प्रत्याख्यान करवाते हैं वह क्या व्यर्थ नहीं हो जायगा ? सब जीवों के स्थावर हो जाने पर त्रस की हिंसा का कोई प्रश्न ही नहीं रहता। इसी प्रकार सब जीवों के त्रस हो जाने पर त्रस की हिंसा का त्याग कैसे सभव हो सकता है ? इसका उत्तर देते हुए गौतम ने कहा है कि सब स्थावरो का त्रस हो जाना अथवा सब त्रसो का स्थावर हो जाना असभव है। ऐसा न कभी हुआ है, न होता है और न होगा। इस तथ्यको समझाने के लिए सूत्रकार ने अनेक उदाहरण दिए हैं। प्रस्तुत अध्ययन में प्रत्याख्यान के सम्बन्ध में इसी प्रकार की चर्चा है। इसमें कुछ शब्द एव वाक्य ऐसे हैं जो पूरी तरह से समझ मे नहीं आते। वृत्तिकार ने तो अपनी पारपरिक अनुश्रुति के अनुसार उनका अर्थ कर दिया है किन्तु मूल शब्दो का जरा गहराई से विचार करने पर मन को पूरा सतोष नहीं होता। इस अध्ययन में पार्श्वापत्यीय उदय पेढालपुत्त एव भगवान् महावीर के मुख्य गणधर गौतम इन्द्रभूति के बीच जो वाद-विवाद अथवा चर्चा हुई है उसकी पद्धति को दृष्टि में रखते हुए यह मानना अनुपयुक्त न होगा कि भगवान् पार्श्वनाथ की परम्परा वाले भगवान् महावीर की परम्परा को अपने से भिन्न परम्परा के रूप में ही मानते थे एवं महावीर की अथवा गौतम आदि की विनययुक्त प्रतिपत्ति नहीं करते थे, भले ही बाद में पार्श्वनाथ की परम्परा महावीर की परम्परा मे मिल गई। इस अध्ययन में एक जगह स्पष्ट लिखा है कि जब गौतम उदय पेढालपुत्त को मैत्री एव विनयप्रतिपत्ति के लिए समझाने लगे तो उदय ने गौतम के इस कथन का अनादर कर अपने स्थान पर लौट जाने का विचार किया। तएण से उदए पेढालपुत्ते भगवं गोयम अणाढायमाणे जामेव दिसिं पाउब्भूए तामेव दिसिं पहारेत्थ गमणाए।

ग ५

स्थानांग व समवायांग

शैली

विषय सम्बद्धता

विषय वैविध्य

प्रव्रज्या

स्थविर

लेखन-पद्धति

अनुपलब्ध शास्त्र

गर्भधारण

भूकम्प

नदियाँ

राजधानियाँ

वृष्टि

पंचम प्रकरण

स्थानांग व समवायांग

गुजरात विद्यापीठ, अहमदाबाद द्वारा सचालित पूजाभाई जैन ग्रथमाला के २३ वें पुष्प के रूप में स्थानाग[1] तथा समवायाग[2] का प० दलसुख मालवणियाकृत जो सुदर, सुबोध एव सुस्पष्ट अनुवाद प्रस्तावना व तुलनात्मक टिप्पणियो के साथ प्रकाशित हुआ है उससे इन दोनो अगग्रंथों का परिचय प्राप्त हो जाता है। अत. इनके विषय में यहा विशेष लिखना अनावश्यक है। फिर भी इनके सम्बन्ध में थोडा प्रकाश डालना अनुपयुक्त न होगा।

---

१ (अ) अभयदेवकृत वृत्तिसहित—आगमोदय समिति, बम्बई, सन् १९१८-१९२०, माणेकलाल चुनीलाल, अहमदाबाद, सन् १९३७

(आ) आगमसग्रह, बनारस, सन् १८८०

(इ) अभयदेवकृत वृत्ति के गुजराती अनुवाद के साथ—अष्टकोटि बृहद्पक्षीय सघ, मुद्रा (कच्छ), वि स १९९९

(ई) गुजराती अनुवादसहित—जीवराज घेलाभाई दोशी, अहमदाबाद, सन् १९३१

(उ) हिन्दी अनुवादसहित—अमोलक ऋषि, हैदराबाद, वी स २४४६

(ऊ) गुजराती रूपान्तर—दलसुख मालवणिया, गुजरात विद्यापीठ, अहमदाबाद, सन् १९५५

२ (अ) अभयदेवकृत वृत्तिसहित—आगमोदय समिति, सूरत, सन् १९१९, मफतलाल झवेरचंद, अहमदाबाद, सन् १९३८

अगसूत्रो में विशेषत उपदेशात्मक एव आत्मार्थी मुमुक्षुओ के लिए विध्यात्मक व निषेधात्मक वचन उपलब्ध हैं। कुछ सूत्रो में इस प्रकार के वचन सीधे रूप में हैं तो कुछ मे कथाओ, सवादो एव रूपको के रूप में। स्थानांग व समवायाग में ऐसे वचनो का विशेष अभाव है। इन दोनो सूत्रों के अध्ययन से ऐसा प्रतीत होता है कि ये सग्रहात्मक कोश के रूप मे निर्मित किये गये हैं। अन्य अगो की अपेक्षा इनके नाम एव विषय सर्वथा भिन्न प्रकार के हैं। इन अगो की विषयनिरूपणशैली से ऐसा भी अनुमान किया जा सकता है कि अन्य सब अग पूर्णतया बन गये होगे तब स्मृति अथवा धारणा की सरलता की दृष्टि से अथवा विषयों की खोज की सुगमता की दृष्टि से पीछे से इन दोनों अंगो की योजना की गई होगी तथा इन्हें विशेष प्रतिष्ठा प्रदान करने के हेतु इनका अगों में समावेश कर दिया गया होगा। इन अंगो की उपलब्ध सामग्री व शैली को देख कर वृत्तिकार अभयदेवसूरि के मन में जो भावना उत्पन्न हुई उसका थोडा सा परिचय प्राप्त करना अनुपयुक्त न होगा। वे लिखते हैं :

सम्प्रदायहीनत्वात् सदूहस्य वियोगत ।
सर्वस्वपरशास्त्राणामदृष्टेरस्मृतेश्च मे ॥१॥

वाचनानामनेकत्वात् पुस्तकानामशुद्धत ।
सूत्राणामतिगाम्भीर्यात् मतभेदाच्च कुत्रचित् ॥२॥

—स्थानागवृत्ति के अन्त में प्रशस्ति

यस्य ग्रन्थवरस्य वाक्यजलधेर्लक्ष सहस्राणि च,
चत्वारिंशदहो चतुर्भिरधिका मान पदानामभूत्।

(आ) आगमसग्रह, बनारस, सन् १८८०

(इ) अभयदेवकृत वृत्ति के गुजराती अनुवाद के साथ—जेठालाल हरिभाई, जैनधर्म प्रसारक सभा, भावनगर, वि० स० १९९५

(ई) हिन्दी अनुवादसहित—अमोलक ऋषि, हैदराबाद, वी० स० २४४६

(उ) गुजराती रूपा तर—दलसुख मालवणिया, गुजरात विद्यापीठ, अहमदाबाद सन् १९५५

(ऊ) सस्कृत व्याख्या व उसके हिन्दी-गुजराती अनुवाद के साथ—मुनि घासीलाल, जैन शास्त्रोद्धार समिति, राजकोट, सन् १९६२

तस्योच्चैश्चुलुकाकृति निदधत कालादिदोषात् तथा,
दुर्लेखात् खिलता गतस्य कुधिय कुर्वन्तु किं मादृशा ॥१॥
वरगुरुविरहात् वाऽतीतकाले मुनीशैर्गणधरवचनाना श्रस्तसघातनात् वा ।

× × ×

सभाऽन्योऽस्मिंस्तथापि क्वचिदपि मनसो मोहतोऽर्थादिभेद ॥५॥

—समवायागवृत्ति के अन्त में प्रशस्ति

अर्थात् ग्रथ को समझने की परम्परा का अभाव है, अच्छे तर्क का वियोग है, सब स्वपर शास्त्र देखे न जा सके और न उनका स्मरण ही हो सका, वाचनाएँ अनेक हो गई हैं, उपलब्ध पुस्तकें अशुद्ध हैं तथा ये सूत्र अति गम्भीर हैं। ऐसी स्थिति में उनकी व्याख्या में मतभेद होना संभव है।

इस ग्रन्थ की जो पदसख्या बताई गई है उसे देखते हुए यह मालूम होता है कि काल आदि के दोष से यह ग्रन्थ बहुत छोटा हो गया है। लेखन ठीक न होने से ग्रन्थ छिन्न भिन्न हो गया प्रतीत होता है। ऐसी स्थिति में इसकी व्याख्या करने मे तत्पर मेरे जैसा दुर्बुद्धि क्या कर सकता है ? फिर योग्य गुरु का विरह है अर्थात् शास्त्रो का अध्ययन-अध्यापन करने वाले उत्तम गुरु की परम्परा नष्ट हो गई। गणधरो के वचन छिन्न-भिन्न हो गये। उन खंडित वचनो का आधार लेकर प्राचीन मुनिवरो ने शास्त्रसयोजना की। अत सभव है प्रस्तुत व्याख्या में कहीं अर्थ आदि की भिन्नता हो गई हो।

अभयदेवसूरि को इन दोनों ग्रथो की व्याख्या करने मे जिस कठिनाई का अनुभव हुआ है उसका हूबहू चित्रण उपर्युक्त पद्यों मे उपलब्ध है। जिस युग में शास्त्रों के प्रामाण्य के विषय में शका होते हुए भी एक अक्षर भी बोलना कठिन था उस युग में वृत्तिकार इससे अधिक क्या लिख सकता था ? स्थानाग आदि को देखने से यह स्पष्ट मालूम होता है कि सम्यग्दृष्टिसम्पन्न गीतार्थ पुरुषो ने पूर्व परम्परा से चली आने वाली सूत्रसामग्री मे महावीर के निर्वाण के बाद यत्र तत्र वृद्धि-हानि की है जिसका कि उन्हे पुरा अधिकार था।

उदाहरण के लिए स्थानाग के नवें अध्ययन के तृतीय उद्देशक में भगवान् महावीर के नौ गणो के नाम आते हैं। ये नाम इस प्रकार हैं : गोदासगण, उत्तरबलिस्सहगण, उद्देहगण, चारणगण, उड्डुवातितगण विस्सवातितगण, कामड्ढितगण, माणवगण और कोडितगण। कल्पसूत्र की स्थविरावली में इन गणों की उत्पत्ति इस प्रकार बतलाई है :—

प्राचीन गोत्रीय आर्य भद्रबाहु के चार स्थविर शिष्य थे जिनमें से एक का नाम गोदास था। इन काश्यप गोत्रीय गोदास स्थविर से गोदास नामक गण की उत्पत्ति हुई। एलावच्च गोत्रीय आय महागिरि के आठ स्थविर शिष्य थे। इनमें से एक का नाम उत्तरबलिस्सह था। इनसे उत्तरबलिस्सह नामक गण निकला। वासिष्ठगोत्रीय आर्य सुहस्ती के बारह स्थविर शिष्य थे जिनमें से एक का नाम आर्यरोहण था। इन्हीं काश्यपगोत्रीय रोहण से उद्देहगण निकला। उन्हीं गुरु के शिष्य हारितगोत्रीय सिरिगुत्त से चारणगण की उत्पत्ति हुई भारद्वाजगोत्रीय भद्दजस से उडुवाडियगण उत्पन्न हुआ एव कुडिल(कुडलि अथवा कुडिल) गोत्रीय कामिड्ढि स्थविर से वेसवाडिय गण निकला। इसी प्रकार काकदी नगरी निवासी वासिष्ठगोत्रीय इसिगुत्त से माणवगण एव वग्घावच्चगोत्रीय सुस्थित व सुप्रतिबद्ध से कोडिय नामक गण निकला।

उपर्युक्त उल्लेख में कामड्ढित गण की उत्पत्ति का कोई निर्देश नहीं है। सभव है आर्य सुहस्ती के शिष्य कामड्ढि स्थविर से ही यह गण भी निकला हो। कल्पसूत्र की स्थविरावली में कामड्ढितगणविषयक उल्लेख नहीं है किन्तु कामड्ढित कुलसम्बन्धी उल्लेख अवश्य है। यह कामड्ढित कुल उस वेसवाडिय—विस्सवातित गण का ही एक कुल है जिसकी उत्पत्ति कामड्ढि स्थविर से बतलाई गई है। उपर्युक्त सभी गण भगवान् महावीर के निर्वाण के लगभग दो सौ वर्ष के बाद के काल के हैं। बाद के कुछ गण महावीर-निर्वाण के पाच सौ वर्ष के बाद के भी हो सकते हैं।

स्थानाग में जमालि, तिष्यगुप्त, आषाढ, अश्वमित्र, गग, रोहगुप्त और गोष्ठामाहिल इन सात निह्नवों का भी उल्लेख आता है। इनमें से प्रथम दो के अतिरिक्त सब निह्नवों की उत्पत्ति भगवान् महावीर के निर्वाण के बाद तीसरी शताब्दी से लेकर छठी शताब्दी तक के समय में हुई है। अतएव यह मानना अधिक उपयुक्त है कि इस सूत्र को अतिम योजना वीरनिर्वाण की छठी शताब्दी में होने वाले किसी गीतार्थ पुरुष ने अपने समय तक की घटनाओं को पूर्व परम्परा से चली आने वाली घटनाओं के साथ मिलाकर की है। यदि ऐसा न माना जाय तो यह तो मानना ही पडेगा कि भगवान् महावीर के बाद घटित होने वाली उक्त सभी घटनाओं को किसी गीतार्थ स्थविर ने इस सूत्र में पीछे से जोडा है।

इसी प्रकार समवायाग में भी ऐसी घटनाओं का उल्लेख है जो महावीर के निर्वाण के बाद में हुई हैं। उदाहरण के लिए १०० वें सूत्र में इन्द्रभूति व सुधर्मा

के निर्वाण का उल्लेख। इन दोनो का निर्वाण महावीर के बाद हुआ है। अतः यह कथन कि यह सूत्र सुधर्मास्वामी ने जम्बूस्वामी को कहा, अथवा सुधर्मास्वामी से जम्बूस्वामी ने सुना, किस अर्थ में व कहाँ तक ठीक है, विचारणीय है। ऐसी स्थिति में आगमों को ग्रथबद्ध करने वाले आचार्य देवर्धिगणि क्षमाश्रमण ही यदि इन दोनों अगो के अतिमरूप देनेवाले माने जाय तो भी कोई हर्ज नहीं।

शैली

इन सूत्रो की शैली के विषय में सक्षेप में यह कहा जा सकता है कि स्थानाग के प्रथम प्रकरण में एक-एक पदार्थ अथवा क्रिया आदि का निरूपण है, द्वितीय में दो-दो का, तृतीय में तीन तीन का, यावत् अन्तिम प्रकरण में दस-दस पदार्थों अथवा क्रियाओ का वर्णन है। जिस प्रकरण मे एकसख्यक वस्तु का विचार है उसका नाम एकस्थान अथवा प्रथमस्थान है। इसी प्रकार द्वितीयस्थान यावत् दशमस्थान के विषय में समझना चाहिए। इस प्रकार स्थानाग में दस स्थान, अध्ययन अथवा प्रकरण हैं। जिस प्रकरण में निरूपणीय सामग्री अधिक है उसके उपविभाग भी किये गये हैं। द्वितीय, तृतीय एव चतुर्थ प्रकरण मे ऐसे चार-चार उपविभाग हैं तथा पचम प्रकरण में तीन उपविभाग हैं। इन उपविभागो का पारिभाषिक नाम 'उद्देश' है।

समवायाग की शैली भी इसी प्रकार की है किन्तु उसमे दस से आगे की सख्या वाली वस्तुओ का भी निरूपण है अत उसकी प्रकरणसंख्या स्थानाग की तरह निश्चित नहीं है अथवा यों समझना चाहिए कि उसमें स्थानाग की तरह कोई प्रकरणव्यवस्था नही की गई है। इसीलिए नदीसूत्र में समवायाग का परिचय देते हुए कहा गया है कि इसमें एक ही अध्ययन है।

स्थानाग व समवायांग की कोशशैली बौद्धपरम्परा एव वैदिक परम्परा के ग्रन्थों मे भी उपलब्ध होती है। बौद्धग्रन्थ अगुत्तरनिकाय, पुग्गलपञ्ञत्ति, महाव्युत्पत्ति एव धर्मसग्रह में इसी प्रकार की शैली में विचारणाओ का सग्रह किया गया है। वैदिक परम्परा के ग्रथ महाभारत के वनपर्व (अध्याय १३४) में भी इसी शैली में विचार सगृहीत किये गये हैं।

स्थानाग व समवायाग में सग्रहप्रधान कोशशैली होते हुए भी अनेक स्थानों पर इस शैली का सम्यक्तया पालन नही किया जा सका। इन स्थानों पर

या तो शैली खण्डित हो गई है या विभाग करने में पूरी सावधानी नहीं रखी गई है। उदाहरण के लिए अनेक स्थानो पर व्यक्तियों के चरित्र आते हैं, पर्वतो का वर्णन आता है, महावीर और गौतम आदि के सवाद आते हैं। ये सब खंडित शैली के सूचक हैं। स्थानाग के सू० २४४ में लिखा है कि तृणवनस्पतिकाय चार प्रकार के हैं, सू० ४३१ में लिखा है कि तृणवनस्पतिकाय पांच प्रकार के हैं और सू० ४८४ मे लिखा है कि तृणवनस्पतिकाय छ. प्रकार के हैं। यह अन्तिम सूत्र तृणवनस्पतिकाय के भेदो का पूर्ण निरूपण करता है जबकि पहले के दोनो सूत्र इस विषय में अपूर्ण हैं। अन्तिम सूत्र की विद्यमानता में ये दोनों सूत्र व्यर्थ हैं। यह विभाजन की असावधानी का उदाहरण है।

समवायाग में एकसख्यक प्रथम सूत्र के अन्त मे इस आशय का कथन है कि कुछ जीव एकभव में सिद्धि प्राप्त करेंगे। इसके बाद द्विसख्यक सूत्र से लेकर तैंतीससख्यक सूत्र तक इस प्रकार का कथन है कि कुछ जीव दो भव में सिद्धि प्राप्त करेंगे, कुछ जीव तीन भव में सिद्धि प्राप्त करेंगे, यावत् कुछ जीव तैंतीस भव मे सिद्धि प्राप्त करेंगे। इसके बाद इस आशय का कथन बद हो जाता है। इससे क्या समझा जाय? क्या कोई जीव चौंतीस भव अथवा इससे अधिक भव मे सिद्धि प्राप्त नही करेगा? इस प्रकार के सूत्र विभाजन की शैली को दोषयुक्त बनाते हैं एव अनेक प्रकार की विसगति उत्पन्न करते हैं।

विषय-सम्बद्धता

सकलनात्मक स्थानांग-समवायाग में वस्तु का निरूपण सख्या की दृष्टि से किया गया है अत. उनके अभिधेयो—प्रतिपाद्य विषयो में परस्पर सम्बद्धता होना आवश्यक नहीं है। फिर भी वृत्तिकार ने खीचतान कर यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि अमुक विषय के बाद अमुक विषय का कथन क्यो किया गया है? उदाहरणार्थ पहले के सूत्र मे जम्बूद्वीपनामक द्वीप का कथन आता है और बाद के सूत्र में भगवान् महावीरविषयक वर्णन। इन दोनो का सम्बन्ध बताते हुए वृत्तिकार कहते हैं कि जम्बूद्वीप का यह प्ररूपण भगवान् महावीर ने किया है अत जम्बूद्वीप के बाद महावीर का वर्णन असम्बद्ध नहीं है। पहले के सूत्र में महावीर का वर्णन आता है और बाद के सूत्र में अनुत्तरविमान में उत्पन्न होने वाले देवो का वर्णन। इन दोनों सूत्रों में सम्बन्ध स्थापित करते हुए वृत्तिकार कहते हैं कि भगवान् महावीर निर्वाण प्राप्त कर जिस स्थान पर रहते हैं वह स्थान और

अनुत्तर विमान पास-पास ही हैं अतः महावीर के निर्वाण के बाद अनुत्तर विमान का कथन सुसबद्ध है। इस प्रकार वृत्तिकार ने सब सूत्रो के बीच पारस्परिक सम्बन्ध बैठाने का भारी प्रयास किया है। वास्तव मे शब्दकोश के शब्दो की भाँति इन सूत्रो में परस्पर कोई अर्थसम्बन्ध नहीं है। सख्या की दृष्टि से जो कोई भी विषय सामने आया, सबका उस सख्यावाले सूत्र मे समावेश कर दिया गया।

विषय-वैविध्य

स्थानाग व समवायाग दोनो मे जैन प्रवचनसमत तथ्यो के साथ ही साथ लोकसमत बातो का भी निरूपण है। इनके कुछ नमूने ये हैं.

स्थानाग, सू० ७१ में श्रुतज्ञान के दो भेद बताये गये हैं: अगप्रविष्ट और अगबाह्य। अंगबाह्य के पुन दो भेद हैं आवश्यक और आवश्यकव्यतिरिक्त। आवश्यकव्यतिरिक्त फिर दो प्रकार का है कालिक और उत्कालिक। यहा उपाग नामक भेद का कोई उल्लेख नही है। इससे सिद्ध होता है कि यह भेद विशेष प्राचीन नहीं है। इसी सूत्र में अन्यत्र केवलज्ञान के अवस्था, काल आदि की दृष्टि से अनेक भेद-प्रभेद किये गये हैं। सर्वप्रथम केवलज्ञान के दो भेद बताये गये हैं भवस्थकेवलज्ञान और सिद्धकेवलज्ञान। भवस्थकेवलज्ञान दो प्रकार का है: सयोगिभवस्थकेवलज्ञान और अयोगिभवस्थकेवलज्ञान। सयोगिभवस्थकेवलज्ञान पुन दो प्रकार का है. प्रथमसमयसयोगिभवस्थकेवलज्ञान और अप्रथमसमयसयोगि-भवस्थकेवलज्ञान अथवा चरमसमयसयोगिभवस्थकेवलज्ञान और अचरमसमयसयोगि-भवस्थकेवलज्ञान। इसी प्रकार अयोगिभवस्थकेवलज्ञान के भी दो दो भेद समझने चाहिए। सिद्धकेवलज्ञान भी दो प्रकार का है. अनन्तरसिद्धकेवलज्ञान व परम्पर-सिद्धकेवलज्ञान। इन दोनो के पुनः दो-दो भेद किये गये हैं।

इसी अग के सू० ७५ में बताया गया है कि जिन जीवो के स्पर्शन और रसना ये दो इद्रिया होती हैं उनका शरीर अस्थि, मास व रक्त से निर्मित होता है। इसी प्रकार जिन जीवों के स्पर्शन, रसना, घ्राण ये तीन इन्द्रियाँ अथवा स्पर्शन, रसना, घ्राण और चक्षु ये चार इद्रिया होती हैं उनका शरीर भी अस्थि, मास व रक्त से बना होता है। जिनके श्रोत्र सहित पाच इद्रिया होती हैं उनका शरीर अस्थि, मास, रक्त, स्नायु व शिरा से निर्मित होता है। सूत्रकार के इस कथन की जाच प्राणिविज्ञान के आधार पर की जा सकती है।

या तो शैली खंडित हो गई है या विभाग करने में पूरी सावधानी नहीं रखी गई है। उदाहरण के लिए अनेक स्थानो पर व्यक्तियो के चरित्र आते हैं, पर्वतों का वर्णन आता है, महावीर और गौतम आदि के सवाद आते हैं। ये सब खंडित शैली के सूचक हैं। स्थानांग के सू० २४४ में लिखा है कि तृणवनस्पतिकाय चार प्रकार के हैं सू० ४३१ में लिखा है कि तृणवनस्पतिकाय पाँच प्रकार के हैं और सू० ४८४ में लिखा है कि तृणवनस्पतिकाय छ प्रकार के हैं। यह अन्तिम सूत्र तृणवनस्पतिकाय के भेदो का पूर्ण निरूपण करता है जबकि पहले के दोनों सूत्र इस विषय में अपूर्ण हैं। अन्तिम सूत्र की विद्यमानता में ये दोनों सूत्र व्यर्थ हैं। यह विभाजन की असावधानी का उदाहरण है।

समवायांग में एकसंख्यक प्रथम सूत्र के अन्त मे इस आशय का कथन है कि कुछ जीव एकभव में सिद्धि प्राप्त करेंगे। इसके बाद द्विसख्यक सूत्र से लेकर तैंतीससख्यक सूत्र तक इस प्रकार का कथन है कि कुछ जीव दो भव में सिद्धि प्राप्त करेंगे, कुछ जीव तीन भव में सिद्धि प्राप्त करेंगे, यावत् कुछ जीव तैंतीस भव में सिद्धि प्राप्त करेंगे। इसके बाद इस आशय का कथन बंद हो जाता है। इससे क्या समझा जाय? क्या कोई जीव चौंतीस भव अथवा इससे अधिक भव मे सिद्धि प्राप्त नहीं करेगा? इस प्रकार के सूत्र विभाजन की शैली को दोषयुक्त बनाते हैं एव अनेक प्रकार की विसगति उत्पन्न करते हैं।

विषय-सम्बद्धता

सकलनात्मक स्थानांग-समवायाग में वस्तु का निरूपण सख्या की दृष्टि से किया गया है अत. उनके अभिधेयो—प्रतिपाद्य विषयो में परस्पर सम्बद्धता होना आवश्यक नहीं है। फिर भी वृत्तिकार ने खींचतान कर यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि अमुक विषय के बाद अमुक विषय का कथन क्यों किया गया है? उदाहरणार्थ पहले के सूत्र में जम्बूद्वीपनामक द्वीप का कथन आता है और बाद के सूत्र में भगवान् महावीरविषयक वर्णन। इन दोनो का सम्बन्ध बताते हुए वृत्तिकार कहते हैं कि जम्बूद्वीप का यह प्ररूपण भगवान् महावीर ने किया है अत जम्बूद्वीप के बाद महावीर का वर्णन असम्बद्ध नहीं है। पहले के सूत्र में महावीर का वर्णन आता है और बाद के सूत्र में अनुत्तरविमान में उत्पन्न होने वाले देवो का वर्णन। इन दोनों सूत्रों में सम्बन्ध स्थापित करते हुए वृत्तिकार कहते हैं कि भगवान् महावीर निर्वाण प्राप्त कर जिस स्थान पर रहते हैं वह स्थान और

अनुत्तर विमान पास-पास ही हैं अतः महावीर के निर्वाण के बाद अनुत्तर विमान का कथन सुसबद्ध है। इस प्रकार वृत्तिकार ने सब सूत्रों के बीच पारस्परिक सम्बन्ध बैठाने का भारी प्रयास किया है। वास्तव मे शब्दकोश के शब्दों की भाँति इन सूत्रो में परस्पर कोई अर्थसम्बन्ध नहीं है। सख्या की दृष्टि से जो कोई भी विषय सामने आया, सबका उस सख्यावाले सूत्र मे समावेश कर दिया गया।

विषय वैविध्य :

स्थानाग व समवायाग दोनो में जैन प्रवचनसंमत तथ्यो के साथ ही साथ लोकसमत बातो का भी निरूपण है। इनके कुछ नमूने ये हैं

स्थानाग, सू० ७१ मे श्रुतज्ञान के दो भेद बताये गये हैं अगप्रविष्ट और अंगबाह्य। अंगबाह्य के पुन दो भेद हैं आवश्यक और आवश्यकव्यतिरिक्त। आवश्यकव्यतिरिक्त फिर दो प्रकार का है कालिक और उत्कालिक। यहा उपाग नामक भेद का कोई उल्लेख नहीं है। इससे सिद्ध होता है कि यह भेद विशेष प्राचीन नहीं है। इसी सूत्र मे अन्यत्र केवलज्ञान के अवस्था, काल आदि की दृष्टि से अनेक भेद-प्रभेद किये गये हैं। सर्वप्रथम केवलज्ञान के दो भेद बताये गये हैं भवस्थकेवलज्ञान और सिद्धकेवलज्ञान। भवस्थकेवलज्ञान दो प्रकार का है: सयोगिभवस्थकेवलज्ञान और अयोगिभवस्थकेवलज्ञान। सयोगिभवस्थकेवलज्ञान पुन दो प्रकार का है: प्रथमसमयसयोगिभवस्थकेवलज्ञान और अप्रथमसमयसयोगि-भवस्थकेवलज्ञान अथवा चरमसमयसयोगिभवस्थकेवलज्ञान और अचरमसमयसयोगि-भवस्थकेवलज्ञान। इसी प्रकार अयोगिभवस्थकेवलज्ञान के भी दो-दो भेद समझने चाहिए। सिद्धकेवलज्ञान भी दो प्रकार का है. अनन्तरसिद्धकेवलज्ञान व परम्पर-सिद्धकेवलज्ञान। इन दोनों के पुनः दो-दो भेद किये गये हैं।

इसी अंग के सू० ७५ में बताया गया है कि जिन जीवो के स्पर्शन और रसना ये दो इंद्रिया होती हैं उनका शरीर अस्थि, मास व रक्त से निर्मित होता है। इसी प्रकार जिन जीवों के स्पर्शन, रसना, घ्राण ये तीन इन्द्रियाँ अथवा स्पर्शन, रसना, घ्राण और चक्षु ये चार इंद्रिया होती हैं उनका शरीर भी अस्थि, मास व रक्त से बना होता है। जिनके श्रोत्र सहित पांच इंद्रिया होती हैं उनका शरीर अस्थि, मास, रक्त, स्नायु व शिरा से निर्मित होता है। सूत्रकार के इस कथन की जाच प्राणिविज्ञान के आधार पर की जा सकती है।

सू० ४४६ मे रजोहरण के पाच प्रकार बताये गये हैं १ ऊन का रजोहरण, २ ऊट के बाल का रजोहरण, ३ सन का रजोहरण, ४ वल्वज (तृणविशेष) का रजोहरण, ५ मूज का रजोहरण। वर्तमान मे केवल प्रथम प्रकार का रजोहरण ही काम में लाया जाता है।

इसी सूत्र में निर्ग्रन्थो व निर्ग्रन्थियों के लिए पांच प्रकार के वस्त्र के उपयोग का निर्देश किया गया है १ जांगमिक—ऊनका, २. भांगिक—अलसी का, ३ शाणक—सन का, ४ पोत्तिअ—सूतका, ५ तिरीडवट्ट—वृक्ष की छाल का। वृत्तिकार ने इन वस्त्रो का विशेष विवेचन किया है एव बताया है कि निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थियों के लिए उत्सर्ग की दृष्टि से कपास व ऊन के ही वस्त्र ग्राह्य हैं और वे भी बहुमूल्य नहीं अपितु अल्पमूल्य। बहुमूल्य का स्पष्टीकरण करते हुए वृत्तिकार ने लिखा है कि पाटलिपुत्र मे प्रचलित मुद्रा के अठारह रुपये से अधिक मूल्य का वस्त्र बहुमूल्य समझना चाहिए।

प्रव्रज्या

सू० ३५५ मे प्रव्रज्या के विविध प्रकार बताये गये हैं जिन्हे देखने से प्राचीन समय के प्रव्रज्यादाताओ एव प्रव्रज्याग्रहणकर्ताओ की परिस्थिति का कुछ पता लग सकता है। इसमें प्रव्रज्या चार प्रकार की बताई गई है। १ इहलोक-प्रतिबद्धा, २ परलोकप्रतिबद्धा, ३ उभयलोकप्रतिबद्धा, ४ अप्रतिबद्धा। १ केवल जीवन निर्वाह के लिए प्रव्रज्या ग्रहण करना इहलोकप्रतिबद्धा प्रव्रज्या है। २ जन्मान्तर में कामादि सुखों की प्राप्ति के लिए प्रव्रज्या लेना परलोक-प्रतिबद्धा प्रव्रज्या है। ३ उक्त दोनो उद्देश्यो को ध्यान में रख कर प्रव्रज्या ग्रहण करना उभयलोकप्रतिबद्धा प्रव्रज्या है। ४ आत्मोन्नति के लिए प्रव्रज्या स्वीकार करना अप्रतिबद्धा प्रव्रज्या है। अन्य प्रकार से प्रव्रज्या के चार भेद ये बतलाये गये हैं। १. पुरत प्रतिबद्धा, २ मार्गतः प्रतिबद्धा, ३ उभयत प्रतिबद्धा, ४ अप्रतिबद्धा। १. शिष्य व आहारादि की प्राप्ति के उद्देश्य से लीजाने वाली प्रव्रज्या पुरतः प्रतिबद्धा प्रव्रज्या है। २. प्रव्रज्या लेने के बाद स्वजनों में विशेषप्रतिबद्ध होना अर्थात् स्वजनो के लिए भौतिकसामग्री प्राप्त करने की भावना रखना मार्गतः प्रतिबद्धा प्रव्रज्या है। ३ उक्त दोनो प्रकार की प्रव्रज्याओं का सम्मिश्रित रूप उभयत प्रतिबद्धा प्रव्रज्या है। ४ आत्मशुद्धि के लिए ग्रहण की जाने वाली प्रव्रज्या अप्रतिबद्धा प्रव्रज्या है। प्रकारान्तर से प्रव्रज्या के चार भेद इस प्रकार बताये गये हैं १ तुयावइत्ता प्रव्रज्या अर्थात्

किसी को पीडा पहुँचाकर अथवा मन्त्रादि द्वारा प्रव्रज्या की ओर मोडना एव प्रव्रज्या देना। २ पुयावइत्ता प्रव्रज्या अर्थात् किसी को भगाकर प्रव्रज्या देना। आर्य रक्षित को इसी प्रकार प्रव्रज्या दी गई थी। ३ बुयावइत्ता प्रव्रज्या अर्थात् अच्छी तरह सभाषण करके प्रव्रज्या की ओर झुकाव पैदा करना एव प्रव्रज्या देना अथवा मोयावइत्ता प्रव्रज्या अर्थात् किसी को मुक्त कर अथवा मुक्त करने का लोभ देकर अथवा मुक्त करवाकर प्रव्रज्या की ओर झुकाना एव प्रव्रज्या देना। ४ परिपुयावइत्ता प्रव्रज्या अर्थात् किसी को भोजन सामग्री आदि का प्रलोभन देकर अर्थात् उसमे भोजनादि की पर्याप्तता का आकर्षण उत्पन्न कर प्रव्रज्या देना।

सू० ७१२ में प्रव्रज्या के दस प्रकार बताये गये हैं १ छदप्रव्रज्या, २ रोषप्रव्रज्या, ३ परिद्यूनप्रव्रज्या, ४ स्वप्नप्रव्रज्या ५ प्रतिश्रुतप्रव्रज्या, ६ स्मारणिकाप्रव्रज्या, ७ रोगिणिकाप्रव्रज्या, ८ अनादृतप्रव्रज्या, ९ देवसज्ञप्ति-प्रव्रज्या, १० वत्सानुबधिताप्रव्रज्या।

१ स्वेच्छापूर्वक ली जाने वाली प्रव्रज्या छन्दप्रव्रज्या है। २ रोष के कारण ली जानेवाली प्रव्रज्या रोषप्रव्रज्या है। ३ दीनता अथवा दरिद्रता के कारण ग्रहण की जानेवाली प्रव्रज्या परिद्यूनप्रव्रज्या है। ४ स्वप्न द्वारा सूचना प्राप्त होने पर ली जाने वाली प्रव्रज्या को स्वप्नप्रव्रज्या कहते है। ५ किसी प्रकार की प्रतिज्ञा अथवा वचन के कारण ग्रहण की जाने वाली प्रव्रज्या का नाम प्रतिश्रुतप्रव्रज्या है। ६ किसी प्रकार की स्मृति के कारण ग्रहण की जाने वाली प्रव्रज्या स्मारणिकाप्रव्रज्या है। ७ रोगो के निमित्त से ली जाने वाली प्रव्रज्या रोगिणिकाप्रव्रज्या है। ८ अनादर के कारण ली जाने वाली प्रव्रज्या अनादृतप्रव्रज्या कहलाती है ९ देव के प्रतिबोध द्वारा ली जाने वाली प्रव्रज्या का नाम देवसज्ञप्तिप्रव्रज्या है। १० पुत्र के प्रव्रजित होने के कारण माता-पिता द्वारा ग्रहण की जाने वाली प्रव्रज्या को वत्सानुबधिताप्रव्रज्या कहते हैं।

स्थविर:

सू० ७६१ में दस प्रकार के स्थविरो का उल्लेख है. १ ग्रामस्थविर, २ नगरस्थविर, ३ राष्ट्रस्थविर, ४ प्रशास्तास्थविर, ५ कुलस्थविर, ६. गणस्थविर, ७ सघस्थविर, ८ जातिस्थविर, ९. श्रुतस्थविर, १० पर्यायस्थविर।

ग्राम की व्यवस्था करने वाला अर्थात् जिसका कहना सारा गाव माने वैसा शक्तिशाली व्यक्ति ग्रामस्थविर कहलाता है। इसी प्रकार नगरस्थविर एव राष्ट्रस्थविर की व्याख्या समझनी चाहिए। लोगों को धर्म में स्थिर रखने वाले धर्मोपदेशक प्रशास्तास्थविर कहलाते हैं। कुल, गण एव सघ की व्यवस्था करने वाले कुलस्थविर, गणस्थविर एव सघस्थविर कहलाते हैं। साठ अथवा साठ से अधिक वर्ष की आयु वाले वयोवृद्ध जातिस्थविर कहे जाते हैं। स्थानाग आदि श्रुत के धारक को श्रुतस्थविर कहते हैं। जिसका दीक्षा-पर्याय बीस वर्ष का हो गया हो वह पर्यायस्थविर कहलाता है। अन्तिम दो भेद जैन परिभाषा-सापेक्ष हैं। ये दस भेद प्राचीन काल की ग्राम, नगर, राष्ट्र, कुल, गण आदि की व्यवस्था के सूचक हैं।

लेखन-पद्धति

समवायाग, सू० १८ में लेखन पद्धति के अठारह प्रकार बताये गये हैं जो ब्राह्मी लिपि के अठारह भेद हैं। इन भेदो में ब्राह्मी को भी गिना गया है जिसके कारण भेदों की संख्या उन्नीस हो गई है। इन भेदो के नाम इस प्रकार हैं १ ब्राह्मी, २ यावनी, ३. दोषोपकरिका, ४ खरोष्ट्रिका, ५ खरश्राविता, ६ पकारादिका, ७ उच्चत्तरिका, ८ अक्षरपृष्ठिका, ९ भोगवतिका, १० वैणयिका, ११ निह्नविका, १२. अकलिपि, १३ गणित-लिपि, १४ गाधर्वलिपि, १५ भूतलिपि, १६ आदर्शलिपि, १७ माहेश्वरी लिपि, १८ द्राविडलिपि, १९ पुलिंदलिपि। वृत्तिकार ने इस सूत्र की टीका करते हुए लिखा है कि इन लिपियों के स्वरूप के विषय में किसी प्रकार का विवरण उपलब्ध नही हुआ अत॰ यहा कुछ न लिखा गया . *एतत्स्वरूप न दृष्ट, इति न दर्शितम्।*

वर्तमान में उपलब्ध साधनो के आधार पर लिपियो के विषय में इतना कहा जा सकता है कि अशोक के शिलालेखो में प्रयुक्त लिपि का नाम ब्राह्मीलिपि है। यावनीलिपि अर्थात् यवनों की लिपि। भारतीय लोगो से भिन्न लोगो की लिपि यावनीलिपि कहलाती है, यथा अरबी, फारसी आदि। खरोष्ठी लिपि दाहिनी ओर से प्रारभ कर बाईं ओर लिखी जाती है। इस लिपि का प्रचार गाधार देश में था। इस लिपि में भी उत्तर-पश्चिम सीमात प्रदेश में अशोक के एक-दो शिलालेख मिलते हैं। गधे के होठ को खरोष्ठ कहते हैं। कदाचित् इस लिपि के मोड का सम्बन्ध गधे के होठ के साथ हो और इसीलिए इसका नाम खरोष्ठी खरोष्ठिका अथवा खरोष्ट्रिका पड़ा हो। खरश्राविता अर्थात् सुनने में कठोर

वाली। सभवत. इस लिपि का उच्चारण कर्ण के लिए कठोर हो जिससे इसका नाम खरश्राविता प्रचलित हुआ हो। पकारादिका जिसका प्राकृत रूप पहाराइआ अथवा पआराइआ है, सभवत पकार से प्रारभ होती हो जिससे इसका यह नाम पडा हो। निह्नविका का अर्थ है साकेतिक अथवा गुप्तलिपि। कदाचित् यह लिपि विशेष प्रकार के सकेतों से निर्मित हुई हो। अंको से निर्मित लिपि का नाम अंकलिपि है। गणितशास्त्र सम्बन्धी सकेतों की लिपि को गणितलिपि कहते हैं। गाधर्वलिपि अर्थात् गधर्वों की लिपि एव भूतलिपि अर्थात् भूतो की लिपि। सभवत गधर्व जाति में काम मे आनेवाली लिपि का नाम गाधर्वलिपि एव भूतजाति मे अर्थात् भोट याने भोटिया लोगो में अथवा भूतान के लोगो में प्रचलित लिपि का नाम भूतलिपि पडा हो। कदाचित् पैशाची भाषा की लिपि भूतलिपि हो। आदर्शलिपि के विषय में कुछ ज्ञात नही हुआ है। माहेश्वरों की लिपि का नाम माहेश्वरीलिपि है। वर्तमान में माहेश्वरी नामक एक जाति है। उसके साथ इस लिपि का कोई सम्बन्ध है या नही, यह अन्वेषणीय है। द्रविडों की लिपि का नाम द्राविडलिपि है। पुलिदलिपि शायद भील लोगों की लिपि हो। शेष लिपियो के विषय में कोई विशेष बात मालूम नहीं हुई है। लिपिविषयक मूल पाठ की अशुद्धि के कारण भी एतद्विषयक विशेष कठिनाई सामने आती है। बौद्धग्रथ ललितविस्तर मे चौसठ लिपियो के नाम बताये गये हैं। इन एव इस प्रकार के अन्यत्र उल्लिखित नामों के साथ इस पाठ को मिलाकर शुद्ध कर लेना चाहिए।

समवायाग, सू ४३ में ब्राह्मी लिपि मे उपयोग में आने वाले अक्षरो की सख्या ४६ बताई गई है। वृत्तिकार ने इस सम्बन्ध में स्पष्टीकरण करते हुए बताया है कि ये ४६ अक्षर अकार से लगाकर क्ष सहित हकार तक के होने चाहिए। इनमे ऋ, ॠ, ऌ, ॡ और ळ ये पाँच अक्षर नही गिनने चाहिए। यह ४६ की संख्या इस प्रकार है : ऋ, ॠ, ऌ और ॡ इन चार स्वरों के अतिरिक्त अ से लगाकर अः तक के १२ स्वर, क से लगाकर म तक के २५ स्पर्शाक्षर; य, र, ल और व ये ४ अतस्थ, श, ष, स और ह ये ४ ऊष्माक्षर, १क्ष = १२ + २५ + ४ + ४ + १ = ४६।

अनुपलब्ध शास्त्र

स्थानाग व समवायाग मे कुछ ऐसे जैनशास्त्रों के नाम भी मिलते हैं जो वर्तमान मे अनुपलब्ध हैं। इसी प्रकार इनमे अतकृद्दशा एव अनुत्तरौपपातिक नामक अगों के ऐसे प्रकरणो का भी उल्लेख है जो इन ग्रन्थो के उपलब्ध सस्करण में

अनुपलब्ध हैं। मालूम होता है या तो नामो में कुछ परिवर्तन हो गया है या वाचना में अन्तर हुआ है।

गर्भधारण :

स्थानाग, सू ४१६ में बताया गया है कि पुरुष के ससर्ग के बिना भी निम्नोक्त पांच कारणो से स्त्री गर्भ धारण कर सकती है। (१) जिस स्थान पर पुरुष का वीर्य पडा हो उस स्थान पर स्त्री इस ढग से बैठे कि उसकी योनि में वीर्य प्रविष्ट हो जाय, (२) वीर्यससक्त वस्त्रादि द्वारा वीर्य के अणु स्त्री की योनि में प्रविष्ट हो जाय, (३) पुत्र की आकाक्षा से नारी स्वय वीर्याणुओं को अपनी योनि मे रखे अथवा अन्य से रखवावे, (४) वीर्याणुयुक्त पानी पीये, (५) वीर्याणुयुक्त पानी मे स्नान करे।

भूकम्प

स्थानाग, सू १९८ में भूकम्प के तीन कारण बताये गये हैं (१) पृथ्वी के नीचे के घनवात के व्याकुल होने पर घनोदधि में तूफान आने पर, (२) किसी महासमर्थ महोरग देव[1] द्वारा अपना सामर्थ्य दिखाने के लिए पृथ्वी को चालित करने पर, (३ नागो एव सुपर्णों–गरुडो में संग्राम होने पर।

नदियाँ

स्थानाग, सू ८८ मे भरतक्षेत्र में बहनेवाली दो महानदियो के नामो का उल्लेख है गगा और सिंधु। यहाँ यह याद रखना चाहिए कि गगा नाम आर्यभाषाभाषियो के उच्चारण का है। इसका वास्तविक नाम तो 'खोग' है। 'खोग' शब्द तिब्बती भाषा का है जिसका अर्थ होता है नदी। इस शब्द का भारतीय उच्चारण गगा है। यह शब्द अति लबे काल से अपने मूल अर्थ को छोड कर विशेष नदी के नाम के रूप में प्रचलित हो गया है। सू० ४१२ मे गगा, यमुना, सरयू, ऐरावती और मही—ये पाच नदिया महार्णवरूप अर्थात् समुद्र के समान कही गई हैं। इन्हें जैन श्रमणो व श्रमिणियो को महीने में दो-तीन बार पार न करने के लिए कहा गया है।

राजधानियाँ

स्थानांग, सू० ७१८ में भरतक्षेत्र की निम्नोक्त दस राजधानियों के नाम गिनाये गये हैं चपा, मथुरा, वाराणसी, श्रावस्ती, साकेत, हस्तिनापुर,

---

१ एक प्रकार का व्यन्तर देव

२ भवनपति देवों की दो जातियाँ

कांपिल्य, मिथिला, कौशाबी और राजगृह। वृत्तिकार ने इनसे सम्बन्धित देशो के नाम इस प्रकार बताये हैं अग, शूरसेन, काशी, कुणाल, कोशल, कुरु, पाचाल, विदेह, वत्स और मगध। वृत्तिकार ने यह भी लिखा है कि श्रमण-श्रमणियों को ऐसी राजधानियो मे उत्सर्ग के तौर पर अर्थात् सामान्यतया महीने मे दो-तीन बार अथवा इससे अधिक प्रवेश नहीं करना चाहिए क्योकि वहा यौवनसम्पन्न रमणीय वारागनाओ एव अन्य मोहक तथा वासनोत्तेजक सामग्री के दर्शन से अनेक प्रकार के दूषणो की संभावना रहती है। वृत्तिकार ने यह एक विशेष महत्त्वपूर्ण बात लिखी है जिसकी ओर वर्तमानकालीन श्रमणसंघ का ध्यान आकृष्ट होना अत्यावश्यक है। राजधानिया तो अनेक हैं किन्तु यहां दस की विवक्षा के कारण दस ही नाम गिनाये गये हैं।

वृष्टि

इसी अग के सू० १७६ मे अल्पवृष्टि एव महावृष्टि के तीन-तीन कारण बतलाये गये हैं १ जिस देश अथवा प्रदेश मे जलयोनि के जीव अथवा पुद्गल अल्प मात्रा मे हो वहा अल्पवृष्टि होती है। २ जिस देश अथवा प्रदेश में देव, नाग, यक्ष , भूत आदि की सम्यग् आराधना न होती हो वहा अल्पवृष्टि होती है। ३. जहां से जलयोनि के पुद्गलों अर्थात् बादलो को वायु अन्यत्र खींच ले जाता है अथवा बिखेर देता है वहा अल्पवृष्टि होती है। इनसे ठीक विपरीत तीन कारणों से बहुवृष्टि अथवा महावृष्टि होती है। यहा बताये गये देव, नाग, यक्ष, भूत आदि की आराधना रूप कारण का वृष्टि के साथ क्या कार्यकारण सम्बन्ध है, यह समझ मे नहीं आता। सम्भव है, इसका सम्बन्ध वैदिक परम्परा की उस मान्यता से हो जिसमें यज्ञ द्वारा देवो को प्रसन्न कर उनके द्वारा मेघो का प्रादुर्भाव माना जाता है।

इस प्रकार इन दोनों अंगों में अनेक विषयो का परिचय प्राप्त होता है। वृत्तिकार ने अति परिश्रमपूर्वक इन पर विवेचन लिखा है। इससे सूत्रों को समझने में बहुत सहायता मिलती है। यदि यह वृत्ति न होती तो इन अगो को सम्पूर्णतया समझना अशक्य नहीं तो भी दु शक्य तो अवश्य होता। इस दृष्टि से वृत्तिकार की बहुश्रुतता, प्रवचनभक्ति एव अन्य परम्परा के ग्रन्थों का उपयोग की वृत्ति विशेष प्रशसनीय है।

प्रकरण ६

व्याख्या प्रज्ञप्ति

मंगल
प्रश्नकार गौतम
प्रश्नोत्तर
देवगति
कांक्षामोहनीय
लोक का आधार
पार्श्वापत्य
वनस्पतिकाय
जीव की समानता
केवली
श्वासोच्छ्वास
जमालि-चरित
शिवराजर्षि
परिव्राजक तापस
स्वर्ग
देवभाषा
गोशालक
वायुकाय व अग्निकाय
जरा व शोक
सावद्य व निरवद्य भाषा
सम्यग्दृष्टि व मिथ्यादृष्टि देव
स्वप्न
कोणिक का प्रधान हाथी

कम्प
नरकस्थ एव स्वर्गस्थ पृथ्वीकायिक आदि जीव
प्रथमता-अप्रथमता
कार्तिक सेठ
माकंदी अनगार
युग्म
पुद्गल
मद्रुक श्रमणोपासक
पुद्गल-ज्ञान
यापनीय
मास
विविध
उपसहार

षष्ठ प्रकरण

व्याख्याप्र ति

पाचवें अग का नाम वियाहपण्णत्ति—व्याख्याप्रज्ञप्ति[1] है। अन्य अगो की अपेक्षा अधिक विशाल एव इसीलिए अधिक पूज्य होने के कारण इसका दूसरा

---

1 (अ) अभयदेवकृत वृत्तिसहित—आगमोदय समिति, बम्बई, सन् १९१८-१९२१, धनपतसिंह, बनारस, सन् १८८२, ऋषभदेवजी केशरीमलजी जैन श्वे० सस्था, रतलाम, सन् १९३७ १९४० (२४ शतक तक)

(आ) १५वें शतक का अग्रेजी अनुवाद—Hoernle, Appendix to उपासकदशा, Bibliotheca Indica, Calcutta, 1885-1888

(इ) षष्ठ शतक तक अभयदेवकृत वृत्ति व उसके गुजराती अनुवाद के साथ—बेचरदास दोशी, जिनागम प्रकाशक सभा, बम्बई, वि स १९७४-१९७९, शतक ७ १५ मूल व गुजराती अनुवाद—भगवानदास दोशी, गुजरात विद्यापीठ, अहमदाबाद, वि स १९८५, शतक १६-४१ मूल व गुजराती अनुवाद—भगवानदास दोशी, जैन साहित्य प्रकाशन ट्रस्ट, अहमदाबाद, वि स १९८८

(ई) भगवतीसार गुजराती छायानुवाद—गोपालदास जीवाभाई पटेल, जैन साहित्य प्रकाशन समिति, अहमदाबाद, सन् १९३८

(उ) हिन्दी विषयानुवाद (शतक १-२०)—मदनकुमार मेहता, श्रुत-प्रकाशन-मदिर, कलकत्ता, वि स २०११

(क) सस्कृत व्याख्या व उसके हिन्दी-गुजराती अनुवाद के साथ—मुनि घासीलाल, जैन शास्त्रोद्धार समिति, राजकोट, सन् १९६१

(ख) हिन्दी अनुवाद के साथ—अमोलक ऋषि, हैदराबाद, वी सं २४४६

नाम भगवती भी प्रसिद्ध है। विद्यमान व्याख्याप्रज्ञप्ति का ग्रंथाग्र १५००० श्लोक प्रमाण है। इसका प्राकृत नाम वियाहपण्णत्ति है किन्तु लेखकों—प्रतिलिपिकारों की असावधानी के कारण कहीं कही विवाहपण्णत्ति तथा विबाहपण्णत्ति पाठ भी उपलब्ध होता है। इस प्रकार वियाहपण्णत्ति, विवाहपण्णत्ति एव विबाहपण्णत्ति इन तीन पाठो में वियाहपण्णत्ति पाठ ही प्रामाणिक एव प्रतिष्ठित है। जहा-कहीं यह नाम सस्कृत में आया है, सर्वत्र व्याख्याप्रज्ञप्ति शब्द का ही प्रयोग हुआ है। वृत्तिकार अभयदेवसूरि ने इन तीनों पाठो में से वियाहपण्णत्ति पाठ की व्याख्या सर्वप्रथम करके इस पाठ को विशेष महत्व दिया है। व्याख्याप्रज्ञप्ति शब्द की व्याख्या वृत्तिकार ने अनेक प्रकार से की है

१ वि+आ + ख्या + प्र + ज्ञप्ति अर्थात् विविध प्रकार से समग्रतया कथन का प्रकृष्ट निरूपण। जिस ग्रथ मे कथन का विविध ढग से सम्पूर्णतया प्रकृष्ट निरूपण किया गया हो वह ग्रथ व्याख्याप्रज्ञप्ति कहलाता है - वि विविधा, आ अभिविधिना, ख्या ख्यानानि भगवतो महावीरस्य गौतमादिविनेयान् प्रति प्रश्नितपदार्थप्रतिपादनानि व्याख्या. ता प्रज्ञाप्यन्ते प्ररूप्यन्ते भगवता सुधर्मस्वामिना जम्बूनामानमभि यस्याम्।

२ वि + आख्या + प्रज्ञप्ति अर्थात् विविधतया कथन का प्रज्ञापन। जिस शास्त्र में विविध रूप से कथन का प्रतिपादन किया गया हो उसका नाम है व्याख्याप्रज्ञप्ति। वृत्तिकार ने इस व्याख्या को यों बताया है • वि विविधतया विशेषेण वा आख्यायन्ते इति व्याख्या ता प्रज्ञाप्यन्ते यस्याम्।

३. व्याख्या + प्रज्ञा + आप्ति अथवा आत्ति अर्थात् व्याख्यान की कुशलता से प्राप्त होने वाला अथवा ग्रहण किया जाने वाला श्रुतविशेष व्याख्याप्रज्ञाप्ति अथवा व्याख्याप्रज्ञात्ति कहलाता है।

४. व्याख्याप्रज्ञ + आप्ति अथवा आत्ति अर्थात् व्याख्या करने मे प्रज्ञ अर्थात् कुशल भगवान् से गणधर को जिस ग्रथ द्वारा ज्ञान की प्राप्ति हो अथवा कुछ ग्रहण करने का अवसर मिले उसका नाम व्याख्याप्रज्ञाप्ति अथवा व्याख्याप्रज्ञात्ति है।

विवाहप्रज्ञप्ति की व्याख्या वृत्तिकार ने इस प्रकार की है वि + वाह + प्रज्ञप्ति अर्थात् विविध प्रवाहो का प्रज्ञापन। जिस शास्त्र में विविध अथवा विशिष्ट अर्थप्रवाहों का प्ररूपण किया गया हो उसका नाम है विवाहप्रज्ञप्ति—विवाहपण्णत्ति।

इसी प्रकार विबाधप्रज्ञप्ति का अर्थ बताते हुए वृत्तिकार ने लिखा है कि वि अर्थात् रहित, बाध अर्थात् बाधा एव प्रज्ञप्ति अर्थात् निरूपण यानी जिस ग्रथ में

वाधारहित अर्थात् प्रमाण से अबाधित निरूपण उपलब्ध हो उसका नाम विवाध-प्रज्ञप्ति—विवाहपण्णत्ति है। इन शब्दो मे भी प्राप्ति एव आत्ति जोड कर पूर्ववत् अर्थ समझ लेना चाहिए।

उपलब्ध व्याख्याप्रज्ञप्ति में जो शैली विद्यमान है वह गौतम के प्रश्नों एव भगवान् महावीर के उत्तरो के रूप मे है। यह शैली अति प्राचीन प्रतीत होती है। अचेलक परम्परा के ग्रथ राजवार्तिक में भट्ट अकलक ने व्याख्याप्रज्ञप्ति में इस प्रकार की शैली होने का स्पष्ट उल्लेख किया है: एवं हि व्याख्या-प्रज्ञप्तिदण्डकेषु उक्तम् इति गौतमप्रश्ने भगवता उक्तम् (अ० ४, सू० २६, पृ० २४५)।

इस अग के प्रकरणो को 'सय'—'शत' नाम दिया गया है। जैन परम्परा में 'शतक' शब्द प्रसिद्ध ही है। यह 'शत' का ही रूप है। प्रत्येक प्रकरण के अन्त मे 'सय समत्त' ऐसा पाठ मिलता है। शत अथवा शतक में उद्देशक रूप उपविभाग हैं। ऐसे उपविभाग कुछ शतको मे दस-दस हैं और कुछ में इससे भी अधिक हैं। इकतालीसवें शतक में १९६ उद्देशक हैं। कुछ शतकों में उद्देशको के स्थान पर वर्ग हैं जब कि कुछ में शतनामक उपविभाग भी हैं एव इनकी सख्या १२४ तक है। केवल पद्रहवें शतक मे कोई उपविभाग नही है। शत अथवा शतक का अर्थ सौ होता है। इन शतको में सौ का कोई सम्बन्ध दृष्टिगोचर नहीं होता। यह शत अथवा शतक नाम प्रस्तुत ग्रन्थ मे रूढ है। कदाचित् कभी यह नाम अन्वर्थ रहा हो। इस सम्बन्ध में वृत्तिकार ने कोई विशेष स्पष्टीकरण नहीं किया है।

मगल

भगवती के अतिरिक्त अग अथवा अगबाह्य किसी भी सूत्र के प्रारभ मे मगल का कोई विशेष पाठ उपलब्ध नहीं होता। इस पाचवें अग के प्रारभ मे 'नमो अरिहताण' आदि पाच पद देकर शास्त्रकार ने मगल किया है। इसके वाद 'नमो वभीए लिवीए' द्वारा ब्राह्मी लिपि को भी नमस्कार किया है। तदनन्तर प्रस्तुत अग के प्रथम शतक के उद्देशकों मे वर्णित विषयों का निर्देश करनेवाली एक सग्रह-गाथा दी गई है। इस गाथा के बाद 'नमो सुअस्स' रूप एक मगल और आता है। इसे प्रथम शतक का मगल कह सकते हैं। शतक के प्रारभ में उपोद्घात है जिसमें राजगृह नगर, गुणशिलक चैत्य, राजा श्रेणिक तथा रानी

चिल्लणा का उल्लेख है। इसके बाद भगवान् महावीर तथा उनके गुणो का विस्तृत वर्णन है। तदनन्तर भगवान् के प्रथम शिष्य इन्द्रभूति गौतम, उनके गुण, शरीर आदि का विस्तृत परिचय है। इसके बाद 'इद्रभूति ने भगवान् से यों कहा' इस प्रकार के उल्लेख के साथ इस सूत्र में आने वाले प्रथम प्रश्न की शुरुआत होती है। वैसे तो इस सूत्र मे अनेक प्रकार के प्रश्न व उनके उत्तर हैं किन्तु अधिक भाग स्वर्गों, सूर्यों, इन्द्रो, असुरकुमारो, असुरकुमारेन्द्रो, उनकी अग्रमहिषियो, उनके लोकपालो, नरको आदि से सम्बन्धित है। कुछ प्रश्न एक ही समान हैं। उनके उत्तर पूर्ववत् समझ लेने का निर्देश किया गया है। कुछ स्थानो पर पन्नवणा, जीवाभिगम, नदी आदि के समान तद्-तद् विषयो को समझ लेने का भी उल्लेख किया गया है। वैसे देखा जाय तो प्रथम शतक विशेष महत्त्वपूर्ण है। आगे के शतकों में किसी न किसी रूप में प्राय प्रथम शतक के विषयो की ही चर्चा की गई है। कुछ स्थानो पर अन्यतीर्थिकों के मत दिये गये हैं किन्तु उनका कोई विशेष नाम नही बताया गया है। इस अग में भगवान् पार्श्वनाथ के शिष्यो की चर्चा भी आती है। उन्हे पार्श्वापत्य कहा गया है। इसमें श्रावको द्वारा की गई चर्चा भी आती है। श्राविका के रूप में तो एकमात्र जयती श्राविका की ही चर्चा दिखाई देती है। इस सूत्र मे भगवान् महावीर के समकालीन मखलिपुत्र गोशाल के विषय मे विस्तृत विवेचन है। गोशाल के कुछ सहायको को 'पासत्थ' शब्द से निर्दिष्ट किया गया है। चूर्णिकार ने इन्हें पार्श्वनाथ के अनुयायी कहा है।

प्रश्नकार गौतम

सूत्र के प्रारभ में जहा प्रश्नो की शुरुआत होती है वहा वृत्तिकार के मन में यह प्रश्न उठता है कि प्रश्नकार गौतम स्वय द्वादशागी के विधाता हैं, श्रुत के समस्त विषयो के ज्ञाता हैं तथा सब प्रकार के संशयो से रहित हैं। इतना ही नहीं, ये सर्वज्ञ के समान हैं तथा मति, श्रुत, अवधि एव मनःपर्याय ज्ञान के धारक हैं। ऐसी स्थिति में उनका सशययुक्त सामान्य जन की भाति प्रश्न पूछना कहां तक युक्तिसगत है? इसका उत्तर वृत्तिकार इस प्रकार देते हैं।—

१, गौतम कितने ही अतिशययुक्त क्यों न हों, उनसे भूल होना असभव नहीं क्योंकि आखिर वे हैं तो छद्मस्थ ही।

२ खुद जानते हुए भी अपने ज्ञान की अविसवादिता के लिए प्रश्न पूछ सकते हैं।

३ खुद जानते हुए भी अन्य अज्ञानियो के बोध के लिए पूछ सकते हैं।
४ शिष्यो को अपने वचन मे विश्वास बैठाने के लिए पूछ सकते हैं।
५ सूत्ररचना की यही पद्धति है—शास्त्ररचना का इसी प्रकार का आधार है।

इन पाच हेतुओ में से अन्तिम हेतु विशेष युक्तियुक्त मालूम होता है।

प्रश्नोत्तर

प्रथम शतक में कुछ प्रश्न व उनके उत्तर इस प्रकार हैं :—

प्रश्न—क्या पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु एवं वनस्पति जीवरूप हैं ? इन जीवो की आयु कितनी होती है ?

उत्तर—पृथ्वीकायरूप आदि जीव हैं और उनमें से पृथ्वीकायरूप जीवो की आयु कम से कम अन्तर्मूहूर्त व अधिक से अधिक बाईस हजार वर्ष की होती है। जलकाय के जीवों की आयु अधिक से अधिक सात हजार वर्ष, अग्निकाय के जीवो की आयु अधिक से अधिक तीन अहोरात्रि, वायुकाय के जीवों की आयु अधिक से अधिक तीन हजार वर्ष एवं वनस्पतिकाय के जीवों की आयु अधिक से अधिक दस हजार वर्ष की होती है। इन सब की कम से कम आयु अन्तर्मुहूर्त है।

प्रश्न—पृथ्वीकाय यावत् वनस्पतिकाय के जीव कितने समय में श्वास लेते हैं।

उत्तर—विविध समय में अर्थात् विविध रीति से श्वास लेते हैं।

प्रश्न—क्या ये सब जीव आहार लेते हैं ?

उत्तर—हां, ये सभी जीव आहार लेते हैं।

प्रश्न—ये सब जीव कितने समय में आहार ग्रहण करते हैं ?

उत्तर—ये सब जीव निरन्तर आहार ग्रहण करते हैं।

ये जीव जिन पुद्गलों का आहार करते हैं वे काले, नीले, पीले, लाल एव सफेद होते हैं। ये सब सुगंधी भी होते हैं और दुर्गंधी भी। स्वाद में सब प्रकार के स्वादो से युक्त होते हैं एव स्पर्श में सब प्रकार के स्पर्शवाले होते हैं।

इसी प्रकार के प्रश्न द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय एव चतुरिन्द्रिय सम्बन्धी भी हैं।

प्रश्न—जीव आत्मारंभी हैं, परारंभी हैं, उभयारंभी हैं अथवा अनारंभी हैं ?

उत्तर—कुछ जीव आत्मारंभी भी हैं, परारंभी भी हैं उभयारंभी भी हैं तथा कुछ जीव आत्मारंभी भी नहीं हैं, परारंभी भी नहीं हैं और उभयारंभी भी नहीं हैं किन्तु केवल अनारंभी हैं।

यहा आरम्भ का अर्थ आस्रवद्वार सम्बन्धी प्रवृत्ति है। यतनारहित आचरण करने वाले समस्त जीव आरभी ही हैं। यतनासहित एव शास्त्रोक्त विधान के अनुसार आचरण करनेवाले जीव भी वैसे तो आरभी हैं किन्तु यतना की अपेक्षा से अनारभी हैं। सिद्ध आत्माए अशरीरी होने के कारण अनारभी ही हैं।

प्रश्न—क्या असयत अथवा अविरत जीव भी मृत्यु के बाद देव होते हैं ?

उत्तर—हा, होते हैं।

प्रश्न—यह कैसे ?

उत्तर—जिन्होंने भूख, प्यास, डास, मच्छर आदि के उपसर्ग अनिच्छा से भी सहे हैं वे वाणव्यन्तर नामक देवो की गति प्राप्त करते हैं। जिन्होंने ब्रह्मचर्य का अनिच्छा से भी पालन किया है इस प्रकार की कुलीन बालविधवाएं अथवा अश्व आदि प्राणी देवगति प्राप्त करते हैं। जिन्होने अनिच्छापूर्वक भी शीत, ताप आदि सहन किया है वे भी देवगति प्राप्त करते हैं।

प्रथम शतक के द्वितीय उद्देशक के प्रारभ मे इस प्रकार का उपोद्घात है कि भगवान् महावीर राजगृह में आये तथा देशना दी। इसके बाद स्वकृत कर्म के वेदन की चर्चा है। जीव जिस किसी सुख अथवा दुःख का अनुभव करता है वह सब स्वकृत ही होता है, परकृत नहीं। इस कथन से ईश्वरादिकर्तृत्व का निरसन होता है।

देवगति

जो असयत हैं अर्थात् ऊपर-ऊपर से सयम के उग्र अनुष्ठानों का आचरण करने वाले हैं एव भीतर से केवल मान-पूजा-प्रतिष्ठा के ही अभिलाषी हैं वे मर कर कम से कम भवनवासी नामक देवगति मे उत्पन्न होते हैं व अधिक से अधिक ग्रैवेयक नामक विमान में देवरूप से उत्पन्न होते हैं। जो सयम की अधिकाशतया निर्दोष आराधना करते हैं वे कम से कम सौधर्म नामक स्वर्ग में व अधिक से अधिक सर्वार्थसिद्ध नामक विमान में देव होते हैं। जिन्होने सयम की विराधना की हो अर्थात् संयम का दूषित ढग से पालन किया हो वे कम से कम भवनवासी देवयोनि में व अधिक से अधिक सौधर्म देवलोक में जन्म ग्रहण करते हैं। जो श्रावकधर्म का अधिकाशतया निर्दोष ढग से पालन करते हैं वे कम से कम सौधर्म देवलोक में व अधिक से अधिक अच्युत विमान में देवरूप से उत्पन्न होते हैं। जिन्होंने श्रावकधर्म का दूषित ढंग से पालन किया हो वे कम से कम भवनवासी व अधिक

से अधिक ज्योतिष्क देव होते हैं। जो जीव असंज्ञी हैं अर्थात् मन-रहित हैं वे परवशता के कारण दुःख सहन कर भवनवासी देव होते हैं अथवा वाणव्यन्तर की गति प्राप्त करते हैं। तापस लोग अर्थात् जो जिनप्रवचन का पालन करने वाले नहीं हैं वे घोर तप के कारण कम से कम भवनवासी एवं अधिक से अधिक ज्योतिष्क देवों की गति प्राप्त करते हैं। जो कादर्पिक हैं अर्थात् बहुरूपादि द्वारा दूसरों को हँसाने वाले हैं वे केवल बाह्यरूप से जैन संयम की आराधना कर कम से कम भवनवासी एवं अधिक से अधिक सौधर्म देव होते हैं। चरक अर्थात् जोर से आवाज लगाकर भिक्षा प्राप्त करने वाले त्रिदंडी, लंगोटधारी तथा परिव्राजक अर्थात् कपिलमुनि के शिष्य कम से कम भवनवासी देव होते हैं एवं अधिक से अधिक ब्रह्मलोक नामक स्वर्ग तक पहुँचते हैं। किल्विषिक अर्थात् बाह्यतया जैन संयम की साधना करते हुए भी जो ज्ञान का, ज्ञानी का, धर्माचार्य का, साधुओं का अवर्णवाद याने निन्दा करने वाले हैं वे कम से कम भवनवासी देव होते हैं एवं अधिक से अधिक लांतक नामक स्वर्ग तक पहुँचते हैं। जिनमार्गानुयायी तिर्यञ्च अर्थात् गाय, बैल, घोड़ा आदि कम से कम भवनवासी देवरूप से उत्पन्न होते हैं एवं अधिक से अधिक लांतक से भी आगे आये हुए सहस्रार नामक स्वर्ग तक जाते हैं। वृत्तिकार ने बताया है कि तिर्यञ्च भी अपनी मर्यादा के अनुसार श्रावकधर्म का पालन कर सकते हैं। आजीविक अर्थात् आजीविक मत के अनुयायी कम से कम भवनवासी देव होते हैं एवं अधिक से अधिक सहस्रार से भी आगे आये हुए अच्युत नामक स्वर्ग तक जा सकते हैं। आभियोगिक अर्थात् जो जैन वेषधारी होते हुए भी मंत्र, तंत्र, वशीकरण आदि का प्रयोग करने वाले हैं, सिर पर विभूति अर्थात् वासक्षेप डालने वाले हैं, प्रतिष्ठा के लिए निमित्तशास्त्र आदि का उपयोग करने वाले हैं वे कम से कम भवनवासी देव होते हैं एवं अधिक से अधिक अच्युत नामक स्वर्ग में जाते हैं। स्वलिंगी अर्थात् केवल जैन वेष धारण करने वाले सम्यग्दर्शनादि से भ्रष्ट साधु कम से कम भवनवासी देवरूप से उत्पन्न होते हैं व अधिक से अधिक ग्रैवेयक विमान में देव बनते हैं। यह सब देवगति प्राप्त होने की अवस्था में ही समझना चाहिए, अनिवार्य रूप में अर्थात् सामान्य नियम के तौर पर नहीं।

उपर्युक्त उल्लेख में महावीर के समकालीन आजीविकों, वैदिक परम्परा के तापसों एवं परिव्राजकों तथा जैन श्रमण श्रमणियों एवं श्रावक श्राविकाओं का निर्देश है। इसमें केवल एक बौद्ध परम्परा के भिक्षुओं का कोई नामनिर्देश नहीं है। ऐसा

क्यों ? यह एक विचारणीय प्रश्न है। यह भी विचारणीय है कि जो केवल जैन वेषधारी हैं व बाह्यतया जैन अनुष्ठान करने वाले हैं किन्तु वस्तुत सम्यग्दर्शनरहित हैं वे ऊँचे से ऊंचे स्वर्ग तक कैसे पहुँच सकते हैं जबकि उसी प्रकार के अन्य वेषधारी मिथ्यादृष्टि वहाँ तक नहीं पहुँच सकते। तात्पर्य यह जान पड़ता है कि जैन बाह्य आचार की कठिनता और उग्रता अन्य श्रमणों और परिव्राजकों की अपेक्षा अधिक सयमप्रधान थी जिसमे हिंसा आदि पापाचार की बाह्यरीति से सभावना कम थी। अतएव दर्शनविशुद्धि न होने पर भी अन्य मिथ्यादृष्टि की अपेक्षा जैनश्रमणो को उच्च स्थान दिया गया है।

कांक्षामोहनीय

निर्ग्रंथ श्रमण कांक्षामोहनीय कर्म का किस प्रकार वेदन करते हैं—अनुभव करते हैं। इसका उत्तर देते हुए सूत्रकार ने आगे बताया है कि ज्ञानान्तर, दर्शनान्तर, चारित्रान्तर, लिंगान्तर, प्रवचनान्तर, प्रावचनिकान्तर, कल्पान्तर, मार्गान्तर, मतान्तर, भगान्तर, नयान्तर, नियमान्तर एव प्रमाणान्तररूप कारणों से शंकित, कांक्षित, विचिकित्सित, बुद्धिभेद तथा चित्त की कलुषितता को प्राप्त नर्ग्रन्थ श्रमण कांक्षामोहनीय कर्म का वेदन करते हैं। इन कारणो की व्याख्या वृत्तिकार ने इस प्रकार की है —

ज्ञानान्तर—मति, श्रुत, अवधि, मन पर्याय व केवल रूप पाँच ज्ञानों—ज्ञान के प्रकारो के विषय में शका करना।

दर्शनान्तर—चक्षुर्दर्शन, अचक्षुर्दर्शन आदि दर्शन के अवान्तर भेदों के विषय में श्रद्धा न रखना अथवा सम्यक्त्वरूप दर्शन के औपशमिकादि भेदो के विषय में शंका करना।

चारित्रान्तर—सामायिक, छेदोपस्थापनीय आदि रूप चारित्र के प्रति सशय रखना।

प्रवचनान्तर—चतुर्याम एवं पचयाम के भेद के विषय में शका करना।

प्रावचनिकान्तर – प्रावचनिक अर्थात् प्रवचन का ज्ञाता। प्रावचनिको के भिन्न-भिन्न आचार-प्रकारों के प्रति शका करना।

कल्पान्तर—कल्प अर्थात् आचार। आचार के सचेलकत्व, अचेलकत्व आदि भेदो के प्रति सशय रखना।

मार्गान्तर—मार्ग अर्थात् परम्परा से चली आने वाली सामाचारी। विविध प्रकार की सामाचारी के विषय मे अश्रद्धा रखना।

मतान्तर—परम्परा से चले आने वाले मत-मतांतरों के प्रति अश्रद्धा रखना।

नियमान्तर—एक नियम के अन्तर्गत अन्य नियमान्तरो के प्रति अविश्वास रखना।

प्रमाणान्तर—प्रत्यक्षरूप एक प्रमाण के अतिरिक्त अन्य प्रमाणों के प्रति विश्वास न रखना।

इसी प्रकार अन्य कारणो के स्वरूप के विषय में भी समझ लेना चाहिए।

रोह अनगार के इस प्रश्न के उत्तर में कि जीव पहले है या अजीव, भगवान् ने बताया है कि इन दोनो में से अमुक पहले है और अमुक बाद में, ऐसा कोई क्रम नहीं है। ये दोनो पदार्थ शाश्वत हैं—नित्य हैं।

लोक का आधार

गौतम के इस प्रश्न के उत्तर मे कि समग्र लोक किसके आधार पर रहा हुआ है, भगवान् ने बताया है कि आकाश के आधार पर वायु, वायु के आधार पर समुद्र, समुद्र के आधार पर पृथ्वी तथा पृथ्वी के आधार पर समस्त त्रस एव स्थावर जीव रहे हुए हैं। समस्त अजीव जीवों के आधार पर रहे हुए हैं। लोक का ऐसा आधार-आधेय भाव है, यह किस आधार पर कहा जा सकता है? इसके उत्तर में निम्न उदाहरण दिया गया है —

एक बडो मशक मे हवा भर कर ऊपर से बाध दी जाय। बाद में उसे बीच से बांध कर ऊपर का मुंह खोल दिया जाय। इससे ऊपर के भाग की हवा निकल जायगी। फिर उस खाली भाग मे पानी भर कर ऊपर से मुह बाध दिया जाय व बीच की गाठ खोल दी जाय। इससे ऊपर के भाग में भरा हुआ पानी नीचे भरी हुई हवा के आधार पर टिका रहेगा। इसी प्रकार लोक पवन के आधार पर रहा हुआ है। अथवा जैसे कोई मनुष्य अपनी कमर पर हवा से भरी हुई मशक बांध कर पानी के ऊपर तैरता रहता है, डूबता नहीं उसी प्रकार वायु के आधार पर समग्र लोक टिका हुआ है। इन उदाहरणों की परीक्षा आसानी से की जा सकती है।

पार्श्वापत्य

पार्श्वनाथ की परम्परा के श्रमणो अर्थात् पार्श्वापत्यो द्वारा पूछे गये कुछ प्रश्न प्रस्तुत सूत्र मे सगृहीत हैं। कालासवेसियपुत्त नामक पार्श्वापत्य भगवान् महावीर के शिष्यो से कहते हैं कि हे स्थविरो! आप लोग सामायिक नहीं जानते, सामायिक का अर्थ नही जानते, प्रत्याख्यान नहीं जानते, प्रत्याख्यान का अर्थ नहीं जानते, संयम नहीं जानते, संयम का अर्थ नही जानते, सवर व सवर का अर्थ नहीं जानते, विवेक व विवेक का अर्थ नही जानते, व्युत्सर्ग व व्युत्सर्ग का अर्थ नहीं जानते। यह सुन कर महावीर के शिष्य कालासवेसियपुत्त से कहते हैं कि हे आर्य! हम लोग सामायिक आदि व सामायिक आदि का अर्थ जानते हैं। यह सुन कर पार्श्वापत्य अनगार ने उन स्थविरो से पूछा कि यदि आप लोग यह सब जानते हैं तो बताइए कि सामायिक आदि क्या हैं व सामायिक आदि का अर्थ क्या है? इसका उत्तर देते हुए वे स्थविर कहने लगे कि अपनी आत्मा सामायिक है व अपनी आत्मा ही सामायिक का अर्थ है। इसी प्रकार आत्मा ही प्रत्याख्यान व प्रत्याख्यान का अर्थ है, इत्यादि। यह सुन कर पार्श्वापत्य अनगार ने पूछा कि यदि ऐसा है तो फिर आप लोग क्रोध, मान, माया व लोभ का त्याग करने के बाद इनकी गर्हा—निन्दा क्यो करते हैं? इसके उत्तर मे स्थविरों ने कहा कि सयम के लिए हम क्रोधादि की गर्हा करते हैं। यह सुन कर कालासवेसियपुत्त ने पूछा कि गर्हा सयम है या अगर्हा? स्थविरो ने कहा कि गर्हा सयम है, अगर्हा सयम नही। गर्हा समस्त दोषो को दूर करती है एव उसके द्वारा हमारी आत्मा सयम में स्थापित होती है। इससे आत्मा मे सयम का उपचय अर्थात् सग्रह होता है। यह सब सुन कर कालासवेसियपुत्त को सतोष हुआ और उन्होंने महावीर के स्थविरो को वदन किया, नमन किया व यह स्वीकार किया कि सामायिक से लेकर व्युत्सर्ग तथा गर्हा तक के सब पदों का मुझे ऐसा ज्ञान नहीं है। मैंने इस विषय में ऐसा विवेचन भी नही सुना है। इन सब पदो का मुझे ज्ञान नहीं है, अभिगम नही है अत. ये सब पद मेरे लिए अदृष्ट हैं, अश्रुतपूर्व हैं, अस्मृतपूर्व हैं, अविज्ञात हैं, अव्याकृत हैं, अपृथक्कृत हैं, अनुद्धृत हैं, अनवधारित हैं। इसीलिए जैसा आपने कहा वैसी मुझे श्रद्धा न थी, प्रतीति न थी, रुचि न थी। अब आपकी बताई हुई सारी बातें मेरी समझ में आ गई हैं एव वैसी ही मेरी श्रद्धा, प्रतीति व रुचि हो गई है। यों कह कर कालासवेसियपुत्त ने उन स्थविरो की परम्परा में मिल जाने का अपना विचार व्यक्त किया। स्थविरो

की अनुमति से वे उनमे मिल गये एवं नग्नभाव, मुडभाव, अस्नान, अदंतधावन, अछत्र, अनुपानहता (जूते का त्याग), भूमिशय्या, ब्रह्मचर्यवास, केशलोच, भिक्षाग्रहण आदि नियमों का पालन कर सिद्ध, बुद्ध, मुक्त हुए।

इस उल्लेख से यह स्पष्ट मालूम होता है कि श्रमण भगवान् महावीर व श्रमण भगवान् पार्श्वनाथ की परम्पराओं के बीच विशेष भेद था। इनके साधु एक-दूसरे की मान्यताओ से अपरिचित थे। इनमे परस्पर वदनव्यवहार भी न था। सूत्रकृताग के वीरस्तुति अध्ययन मे स्पष्ट बताया गया है कि भगवान् महावीर ने स्त्रीत्याग एवं रात्रिभोजनविरमण रूप दो नियम नये वढाये थे।

पाचवें शतक में भी पार्श्वपत्य स्थविरो की चर्चा आती है। उसमे यह बताया गया है कि पार्श्वपत्य भगवान् महावीर के पास आकर विना वदना-नमस्कार किये ही अथवा अन्य किसी प्रकार से विनय का भाव दिखाये विना ही उनसे पूछते हैं कि असख्येय लोक में रात्रि व दिवस अनन्त होते हैं अथवा परिमित ? भगवान् दोनों विकल्पो का उत्तर हाँ मे देते हैं। इसका अर्थ यह है कि असंख्येय लोक में रात्रि व दिवस अनन्त भी होते हैं और परिमित भी। तब वे पार्श्वापत्य भगवान् से पूछते हैं कि यह कैसे ? इसके उत्तर में महावीर कहते हैं कि आपके पुरुषादानीय पार्श्व अर्हत् ने लोक को शाश्वत कहा है, अनादि कहा है, अनन्त कहा है तथा परिमित भी कहा है। इसलिए उसमे रात्रि-दिवस अनन्त भी होते हैं तथा परिमित भी। यह सुनकर उन पार्श्वपत्यों ने भगवान् महावीर को सर्वज्ञ एव सर्वदर्शी के रूप मे पहचाना, उन्हें वन्दना-नमस्कार किया एव उनकी परम्परा को स्वीकार किया।

इस उल्लेख से यह स्पष्ट है कि भगवान् महावीर व पार्श्वनाथ एक ही परम्परा के तीर्थंकर हैं, यह तथ्य पार्श्वापत्यो को ज्ञात न था।

इसी प्रकार का एक उल्लेख नवें शतक में भी आता है। गागेय नामक पार्श्वपत्य अनगार ने बिना वदना-नमस्कार किये ही भगवान् महावीर से नरकादि विषयक कुछ प्रश्न पूछे जिनका महावीर ने उत्तर दिया। इसके बाद ही गागेय ने भगवान् को सर्वज्ञ-सर्वदर्शी के रूप मे पहचाना। इसके पूर्व उन्हें इस बात का पता न था अथवा निश्चय न था कि महावीर तीर्थंकर हैं, केवली हैं।

वनस्पतिकाय

शतक सातवें व आठवें में वनस्पतिसम्बन्धी विवेचन है। सातवें शतक के तृतीय उद्देशक में बताया गया है कि वनस्पतिकाय के जीव किस ऋतु में अधिक

से अधिक आहार ग्रहण करते हैं व किस ऋतु में कम से कम आहार लेते हैं ? प्रावृट्ऋतु में अर्थात् श्रावण-भाद्रपद मे तथा वर्षाऋतु में अर्थात् आश्विन-कार्तिक में वनस्पतिकायिक जीव अधिक से अधिक आहार लेते हैं। शरद्ऋतु, हेमतऋतु, वसन्तऋतु एव ग्रीष्मऋतु में इनका आहार उत्तरोत्तर कम होता जाता है अर्थात् ग्रीष्मऋतु मे वनस्पतिकायिक जीव कम से कम आहार ग्रहण करते हैं। यह कथन वर्तमान विज्ञान की दृष्टि से विचारणीय है। इसी उद्देशक में आगे बताया गया है कि आलू आदि अनन्त जीववाले वनस्पतिकायिक हैं। यहाँ मूल में 'आलुअ' शब्द का प्रयोग किया गया है। यह आलू अथवा आलुक नामक वनस्पति वर्तमान मे प्रचलित आलू से मिलती-जुलती एक भिन्न प्रकार की वनस्पति मालूम पडती हैं क्योंकि उस समय भारत मे आलू की खेती होती थी अथवा नहीं, यह निश्चित नहीं है। प्रसंगवशात् यह कहना भी अनुचित न होगा कि आलू मूगफली की ही तरह डालियो पर लगने के कारण कदमूल में नही गिने जा सकते। भगवान् ऋषभदेव के जमाने में युगलिक लोग कदाहारी-मूलाहारी होते थे फिर भी वे स्वर्ग में जाते थे। क्या वे कद और मूल वर्तमान कद व मूल से भिन्न तरह के होते थे ? वस्तुत. सद्गति का सबध मूलगुणो के पालन से अर्थात् जीवनशुद्धि से है, न कि कदादि के भक्षण और अभक्षण से।

जीव की समानता

सातवें शतक के आठवें उद्देशक मे भगवान् ने बताया है कि हाथी और कुथु का जीव समान है। विशेष वर्णन के लिए सूत्रकार ने रायपसेणइज्ज सूत्र देखने की सूचना दी है। रायपसेणइज्ज में केशिकुमार श्रमण ने राजा पएसी के साथ आत्मा के स्वतन्त्र अस्तित्व के विषय में चर्चा की है। उस प्रसग पर एक प्रश्न के उत्तर में दीपक के प्रकाश का उदाहरण देकर हाथी और कुथु के जीव की समानता समझाई गई है। इससे जीव की सकुचन-प्रसारणशीलता सिद्ध होती है।

केवली

छठे शतक के दसवें उद्देशक में एक प्रश्न हे कि क्या केवली इन्द्रियों द्वारा जानता है, देखता है ? उत्तर में बताया गया है कि नहीं, ऐसा नही होता। अठारहवें शतक के सातवें उद्देशक में एक प्रश्न है कि जब केवली के शरीर में यक्ष का आवेश आता है तब क्या वह अन्यतीर्थिको के कथनानुसार दो भाषाएँ—असत्य

और सत्यासत्य बोलता है ? इसका उत्तर देते हुए बताया गया है कि अन्य-तीर्थिकों का यह कथन मिथ्या है। केवली के शरीर में यक्ष का आवेश नहीं आता अत यक्ष के आवेश से आवेष्टित होकर वह इस प्रकार की दो भाषाएं नहीं बोलता। केवली सदा सत्य और असत्यमृषा—इस प्रकार की दो भाषाए बोलता है।

श्वासोच्छ्वास .

द्वितीय शतक के प्रथम उद्देशक मे प्रश्न है कि द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पचेन्द्रिय जीवो की तरह क्या पृथ्वीकायिक आदि एकेन्द्रिय जीव भी श्वासोच्छ्वास लेते हैं ? उत्तर मे बताया गया है कि हा, लेते हैं। क्या वायुकाय के जीव भी वायुकाय को ही श्वासोच्छ्वास के रूप में ग्रहण करते हैं ? हा, वायुकाय के जीव भी वायुकाय को ही श्वासोच्छ्वास के रूप में ग्रहण करते हैं। यहा पर वृत्तिकार ने यह स्पष्ट किया है कि जो वायुकाय श्वासोच्छ्वास के रूप में ग्रहण किया जाता है वह चेतन नही अपितु जड अर्थात् पुद्गलरूप होता है। उसकी स्वतन्त्र वर्गणाए होती हैं जिन्हें श्वासोच्छ्वास वर्गणा कहते हैं।

जमालि-चरित

नवें शतक के तैंतीसवें उद्देशक में जमालि का पूरा चरित्र है। उसमे उसे ब्राह्मणकुडग्राम से पश्चिम मे स्थित क्षत्रियकुडग्राम का निवासी क्षत्रियकुमार बताया गया है तथा उसके माता-पिता का नाम नहीं दिया गया है। भगवान् महावीर के उसके नगर में आने पर वह उनके दर्शन के लिए गया एव बोध प्राप्त कर भगवान् का शिष्य बना। बाद मे उसका भगवान् के अमुक विचारों से विरोध होने पर उनसे अलग हो गया। इस पूरे वर्णन में कहीं भी यह उल्लेख नहीं है कि जमालि महावीर का जामाता था अथवा उनकी कन्या से उसका विवाह हुआ था। जब वह दीक्षा ग्रहण करता है तब रजोहरण व पडिग्गह अर्थात् पात्र ये दो उपकरण ही लेता है। मुहपत्ती आदि किन्हीं भी अन्य उपकरणों का इनके साथ उल्लेख नहीं है। जब जमालि भगवान् से अलग होता है और उनके अमुक विचारो से भिन्न प्रकार के विचारों का प्रचार करता है तब वह अपने आप को जिन एव केवली कहता है तथा महावीर के अन्य छद्मस्थ शिष्यों से खुद को भिन्न मानता है। इससे अनुमान लगाया जा सकता है कि 'जिन' और 'केवली' शब्द का प्रयोग उस समय के विचारक किस ढग से करते थे। महावीर से

अलग होकर अपनी भिन्न विचारधारा का प्रचार करने वाला गोशालक भी महावीर से यही कहता था कि मैं जिन हूँ, केवली हूँ एव आपके शिष्य गोशालक से भिन्न हूँ। जब जमालि यो कहता है कि अब मैं जिन हूँ, केवली हूँ तब महावीर के प्रधान शिष्य इन्द्रभूति गौतम जमालि से कहते हैं कि केवली का ज्ञान-दर्शन तो पर्वतादि से निरुद्ध नहीं होता। यदि तुम सचमुच केवली अथवा जिन हो तो मेरे इन दो प्रश्नो के उत्तर दो—यह लोक शाश्वत है अथवा अशाश्वत ? यह जीव शाश्वत है अथवा अशाश्वत ? ये प्रश्न सुनकर जमालि निरुत्तर हो गया। यह देख कर भगवान् महावीर जमालि से कहने लगे कि मेरे अनेक शिष्य जो कि छद्मस्थ हैं, इन प्रश्नों के उत्तर दे सकते हैं। फिर भी वे तुम्हारी तरह यो नही कहते कि हम जिन हैं, अरिहत हैं, केवली हैं। अन्त में जब जमालि मृत्यु को प्राप्त होता है तब गौतम भगवान् से पूछते हैं कि आपका जमालि नामक कुशिष्य मरकर किस गति में गया ? इसका उत्तर देते हुए महावीर कहते हैं कि मेरा कुशिष्य अनगार जमालि मरकर अधम जाति की देवगति में गया है। वह ससार मे घूमता-घूमता अन्त मे सिद्ध होगा, बुद्ध होगा, मुक्त होगा।

शिवराजर्षि

ग्यारहवें शतक के नवें उद्देशक मे हस्तिनागपुर के राजा शिव का वर्णन है। इस राजा को इतिहास की दृष्टि से देखा जाय अथवा केवल दतकथा की दृष्टि से, इसका निर्णय नहीं किया जा सकता। इसके सामत राजा भी थे, ऐसा उल्लेख मिलता है। इससे अनुमान लगाया जा सकता है कि यह कोई विशिष्ट राजा रहा होगा। इसे तापस होने की इच्छा होती है अत अपने पुत्र शिवभद्र को गद्दी पर बैठाकर स्वय दिशाप्रोक्षक परम्परा की दीक्षा स्वीकार करने के लिए गगा के किनारे रहने वाले वानप्रस्थ तापसो के पास आता है एव उनसे दीक्षा लेता है। दीक्षा लेते ही वह निरतर षष्ठ तप करते रहने की प्रतिज्ञा करता है। इस तप के साथ वह रोज आतापनाभूमि पर आतापना लेता है। उसकी नित्य की चर्चा इस प्रकार बताई गई है षष्ठ तप के पारणा के दिन वह आतापना-भूमि से उतर कर नीचे आता है, वृक्ष की छाल के कपडे पहनता है, अपनी झोपडी में आता है फिर किढिण अर्थात् बास का पात्र एव सकाइय—सकायिक अर्थात् कावड ग्रहण करता है। बाद में पूर्वदिशा का प्रोक्षण (पानी का छिडकाव) करता है एवं 'पूर्वदिशा के सोम महाराज धर्म-साधना में प्रवृत्त शिवराज की रक्षा करें व पूर्व में रहे हुए कद, मूल, पत्र, पुष्प, फल आदि लेने की

अनुमति दें' यो कहकर पूर्व मे जाकर कदादि से अपना कावड भरता है। बाद मे शाखा, कुश, समिधा, पत्र आदि लेकर अपनी झोपडी मे आता है। आकर कावड आदि रखकर वेदिका को साफ कर पानी व गोबर से पुताई करता है। बाद में हाथ में शाखा व कलश लेकर गगानदी में उतरता है, स्नान करता है, देवकर्म-पितृकर्म करता है, शाखा व पानी से भरा कलश लेकर अपनी झोंपडी में आता है, कुश आदि द्वारा वेदिका बनाता है, अरणि को घिसकर अग्नि प्रकट करता है, समिधा आदि जलाता है व अग्नि की दाहिनी ओर निम्नोक्त सात वस्तुएं रखता है सकथा (तापस का एक उपकरण), वल्कल, ठाण अर्थात् दीप, शय्योपकरण, कमडल, दड और सातवा वह खुद। तदनंतर मधु, घी और चावल अग्नि में होम करता है, चरुबलि तैयार करता है, चरुबलि द्वारा वैश्वदेव बनाता है, अतिथि की पूजा करता है और बाद में भोजन करता है। इसी प्रकार दक्षिण दिशा के यम महाराज की, पश्चिम दिशा के वरुण महाराज की एव उत्तर दिशा के वैश्रमण महाराज की अनुमति लेकर उपर्युक्त सब क्रियाएँ करता है।

ये शिवराजर्षि यो कहते थे कि यह पृथ्वी सात द्वीप व सात समुद्रवाली है। इसके बाद कुछ नही है। जब इन्हे भगवान् महावीर के आगमन का पता लगता है तब ये उनके पास जाकर उनका उपदेश सुनकर उनके शिष्य हो जाते हैं। ग्यारह अग पढकर अन्त में निर्वाण प्राप्त करते हैं।

परिव्राजक तापस

जैसे इस सूत्र में कई तापसों का वर्णन आता है वैसे ही औपपातिक सूत्र में परिव्राजक तापसो के अनेक प्रकार बताये गये हैं, यथा - अग्निहोत्रीय, पोत्तिय—लुगी पहनने वाले, कोत्तिय—जमीन पर सोने वाले, जन्नई—यज्ञ करने वाले, हुबउट्ठ—कुडी रखने वाले श्रमण, दतुक्खलिय—दातो से कच्चे फल खाने वाले, उम्मजग—केवल डुबकी लगाकर स्नान करने वाले, सम्मज्जग—बार बार डुबकी लगाकर स्नान करने वाले, निमज्जग—स्नान के लिए पानी मे लबे समय तक पडे रहने वाले, सपक्खालग—शरीर पर मिट्टी घिस कर स्नान करने वाले, दक्खिणकूलग—गगा के दक्षिणी किनारे रहने वाले, उत्तरकूलग—गगा के उत्तरी किनारे रहने वाले, सखधमग—अतिथि को खाने के लिए निमन्त्रित करने के हेतु शख फूँकने वाले, कूलधमग—किनारे पर खडे रह कर अतिथि के लिए आवाज लगाने वाले, मियलुद्धय—मृगलुब्धक, हस्तितापस—हाथी को मार कर उससे जीवन-निर्वाह करने वाले, उद्दडक – दड ऊँचा रखकर फिरने वाले, दिशाप्रोक्षक—पानी द्वारा

दिशा का प्रोक्षणकर फल लेने वाले, वल्कवासी—वल्कल पहनने वाले, वेलवासी—कपडा पहनने वाले, वेलवासी—समुद्र-तट पर रहने वाले, जलवासी—पानी में बैठे रहने वाले, बिलवासी—बिलो में रहने वाले, बिना स्नान किए न खाने वाले, वृक्षमूलिक—वृक्ष के मूल के पास रहने वाले, जलभक्षी—केवल पानी पीने वाले, वायुभक्षी—केवल हवा खाने वाले, शैवालभक्षी, मूलाहारी, कन्दाहारी, त्वगाहारी फलाहारी, पुष्पाहारी, बीजाहारी, पंचाग्नि तपने वाले आदि। यहाँ यह याद रखना जरूरी है कि ये कदाहारी तापस भी मर कर स्वर्ग में जाते हैं।

व्याख्याप्रज्ञप्ति मे शिवराजर्षि की ही तरह स्कदक, तामिल, पूरण, पुद्गल आदि तापसो का भी वर्णन आता है। इसमे दानामा और प्राणामा रूप दो तापसी दीक्षाओं का भी उल्लेख है। दानामा अर्थात् भिक्षा लाकर दान करने के आचारवाली प्रव्रज्या और प्राणामा अर्थात् प्राणिमात्र को प्रणाम करते रहने की प्रव्रज्या। इन तापसों मे से कुछ ने स्वर्ग प्राप्त किया है तथा कुछ ने इन्द्रपद भी पाया है। इससे यह फलित होता है कि स्वर्ग प्राप्ति के लिए कष्टमय तप की आवश्यकता है न कि यज्ञयागादि की। यह बताने के लिए प्रस्तुत सूत्र में बार-बार देवों व असुरो का वर्णन दिया गया है। इसी दृष्टि से सूत्रकार ने देवासुर सग्राम का वर्णन भी किया है। इस सग्राम मे देवेन्द्र शक्र से भयभीत हुआ असुरेन्द्र चमर भगवान् महावीर की शरण में जाने के कारण बच जाता है। यह सग्राम वैदिक देवासुर सग्राम का अनुकरण प्रतीत होता है। सग्राम का जो कारण बताया गया है वह अत्यन्त विलक्षण है। इससे यह भी फलित होता है कि इन्द्र जैसा सबल एवं समर्थ व्यक्ति भी किस प्रकार कापायिक वृत्तियो का शिकार बनकर पामर प्राणी की भांति आचरण करने लगता है। स्वर्ग की जो घटनाएं बार-बार आती हैं उन्हें पढ़ने से यह मालूम होता है कि स्वर्ग के प्राणी कितने अधम, चोर, असदाचारी एव कलहप्रिय होते हैं। इन सब घटनाओं का अभीष्ट अर्थ यही है कि स्वर्ग वाछनीय नही है अपितु मोक्ष वाछनीय है। शुद्ध सयम का फल निर्वाण है जबकि दूषित सयम से स्वर्ग की प्राप्ति होती है। स्वर्ग का कारण यज्ञादि न होकर अहिंसाप्रधान आचरण ही है। स्वर्ग भी निर्वाणप्राप्ति में एक बाधा है जिसे दूर करना आवश्यक है। इस प्रकार जैन निर्ग्रन्थों ने स्वर्ग के स्थान पर मोक्ष को प्रतिष्ठित कर हिंसा अथवा भोग के बजाय अहिंसा अथवा त्याग की प्रतिष्ठा की है।

स्वर्ग

स्वर्ग के वर्णन में वस्त्र, अलकार, ग्रंथ, पात्र, प्रतिमाएँ आदि उल्लिखित हैं।

विमानो की रचना में विविध रत्नो, मणियो एव अन्य बहुमूल्य पदार्थों का उपयोग बताया गया है। इसी प्रकार स्तम्भ, वेदिका, छप्पर, द्वार, खिडकी, झूला, खूँटी आदि का भी उल्लेख किया गया है। ये सब चीजें स्वर्ग मे कहा से आती हैं? क्या यह इसी संसार के पदार्थों की कल्पित नकल नहीं है? स्वर्ग लौकिक आनन्दोपभोग एवं विषयविलास की उत्कृष्टतम सामग्री की उच्चतम कल्पना का श्रेष्ठतम नमूना है।

भगवान् महावीर के समय में एक मान्यता यह थी कि युद्ध करने वाले स्वर्ग में जाते हैं। व्याख्याप्रज्ञप्ति (शतक ७, उद्देशक ६) में इस सम्बन्ध में बताया गया है कि सग्राम करने वाले को सग्राम करने से स्वर्ग प्राप्त नहीं होता अपितु न्यायपूर्वक सग्राम करने के बाद जो सग्रामकर्ता अपने दुष्कृत्यों के लिए पश्चात्ताप करता है तथा उस पश्चात्ताप के कारण जिसकी आत्मा शुद्ध होती है वह स्वर्ग में जाता है। इसका अर्थ यह नहीं कि केवल सग्राम करने से किसी को स्वर्ग मिल जाता है। गीता (अध्याय २, श्लोक ३७) के 'हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गम्' का रहस्योद्घाटन व्याख्याप्रज्ञप्ति के इस कथन मे कितने सुदर ढग से किया गया है।

देवभाषा

महावीर के समय में भाषा के सम्बन्ध में भी बहुत मिथ्याधारणा फैली हुई थी। अमुक भाषा देवभाषा है और अमुक भाषा अपभ्रष्ट भाषा है तथा देवभाषा बोलने से पुण्य होता है और अपभ्रष्ट भाषा बोलने से पाप होता है, इस प्रकार की मान्यता ने लोगों के दिलों में घर कर रखा था। भगवान् महावीर ने स्पष्ट कहा कि भाषा का पुण्य व पाप से कोई सम्बन्ध नहीं है। भाषा तो केवल बोल-चाल के व्यवहार का एक साधन अर्थात् माध्यम है। मनुष्य चाहे कोई भी भाषा बोले, यदि उसका चारित्र—आचरण शुद्ध होगा तो उसके जीवन का विकास होगा। व्याख्याप्रज्ञप्ति के पाचवें शतक के चौथे उद्देशक में यह बताया गया है कि देव अर्धमागधी भाषा बोलते हैं। देवो द्वारा बोली जाने वाली भाषाओं में अर्धमागधी भाषा विशिष्ट है यद्यपि यहा यह प्रतिपादित नहीं किया गया है कि अर्धमागधी भाषा बोलने से पुण्य होता है अथवा जीवन की शुद्धि होती है। वैदिकों एव जैनों की तरह अन्य सम्प्रदायवाले भी देवों की विशिष्ट भाषा मानते हैं। ईसाई देवो की भाषा हिब्रु मानते हैं जबकि मुसलमान देवो की भाषा अरबी मानते हैं। इस प्रकार प्राय प्रत्येक सम्प्रदायवाले अपने-अपने शास्त्र की भाषा को देवभाषा कहते हैं।

दिशा का प्रोक्षणकर फल लेने वाले, वल्कवासी—वल्कल पहनने वाले, चेलवासी—कपडा पहनने वाले, वेलवासी—समुद्र-तट पर रहने वाले, जलवासी—पानी में बैठे रहने वाले, बिलवासी—बिलो में रहने वाले, बिना स्नान किए न खाने वाले, वृक्षमूलिक—वृक्ष के मूल के पास रहने वाले, जलभक्षी—केवल पानी पीने वाले, वायुभक्षी—केवल हवा खाने वाले, शैवालभक्षी, मूलाहारी, कदाहारी, त्वगाहारी फलाहारी, पुष्पाहारी, बीजाहारी, पंचाग्नि तपने वाले आदि। यहाँ यह याद रखना जरूरी है कि ये कदाहारी तापस भी मर कर स्वर्ग में जाते हैं।

व्याख्याप्रज्ञप्ति मे शिवराजर्षि की ही तरह स्कदक, तामिल, पूरण, पुद्गल आदि तापसो का भी वर्णन आता है। इसमे दानामा और प्राणामा रूप दो तापसी दीक्षाओं का भी उल्लेख है। दानामा अर्थात् भिक्षा लाकर दान करने के आचारवाली प्रव्रज्या और प्राणामा अर्थात् प्राणिमात्र को प्रणाम करते रहने की प्रव्रज्या। इन तापसो में से कुछ ने स्वर्ग प्राप्त किया है तथा कुछ ने इन्द्रपद भी पाया है। इससे यह फलित होता है कि स्वग प्राप्ति के लिए कष्टमय तप की आवश्यकता है न कि यज्ञयागादि की। यह बताने के लिए प्रस्तुत सूत्र में बार-बार देवों व असुरो का वर्णन दिया गया है। इसी दृष्टि से सूत्रकार ने देवासुर सग्राम का वर्णन भी किया है। इस सग्राम में देवेन्द्र शक्र से भयभीत हुआ असुरेन्द्र चमर भगवान् महावीर की शरण में जाने के कारण बच जाता है। यह सग्राम वैदिक देवासुर सग्राम का अनुकरण प्रतीत होता है। सग्राम का जो कारण बताया गया है वह अत्यन्त विलक्षण है। इससे यह भी फलित होता है कि इन्द्र जैसा सबल एवं समर्थ व्यक्ति भी किस प्रकार काषायिक वृत्तियो का शिकार बनकर पामर प्राणी की भाति आचरण करने लगता है। स्वर्ग की जो घटनाएं बार-बार आती हैं उन्हें पढ़ने से यह मालूम होता है कि स्वर्ग के प्राणी कितने अधम, चोर, असदाचारी एव कलहप्रिय होते हैं। इन सब घटनाओं का अभीष्ट अर्थ यही है कि स्वर्ग वाछनीय नहीं है अपितु मोक्ष वाछनीय है। शुद्ध सयम का फल निर्वाण है जबकि दूषित सयम से स्वर्ग की प्राप्ति होती है। स्वर्ग का कारण यज्ञादि न होकर अहिंसाप्रधान आचरण ही है। स्वर्ग भी निर्वाणप्राप्ति में एक बाधा है जिसे दूर करना आवश्यक है। इस प्रकार जैन निर्ग्रन्थों ने स्वर्ग के स्थान पर मोक्ष को प्रतिष्ठित कर हिंसा अथवा भोग के बजाय अहिंसा अथवा त्याग की प्रतिष्ठा की है।

स्वर्ग

स्वर्ग के वर्णन में वस्त्र, अलकार, ग्रथ, पात्र, प्रतिमाएं आदि उल्लिखित हैं।

विमानों की रचना में विविध रत्नों, मणियो एव अन्य बहुमूल्य पदार्थों का उपयोग बताया गया है। इसी प्रकार स्तम्भ, वेदिका, छप्पर, द्वार, खिडकी, झूला, खूँटो आदि का भी उल्लेख किया गया है। ये सब चीजें स्वर्ग मे कहा से आती हैं ? क्या यह इसी संसार के पदार्थों की कल्पित नकल नहीं है ? स्वर्ग लौकिक आनन्दोपभोग एव विषयविलास की उत्कृष्टतम सामग्री की उच्चतम कल्पना का श्रेष्ठतम नमूना है।

भगवान् महावीर के समय में एक मान्यता यह थी कि युद्ध करने वाले स्वर्ग में जाते हैं। व्याख्याप्रज्ञप्ति (शतक ७, उद्देशक ९) में इस सम्बन्ध में बताया गया है कि सग्राम करने वाले को सग्राम करने से स्वर्ग प्राप्त नहीं होता अपितु न्यायपूर्वक सग्राम करने के बाद जो सग्रामकर्ता अपने दुष्कृत्यो के लिए पश्चात्ताप करता है तथा उस पश्चात्ताप के कारण जिसकी आत्मा शुद्ध होती है वह स्वर्ग मे जाता है। इसका अर्थ यह नही कि केवल सग्राम करने से किसी को स्वर्ग मिल जाता है। गीता (अध्याय २, श्लोक ३७) के 'हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गम्' का रहस्योद्घाटन व्याख्याप्रज्ञप्ति के इस कथन मे कितने सुदर ढग से किया गया है।

देवभाषा

महावीर के समय में भाषा के सम्बन्ध मे भी बहुत मिथ्याधारणा फैली हुई थी। अमुक भाषा देवभाषा है और अमुक भाषा अपभ्रष्ट भाषा है तथा देवभाषा बोलने से पुण्य होता है और अपभ्रष्ट भाषा बोलने से पाप होता है, इस प्रकार की मान्यता ने लोगों के दिलों में घर कर रखा था। भगवान् महावीर ने स्पष्ट कहा कि भाषा का पुण्य व पाप से कोई सम्बन्ध नहीं है। भाषा तो केवल बोल-चाल के व्यवहार का एक साधन अर्थात् माध्यम है। मनुष्य चाहे कोई भी भाषा बोले, यदि उसका चारित्र—आचरण शुद्ध होगा तो उसके जीवन का विकास होगा। व्याख्याप्रज्ञप्ति के पाचवें शतक के चौथे उद्देशक में यह बताया गया है कि देव अर्धमागधी भाषा बोलते हैं। देवो द्वारा बोली जाने वाली भाषाओ मे अर्धमागधी भाषा विशिष्ट है यद्यपि यहा यह प्रतिपादित नहीं किया गया है कि अर्धमागधी भाषा बोलने से पुण्य होता है अथवा जीवन की शुद्धि होती है। वैदिकों एव जैनों की तरह अन्य सम्प्रदायवाले भी देवों की विशिष्ट भाषा मानते हैं। ईसाई देवों की भाषा हिब्रू मानते हैं जबकि मुसलमान देवों की भाषा अरबी मानते हैं। इस प्रकार प्राय प्रत्येक सम्प्रदायवाले अपने-अपने शास्त्र की भाषा को देवभाषा कहते हैं।

गोशालक

पन्द्रहवें शतक मे मंखलिपुत्र गोशालक का विस्तृत वर्णन है। गोशालक के लिए मखलिपुत्र एव मक्खलिपुत्र इन दोनो शब्दो का प्रयोग होता रहा है। जैन शास्त्रो में मखलिपुत्र शब्द प्रचलित है जबकि बौद्ध परम्परा में मक्खलिपुत्र शब्द का प्रयोग हुआ है। हाथ मे चित्रपट लेकर उनके द्वारा लोगो को उपदेश देकर अपनी आजीविका चलाने वाले भिक्षुक जैन परम्परा में 'मख' कहे गये हैं। प्रस्तुत शतक के अनुसार गोशालक[1] का जन्म सरवण नामक ग्राम मे रहने वाले वेदविशारद गोबहुल ब्राह्मण की गोशाला मे हुआ था और इसीलिए उसके पिता मखलि मख एव माता भद्रा ने अपने पुत्र का नाम गोशालक रखा। गोशालक जब युवा हुआ एव ज्ञान-विज्ञान द्वारा परिपक्व हुआ तब उसने अपने पिता का धधा मखपना स्वीकार किया। गोशालक स्वय गृहस्थाश्रम मे था या नहीं, इसके विषय में प्रस्तुत प्रकरण में कोई स्पष्ट उल्लेख नही है। चूकि वह नग्न रहता था इससे मालूम होता है कि वह गृहस्थाश्रम मे न रहा हो। जब महावीर दीक्षित होने के बाद दूसरे चातुर्मास में घूमते-फिरते राजगृह के बाहर नालदा में आये एव बुनकर-वास में ठहरे तब वहीं उनके पास ही मखलिपुत्र गोशालक भी ठहरा हुआ था। इससे मालूम होता है कि मख भिक्षुओ की परम्परा महावीर के दीक्षित होने के पूर्व भी विद्यमान थी।

महावीर दीक्षित होने के बाद बारह वर्ष पर्यन्त कठोर तप साधना करते रहे। इसके बाद अर्थात् बयालीस वर्ष की आयु मे वीतराग हुए—केवली हुए। इसके बाद घूमते घूमते चौदह वर्ष में श्रावस्ती नगरी में आये। इसी समय मंखलिपुत्र गोशालक भी घूमता फिरता वहा आ पहुंचा। इस प्रकार गोशालक का भगवान् महावीर के साथ छप्पन वर्ष की आयु में पुन मिलाप हुआ।

इस शतक में यह भी बताया गया है कि केवली होने के पूर्व राजगृह में महावीर के चमत्कारिक प्रभाव से आकर्षित होकर जब गोशालक ने उनसे खुद अपने शिष्य के रूप में स्वीकार करने की प्रार्थना की तब वे मौन रहे। बाद में जब महावीर घूमते-घूमते कोल्लाक सन्निवेश में पहुँचे तब वह फिर उन्हे ढूढता-ढूढता वहा जा पहुँचा एव उनसे पुन अपना शिष्य बना लेने की प्रार्थना

---

१ महावीरचरियं में गोशालक के वृत्तात के लिए एक नई ही कल्पना बताई है। देखिए—महावीरचरियं, षष्ठ प्रस्ताव

की। इस बार महावीर ने उसकी प्रार्थना स्वीकार कर ली। बाद में वे दोनों छ वर्ष तक साथ फिरते रहे। इस समय एक प्रसग पर गोशालक ने महावीर के पास शीतलेश्या होने की बात जानी एवं तेजोलेश्या के विषय में भी जानकारी प्राप्त की। उसने महावीर से तेजोलेश्या की लब्धि प्राप्त करने का उपाय पूछा। महावीर से एतद्विषयक विधि जान कर उसने वह लब्धि प्राप्त की। बाद में वह महावीर से अलग होकर विचरने लगा।

मखलिपुत्र गोशालक जब श्रावस्ती में अपनी अनन्य उपासिका हालाहला कुम्हारिन के यहा ठहरा हुआ था उस समय उसकी दीक्षापर्याय चौबीस वर्ष की थी। यह दीक्षापर्याय कौन-सी समझनी चाहिए ? इस सम्बन्ध में मूल सूत्र में कोई स्पष्टीकरण नहीं है। सम्भवत यह दीक्षापर्याय महावीर से अलग होने के बाद की है जबकि इसने अपने नये मत का प्रचार शुरू किया। इस दीक्षा-पर्याय की स्पष्टता के विषय में प० कल्याणविजयजीकृत 'श्रमण भगवान् महावीर' देखना आवश्यक है।

मालूम होता है भगवान् महावीर के प्रधान शिष्य इन्द्रभूति गौतम को इस मखपरम्परा एवं मंखलिपुत्र गोशालक का विशेष परिचय न था। इसीलिए वे भगवान् से मखलिपुत्र का अथ से इति तक वृत्तान्त कहने की प्रार्थना करते हैं। उस समय नियतिवादी गोशालक जिन, केवली एव अर्हत् के रूप मे प्रसिद्ध था। वह आजीविक परम्परा का प्रमुख आचार्य था। उसका शिष्यपरिवार तथा उपासकवर्ग भी विशाल था।

गोशालक के विषय में यह भी कहा गया है कि निम्नोक्त छ दिशाचर गोशालक से मिले एव उसके साथी के रूप में रहने लगे : शान, कलद, कर्णिकार, अछिद्र, अग्निवेश्यायन और गोमायुपुत्र अर्जुन। इन दिशाचरो के विषय मे टीकाकार कहते हैं कि ये भगवान् महावीर के पथभ्रष्ट शिष्य थे। चूर्णिकार का कथन है कि ये छ' दिशाचर पासत्थ अर्थात् पार्श्वनाथ की परम्परा के थे। आवश्यकचूर्णि में जहां महावीर के चरित्र का वर्णन है वहा गोशालक का चरित्र भी दिया हुआ है। यह चरित्र बहुत ही हास्यास्पद एव विलक्षण है।

वायुकाय व अग्निकाय

सोलहवें शतक के प्रथम उद्देशक मे बताया गया है कि अधिकरणी अर्थात् एरण पर हथौडा मारते हुए वायुकाय उत्पन्न होता है। वायुकाय के जीव अन्य पदार्थों का संस्पर्श होने ... हैं, शस्त्र

(अंगारकारिका—

उत्कृष्ट तीन रात्रि-दिवस तक रहते हैं। वहाँ वायुकायिक जीव भी उत्पन्न होते हैं एवं रहते हैं क्योंकि वायु के बिना अग्नि प्रज्वलित नहीं होती।

जरा व शोक

द्वितीय उद्देशक मे जरा व शोक के विषय में प्रश्नोत्तर हैं। इसमें बताया गया है कि जिन जीवो के स्थूल मन नहीं होता उन्हे शोक नही होता किन्तु जरा तो होती ही है। जिन जीवों के स्थूल मन होता है उन्हें शोक भी होता है और जरा भी। यहाँ पर भवनपति व वैमानिक देवो के भी जरा व शोक होने का स्पष्ट उल्लेख है। इस प्रकार जैन आगमो के अनुसार देव भी जरा व शोक से मुक्त नहीं हैं।

सावद्य व निरवद्य भाषा

इस प्रश्न के उत्तर में कि देवेन्द्र—देवराज शक्र सावद्य भाषा बोलता है अथवा निरवद्य, भगवान् महावीर ने बताया है कि जब शक्र 'सुहुमकाय णिजूहित्ता' अर्थात् सूक्ष्मकाय को ढक कर बोलता है तब निरवद्य—निष्पाप भाषा बोलता है तथा जब वह 'सुहुमकाय अणिजूहित्ता' अर्थात् सूक्ष्मकाय को बिना ढके बोलता है, तब सावद्य—सपाप भाषा बोलता है। तात्पर्य यह है कि हाथ अथवा वस्त्र द्वारा मुख ढक कर बोलने वाले की भाषा निष्पाप अर्थात् निर्दोष होती है जब कि मुख को ढके बिना बोलने वाले की भाषा सपाप अर्थात् सदोष होती है। इससे बोलने की एक जैनाभिमत विशिष्ट पद्धति का पता लगता है।

सम्यग्दृष्टि व मिथ्यादृष्टि देव

पञ्चम उद्देशक में उल्लुयतीर नामक नगर के एक जंबू नामक चैत्य मे भगवान् महावीर के आगमन का उल्लेख है। इस प्रकरण मे भगवान् ने शक्रेन्द्र के प्रश्न के उत्तर में बताया है कि महाऋद्धिसम्पन्न यावत् महासुखसम्पन्न देव भी बाह्य पुद्गलो को ग्रहण किये बिना आने-जाने, बोलने, आँख खोलने, आख बंद करने, अंगोंको सकुचित करने व फैलाने तथा विषयभोग करने में समर्थ नहीं। बाह्य पुद्गलो को ग्रहण कर ही वह ये सब कार्य कर सकता है। इसके बाद महाशुक्रकल्प नामक स्वर्ग में रहने वाले दो देवों के विवाद का वर्णन है। एक देव सम्यग्दृष्टि है और दूसरा मिथ्यादृष्टि। इस विवाद में सम्यग्दृष्टि अर्थात् जैन देव ने मिथ्यादृष्टि अर्थात् अजैन देव को पराजित किया। विवाद का विषय पुद्गल परिणाम कहा गया है। इससे मालूम होता है कि स्वर्गवासी देव भी पुद्गल-परिणाम आदि

की चर्चा करते हैं। सम्यग्दृष्टि देव का नाम गंगदत्त बताया गया है। यह उसके पूर्व जन्म का नाम है। देव होने के बाद भी पूर्व जन्म का ही नाम चलता है, ऐसी जैन परम्परा की मान्यता है। प्रस्तुत प्रकरण में गंगदत्त देव का पूर्व जन्म बताते हुए कहा गया है कि वह हस्तिनापुर निवासी एक गृहपति था एवं तीर्थंकर मुनिसुव्रत के पास दीक्षित हुआ था।

स्वप्न

छठे उद्देशक मे स्वप्न सम्बन्धी चर्चा है। भगवान् कहते हैं कि एक स्वप्न यथार्थ होता है अर्थात् जैसा स्वप्न देखा हो वैसा ही फल मिलता है। दूसरा स्वप्न अति विस्तारयुक्त होता है। यह यथार्थ होता भी है और नहीं भी। तीसरा चिन्ता-स्वप्न होता है अर्थात् जाग्रत् अवस्था की चिन्ता स्वप्नरूप में प्रकट होती है। चौथा विपरीतस्वप्न होता है अर्थात् जैसा स्वप्न देखा हो उससे विपरीत फल मिलता है। पाचवाँ अव्यक्तस्वप्न होता है अर्थात् स्वप्नदर्शन में अस्पष्टता होती है। आगे बताया गया है कि पूरा सोया हुआ अथवा जगता हुआ व्यक्ति स्वप्न नहीं देख सकता अपितु कुछ सोया हुआ व कुछ जगता हुआ व्यक्ति ही स्वप्न देख सकता है। सवृत, असवृत व सवृतासवृत ये तीनों ही जीव स्वप्न देखते हैं। इनमें से सवृत का स्वप्न यथार्थ ही होता है। असवृत व सवृतासवृत का स्वप्न यथार्थ भी हो सकता है और अयथार्थ भी। साधारण स्वप्न ४२ प्रकार के हैं और महास्वप्न ३० प्रकार के हैं। इस प्रकार कुल ७२ प्रकार के स्वप्न होते हैं। जब तीर्थंकर का जीव माता के गर्भ में आता है तब वह चौदह महास्वप्न देखकर जागती है। इसी प्रकार चक्रवर्ती की माता के विषय में भी समझना चाहिए। वासुदेव की माता सात, बलदेव की माता चार और माण्डलिक राजा की माता एक स्वप्न देखकर जागती है। श्रमण भगवान् महावीर ने छद्मस्थ अवस्था में एक रात्रि के अन्तिम प्रहर में दस महास्वप्न देखे थे। प्रस्तुत उद्देशक में यह भी बताया गया है कि स्त्री अथवा पुरुष अमुक स्वप्न देखे तो उसे अमुक फल मिलता है। इस चर्चा से यह मालूम होता है कि जैन अगशास्त्रों में स्वप्नविद्या को भी अच्छा स्थान मिला है।

कोणिक का प्रधान हाथी

सत्रहवें शतक के प्रथम उद्देशक के प्रारम्भ में राजा कोणिक के मुख्य हाथी के विषय में चर्चा है। इस चर्चा में मूल प्रश्न यह है कि यह हाथी पूर्वभव में कहाँ था और मरकर कहाँ जायगा? उत्तर में बताया गया है कि यह हाथी

गोशालक

पद्रहवें शतक में मंखलिपुत्र गोशालक का विस्तृत वर्णन है। गोशालक के लिए मखलिपुत्र एव मक्खलिपुत्र इन दोनों शब्दों का प्रयोग होता रहा है। जैन शास्त्रों में मखलिपुत्र शब्द प्रचलित है जबकि बौद्ध परम्परा में मक्खलिपुत्र शब्द का प्रयोग हुआ है। हाथ में चित्रपट लेकर उनके द्वारा लोगो को उपदेश देकर अपनी आजीविका चलाने वाले भिक्षुक जैन परम्परा मे 'मख' कहे गये हैं। प्रस्तुत शतक के अनुसार गोशालक[1] का जन्म सरवण नामक ग्राम में रहने वाले वेदविशारद गोबहुल ब्राह्मण की गोशाला मे हुआ था और इसीलिए उसके पिता मखलि मख एव माता भद्रा ने अपने पुत्र का नाम गोशालक रखा। गोशालक जब युवा हुआ एवं ज्ञान-विज्ञान द्वारा परिपक्व हुआ तब उसने अपने पिता का धधा मखपना स्वीकार किया। गोशालक स्वय गृहस्थाश्रम मे था या नही, इसके विषय मे प्रस्तुत प्रकरण में कोई स्पष्ट उल्लेख नही है। चूकि वह नग्न रहता था इससे मालूम होता है कि वह गृहस्थाश्रम मे न रहा हो। जब महावीर दीक्षित होने के बाद दूसरे चातुर्मास में घूमते-फिरते राजगृह के बाहर नालदा में आये एव बुनकर-वास में ठहरे तब वहीं उनके पास ही मखलिपुत्र गोशालक भी ठहरा हुआ था। इससे मालूम होता है कि मख भिक्षुओ की परम्परा महावीर के दीक्षित होने के पूर्व भी विद्यमान थी।

महावीर दीक्षित होने के बाद बारह वर्ष पर्यन्त कठोर तप साधना करते रहे। इसके बाद अर्थात् बयालीस वर्ष की आयु मे वीतराग हुए—केवली हुए। इसके बाद घूमते घूमते चौदह वर्ष मे श्रावस्ती नगरी में आये। इसी समय मखलिपुत्र गोशालक भी घूमता फिरता वहा आ पहुंचा। इस प्रकार गोशालक का भगवान् महावीर के साथ छप्पन वर्ष की आयु में पुन मिलाप हुआ।

इस शतक में यह भी बताया गया है कि केवली होने के पूर्व राजगृह में महावीर के चमत्कारिक प्रभाव से आकर्षित होकर जब गोशालक ने उनसे खुद अपने शिष्य के रूप में स्वीकार करने की प्रार्थना की तब वे मौन रहे। बाद में जब महावीर घूमते-घूमते कोल्लाक सन्निवेश में पहुँचे तब वह फिर उन्हे ढूढता-ढूढता वहा जा पहुँचा एव उनसे पुन अपना शिष्य बना लेने की प्रार्थना

---

1 महावीरचरियं में गोशालक के वृत्तात के लिए एक नई ही कल्पना बनाई है। देखिए—महावीरचरियं, षष्ठ प्रस्ताव

की। इस बार महावीर ने उसकी प्रार्थना स्वीकार कर ली। बाद में वे दोनों छ वर्ष तक साथ फिरते रहे। इस समय एक प्रसग पर गोशालक ने महावीर के पास शीतलेश्या होने की बात जानी एवं तेजोलेश्या के विषय में भी जानकारी प्राप्त की। उसने महावीर से तेजोलेश्या की लब्धि प्राप्त करने का उपाय पूछा। महावीर से एतद्विषयक विधि जान कर उसने वह लब्धि प्राप्त की। बाद में वह महावीर से अलग होकर विचरने लगा।

मखलिपुत्र गोशालक जब श्रावस्ती में अपनी अनन्य उपासिका हालाहला कुम्हारिन के यहा ठहरा हुआ था उस समय उसकी दीक्षापर्याय चौबीस वर्ष की थी। यह दीक्षापर्याय कौन-सी समझनी चाहिए? इस सम्बन्ध मे मूल सूत्र में कोई स्पष्टीकरण नहीं है। सम्भवत यह दीक्षापर्याय महावीर से अलग होने के बाद की है जबकि इसने अपने नये मत का प्रचार शुरू किया। इस दीक्षा-पर्याय की स्पष्टता के विषय में प० कल्याणविजयजीकृत 'श्रमण भगवान् महावीर' देखना आवश्यक है।

मालूम होता है भगवान् महावीर के प्रधान शिष्य इन्द्रभूति गौतम को इस मखपरम्परा एव मखलिपुत्र गोशालक का विशेष परिचय न था। इसीलिए वे भगवान् से मखलिपुत्र का अथ से इति तक वृत्तान्त कहने की प्रार्थना करते हैं। उस समय नियतिवादी गोशालक जिन, केवली एव अर्हत् के रूप में प्रसिद्ध था। वह आजीविक परम्परा का प्रमुख आचार्य था। उसका शिष्यपरिवार तथा उपासकवर्ग भी विशाल था।

गोशालक के विषय में यह भी कहा गया है कि निम्नोक्त छ दिशाचर गोशालक से मिले एव उसके साथी के रूप में रहने लगे: शान, कलद, कर्णिकार, अछिद्र, अग्निवेश्यायन और गोमायुपुत्र अर्जुन। इन दिशाचरों के विषय मे टीकाकार कहते हैं कि ये भगवान् महावीर के पथभ्रष्ट शिष्य थे। चूर्णिकार का कथन है कि ये छ दिशाचर पासत्थ अर्थात् पार्श्वनाथ की परम्परा के थे। आवश्यकचूर्णि में जहा महावीर के चरित्र का वर्णन है वहा गोशालक का चरित्र भी दिया हुआ है। यह चरित्र बहुत ही हास्यास्पद एव विलक्षण है।

वायुकाय व अग्निकाय

सोलहवें शतक के प्रथम उद्देशक में बताया गया है कि अधिकरणी अर्थात् एरण पर हथौडा मारते हुए वायुकाय उत्पन्न होता है। वायुकाय के जीव अन्य पदार्थों का संस्पर्श होने पर ही मरते हैं, सस्पर्श के बिना नहीं। सिगडी (अंगारकारिका—इगालकारिया) मे अग्निकाय के जीव जघन्य अन्तर्मुहूर्त एवं

उत्कृष्ट तीन रात्रि-दिवस तक रहते हैं। वहा वायुकायिक जीव भी उत्पन्न होते हैं एव रहते हैं क्योकि वायु के बिना अग्नि प्रज्वलित नही होती।

जरा व शोक

द्वितीय उद्देशक मे जरा व शोक के विषय में प्रश्नोत्तर हैं। इसमें बताया गया है कि जिन जीवो के स्थूल मन नहीं होता उन्हे शोक नही होता किन्तु जरा तो होती ही है। जिन जीवो के स्थूल मन होता है उन्हें शोक भी होता है और जरा भी। यहां पर भवनपति व वैमानिक देवो के भी जरा व शोक होने का स्पष्ट उल्लेख है। इस प्रकार जैन आगमों के अनुसार देव भी जरा व शोक से मुक्त नहीं हैं।

सावद्य व निरवद्य भाषा

इस प्रश्न के उत्तर में कि देवेन्द्र—देवराज शक्र सावद्य भाषा बोलता है अथवा निरवद्य, भगवान् महावीर ने बताया है कि जब शक्र 'सुहुमकाय णिजूहित्ता' अर्थात् सूक्ष्मकाय को ढक कर बोलता है तब निरवद्य—निष्पाप भाषा बोलता है तथा जब वह 'सुहुमकाय अणिजूहित्ता' अर्थात् सूक्ष्मकाय को बिना ढके बोलता है, तब सावद्य—सपाप भाषा बोलता है। तात्पर्य यह है कि हाथ अथवा वस्त्र द्वारा मुख ढक कर बोलने वाले की भाषा निष्पाप अर्थात् निर्दोष होती है जब कि मुख को ढके बिना बोलने वाले की भाषा सपाप अर्थात् सदोष होती है। इससे बोलने की एक जैनाभिमत विशिष्ट पद्धति का पता लगता है।

सम्यग्दृष्टि व मिथ्यादृष्टि देव

पचम उद्देशक में उल्लुयतीर नामक नगर के एक जबू नामक चैत्य में भगवान् महावीर के आगमन का उल्लेख है। इस प्रकरण मे भगवान् ने शक्रेन्द्र के प्रश्न के उत्तर में बताया है कि महाऋद्धिसम्पन्न यावत् महासुखसम्पन्न देव भी बाह्य पुद्गलो को ग्रहण किये बिना आने-जाने, बोलने, आंख खोलने, आंख बंद करने, अगोंको सकुचित करने व फैलाने तथा विषयभोग करने में समर्थ नहीं। बाह्य पुद्गलो को ग्रहण कर ही वह ये सब कार्य कर सकता है। इसके बाद महाशुक्रकल्प नामक स्वर्ग में रहने वाले दो देवों के विवाद का वर्णन है। एक देव सम्यग्दृष्टि है और दूसरा मिथ्यादृष्टि। इस विवाद में सम्यग्दृष्टि अर्थात् जैन देव ने मिथ्यादृष्टि अर्थात् अजैन देव को पराजित किया। विवाद का विषय पुद्गल परिणाम कहा गया है। इससे मालूम होता है कि स्वर्गवासी देव भी पुद्गल-परिणाम आदि

की चर्चा करते हैं। सम्यग्दृष्टि देव का नाम गगदत्त बताया गया है। यह उसके पूर्व जन्म का नाम है। देव होने के बाद भी पूर्व जन्म का ही नाम चलता है, ऐसी जैन परम्परा की मान्यता है। प्रस्तुत प्रकरण मे गगदत्त देव का पूर्व जन्म बताते हुए कहा गया है कि वह हस्तिनापुर निवासी एक गृहपति था एव तीर्थंकर मुनिसुव्रत के पास दीक्षित हुआ था।

स्वप्न

छठे उद्देशक मे स्वप्न सम्बन्धी चर्चा है। भगवान् कहते हैं कि एक स्वप्न यथार्थ होता है अर्थात् जैसा स्वप्न देखा हो वैसा ही फल मिलता है। दूसरा स्वप्न अति विस्तारयुक्त होता है। यह यथार्थ होता भी है और नहीं भी। तीसरा चिन्ता-स्वप्न होता है अर्थात् जाग्रत् अवस्था की चिन्ता स्वप्नरूप मे प्रकट होती है। चौथा विपरीतस्वप्न होता है अर्थात् जैसा स्वप्न देखा हो उससे विपरीत फल मिलता है। पाचवा अव्यक्तस्वप्न होता है अर्थात् स्वप्नदर्शन में अस्पष्टता होती है। आगे बताया गया है कि पूरा सोया हुआ अथवा जगता हुआ व्यक्ति स्वप्न नहीं देख सकता अपितु कुछ सोया हुआ व कुछ जगता हुआ व्यक्ति ही स्वप्न देख सकता है। सवृत, असवृत व सवृतासवृत ये तीनो ही जीव स्वप्न देखते हैं। इनमे से सवृत का स्वप्न यथार्थ ही होता है। असवृत व सवृतासवृत का स्वप्न यथार्थ भी हो सकता है और अयथार्थ भी। साधारण स्वप्न ४२ प्रकार के हैं और महास्वप्न ३० प्रकार के हैं। इस प्रकार कुल ७२ प्रकार के स्वप्न होते हैं। जब तीर्थंकर का जीव माता के गर्भ मे आता है तब वह चौदह महास्वप्न देखकर जागती है। इसी प्रकार चक्रवर्ती की माता के विषय में भी समझना चाहिए। वासुदेव की माता सात, बलदेव की माता चार और माण्डलिक राजा की माता एक स्वप्न देखकर जागती है। श्रमण भगवान् महावीर ने छद्मस्थ अवस्था में एक रात्रि के अन्तिम प्रहर में दस महास्वप्न देखे थे। प्रस्तुत उद्देशक में यह भी बताया गया है कि स्त्री अथवा पुरुष अमुक स्वप्न देखे तो उसे अमुक फल मिलता है। इस चर्चा से यह मालूम होता है कि जैन अगशास्त्रो मे स्वप्नविद्या को भी अच्छा स्थान मिला है।

कोणिक का प्रधान हाथी

सत्रहवें शतक के प्रथम उद्देशक के प्रारभ में राजा कोणिक के मुख्य हाथी के विषय में चर्चा है। इस चर्चा में मूल प्रश्न यह है कि यह हाथी पूर्वभव में कहाँ था और मरकर कहाँ जायगा ? उत्तर में बताया गया है कि यह हाथी

पूर्वभव में असुरदेव था और मरकर नरक में जायगा तथा वहा से महाविदेह वर्ष मे जाकर निर्वाण प्राप्त करेगा। राजा कोणिक का प्रधान हाथी कितना भाग्यशाली है कि उसकी चर्चा भगवान् महावीर के मुख से हुई है ? इसके बाद इसी प्रकार के अन्य हाथी भूतानद की चर्चा है। इसके बाद इसकी चर्चा है कि ताड के वृक्ष पर चढ़कर उसे हिलाने वाले एव फलो को नीचे गिराने वाले को कितनी क्रियाएँ लगती है। इसके बाद भी इसी प्रकार की चर्चा है जो सामान्य वृक्ष से सम्बन्धित है। इसके बाद इन्द्रिय, योग, शरीर आदि के विषय में चर्चा है।

कम्प

तृतीय उद्देशक में शैलेशी अर्थात् शिलेश—मेरु के समान अकप स्थिति को प्राप्त अनगार कैसा होता है, इसकी चर्चा है। इस प्रसग पर कप के पाँच प्रकार बताये गये हैं : द्रव्यकप, क्षेत्रकप, कालकप, भावकप और भयकप। इसके बाद 'चलना' की चर्चा है। अन्त में यह बताया गया है कि सवेग, निर्वेद, शुश्रूषा, आलोचना, अप्रतिबद्धता, कषायप्रत्याख्यान आदि निर्वाण-फल को उत्पन्न करते हैं।

नरकस्थ एव स्वर्गस्थ पृथ्वीकायिक आदि जीव

छठे उद्देशक में नरकस्थ पृथ्वीकायिक जीव की सौधर्म आदि देवलोक में उत्पत्ति होने के विषय में चर्चा है। सातवे में स्वर्गस्थ पृथ्वीकायिक जीव की नरक में उत्पत्ति होने के विषय में विचारणा है। आठवे व नवे में इसी प्रकार की चर्चा अप्कायिक जीव के विषय में है। इससे मालूम पडता है कि स्वर्ग व नरक मे भी पानी होता है।

प्रथमता-अप्रथमता

अठारहवे शतक में निम्नलिखित दस उद्देशक हैं १ प्रथम, २. विशाख, ३ माकंदी, ४ प्राणातिपात, ५. असुर, ६ फणित, ७ केवली, ८. अनगार, ९ भवद्रव्य, १० सोमिल। प्रथम उद्देशक मे जीव के जीवत्व की प्रथमता-अप्रथमता की चर्चा है। इसी प्रकार जीव के सिद्धत्व आदि का विचार किया गया है।

कार्तिक सेठ

दूसरे उद्देशक मे बताया गया है कि विशाखा नगरी के बहुपुत्रिक चैत्य में भगवान् महावीर आते हैं। वहाँ उन्हें यह पूछा जाता है कि देवेन्द्र—देवराज शक्र पूर्वभव में कौन था ? उसे शक्र पद कैसे प्राप्त हुआ ? इसके उत्तर में हस्तिनापुर

निवासी सेठ कार्तिक का सम्पूर्ण जीवनवृत्तान्त बताया गया है। उसने श्रावक की ग्यारह प्रतिमाओं का पालन कर दीक्षा स्वीकार कर मृत्यु के बाद शक्रपद—इन्द्रपद पाया। यह घटना मुनिसुव्रत तीर्थंकर के समय की है।

माकंदी अनगार

तीसरे उद्देशक में भगवान् के शिष्य सरलस्वभावी माकंदिकपुत्र अथवा माकंदी अनगार द्वारा पूछे गये कुछ प्रश्नों के उत्तर हैं। माकंदी अनगार ने अपना अमुक विचार अन्य जैन श्रमणों के सन्मुख रखा जिसे उन लोगों ने अस्वीकार किया। इस पर भगवान् महावीर ने उन्हें बताया कि माकंदी अनगार का विचार बिल्कुल ठीक है।

युग्म

चौथे उद्देशक में गौतम ने युग्म की चर्चा की है। युग्म चार हैं कृतयुग्म, त्र्योज, द्वापर और कल्योज। युग्म व युग में अर्थ की दृष्टि से कोई अन्तर नहीं है। वैदिक परम्परा में कृतयुग, त्रेतायुग, द्वापरयुग व कलियुग—ये चार युग प्रसिद्ध हैं। उपर्युक्त चारयुग्मों की कल्पना का आधार यही चार युग मालूम होते हैं। जिस राशि में से चार-चार निकालते हुए अन्त में चार बाकी रहें वह राशि कृतयुग्म कहलाती है। जिस राशि में से चार-चार निकालते हुए अन्त में तीन बच रहें उस राशि को त्र्योज कहते हैं। जिस राशि में से चार-चार निकालते हुए दो बाकी रहें उसे द्वापर एवं एक बाकी रहे उसे कल्योज कहते हैं।

पुद्गल

छठे उद्देशक में फणित अर्थात् प्रवाहित (पतला) गुड, भ्रमर, तोता, मजीठ, हल्दी, शंख, कुष्ठ, मयद, नीम, सोंठ, कोट, इमली, शक्कर, वज्र, मक्खन, लोहा, पत्र, बर्फ, अग्नि, तैल आदि के वर्ण, रस, गंध और स्पर्श की चर्चा है। ये सब व्यावहारिक नय की अपेक्षा से मधुरता अथवा कटुता आदि से युक्त हैं किन्तु नैश्चयिक नय की दृष्टि से पांचों वर्णों, पांचों रसों, दोनों गंधों एवं आठों स्पर्शों से युक्त हैं। परमाणु-पुद्गल में एक वर्ण, एक गंध, एक रस और दो स्पर्श हैं। इसी प्रकार द्विप्रदेशिक, त्रिप्रदेशिक, चतुष्प्रदेशिक, पंचप्रदेशिक आदि पुद्गलों के विषय में चर्चा है।

मद्रुक श्रमणोपासक

सातवें उद्देशक में बताया गया है कि राजगृह नगर के गुणशिलक चैत्य के आसपास कालोदायी, शैलोदायी आदि अन्यतीर्थिक रहते थे। इन्होंने मद्रुक नामक

श्रमणोपासक को अपने धर्माचार्य भगवान् महावीर को वदन करने जाते हुए देखा एव उसे मार्ग मे रोककर पूछा कि तेरे धर्माचार्य धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय, जीवास्तिकाय और पुद्गलास्तिकाय—इन पाच अस्तिकायों की प्ररूपणा करते हैं, यह कैसे ? उत्तर मे मद्रुक ने कहा कि जो वस्तु कार्य करती हो उसे कार्य द्वारा जाना जा सकता है तथा जो वस्तु वैसी न हो उसे हम नही जान सकते। इस प्रकार धर्मास्तिकायादि पाच अस्तिकायों को मैं नहीं जानता अत देख नही सकता। यह सुनकर उन अन्यतीर्थिको ने कहा कि अरे मद्रुक ! तू कैसा श्रमणोपासक है कि इन पाच अस्तिकायों को भी नहीं जानता। मद्रुक ने उन्हें समझाया कि जैसे वायु के स्पर्श का अनुभव करते हुए भी हम उसके रूप को नही देख सकते, सुगन्ध अथवा दुर्गंध को सूंघते हुए भी उसके परमाणुओं को नही देख सकते, अरणि की लकडी में छिपी हुई अग्नि को जानते हुए भी उसे आखों से नहीं देख सकते, समुद्र के उस पार रहे हुए अनेक पदार्थों को देखने में समर्थ नहीं होते उसी प्रकार छद्मस्थ मनुष्य पचास्तिकाय को नहीं देख सकता। इसका अर्थ यह कदापि नहीं कि उसका अस्तित्व ही नही। यह सुनकर कालोदायी आदि चुप हो गए। भगवान् महावीर ने श्रमणों के सामने मद्रुक श्रमणोपासक के इस कार्य की बहुत प्रशंसा की।

पुद्गल-ज्ञान

आठवें उद्देशक में यह बताया गया है कि सावधानी पूर्वक चलते हुए भावितात्मा अनगार के पाव के नीचे मुर्गी का बच्चा, बतख का बच्चा अथवा चींटी या सूक्ष्म कीट आकर मर जाय तो उसे ईर्यापथिकी क्रिया लगती है, साम्परायिकी क्रिया[1] नहीं। इसी उद्देशक में इस विषय की भी चर्चा है कि छद्मस्थ मनुष्य परमाणुपुद्गल को जानता व देखता है अथवा नही ? उत्तर में भगवान् ने बताया है कि कोई छद्मस्थ परमाणुपुद्गल को जानता है किन्तु देखता नहीं, कोई जानता भी नहीं और देखता भी नहीं। इस प्रकार द्विप्रादेशिक स्कन्ध से लेकर असख्येय प्रादेशिक स्कन्ध तक समझना चाहिए। अनन्त प्रादेशिक स्कन्ध को कोई जानता है किन्तु देखता नहीं, कोई जानता नही परन्तु देखता है तथा कोई जानता भी नहीं और देखता भी नहीं। इसी प्रकार की चर्चा अवधिज्ञानी तथा केवली के विषय में भी की गई है। यहा जानने व देखने का

---

१ कषायजन्य प्रवृत्ति से साम्परायिक कर्म का बंध होता है जिससे भवभ्रमण करना पड़ता है।

क्या अर्थ है, इसके सम्बन्ध में पहले ज्ञान-दर्शन की चर्चा के प्रसग पर पर्याप्त प्रकाश डाला जा चुका है।

यापनीय

दसवें उद्देशक में वाणियग्राम नगर के निवासी सोमिल ब्राह्मण के कुछ प्रश्नों का उत्तर देते हुए भगवान् महावीर ने जवणिज्ज—यापनीय,जत्ता—यात्रा, अव्वाबाह—अव्याबाध, फासुयविहार—प्रासुकविहार आदि शब्दो का विवेचन किया है। दिगम्बर सम्प्रदाय में यापनीय नामक एक सघ है जिसके मुखिया आचार्य शाकटायन थे। प्रस्तुत उद्देशक में आनेवाले 'जवणिज्ज' शब्द के साथ इस यापनीय सघ का सम्बन्ध है। विचार करने पर मालूम होता है कि 'जवणिज्ज' का 'यमनीय' रूप अधिक अर्थयुक्त एव सगत है जिसका सबध पाच यमों के साथ स्थापित होता है। इस प्रकार का कोई अर्थ 'यापनीय' शब्द में से नहीं निकलता। विद्वानो को एतद्विषयक विशेष विचार करने की आवश्यकता है। यद्यपि वर्तमान में यह शब्द कुछ नया एवं अपरिचित सा लगता है किन्तु खारवेल के शिलालेख में 'जवणिज्ज' शब्द का प्रयोग हुआ है जिससे इसकी प्राचीनता एव प्रचलितता सिद्ध होती है।

मास

सोमिल द्वारा पूछे गये प्रश्नों का सन्तोषजनक उत्तर प्राप्त होने पर वह भगवान् का श्रमणोपासक हो गया। इस प्रसग पर 'मास' का विवेचन करते हुए महीनों के जो नाम गिनाये गये हैं वे श्रावण से प्रारंभ कर आषाढ तक समाप्त किये गये हैं। इससे मालूम होता है कि उस समय श्रावण प्रथम मास माना जाता रहा होगा एवं आषाढ अन्तिम मास।

विविध

उन्नीसवें शतक मे दस उद्देशक हैं: लेश्या, गर्भ पृथ्वी, महास्रव, चरम, द्वीप, भवनावास, निर्वृत्ति, करण और वाणव्यन्तर।

बीसवें शतक में भी दस उद्देशक हैं द्वीन्द्रिय, आकाश, प्राणवध, उपचय, परमाणु, अन्तर, बध, भूमि, चारण और सोपक्रम जीव। प्रथम उद्देशक मे दो इन्द्रियो वाले जीवों की चर्चा है। द्वितीय मे आकाशविषयक, तृतीय मे हिंसा-अहिंसा, सत्य-असत्य आदि विषयक, चतुर्थ में इन्द्रियोपचय विषयक, पचम में

परमाणु पुद्गलविषयक, षष्ठ मे दो नरकों एव दो स्वर्गों के मध्य स्थित पृथ्वीकायिक आदि विषयक तथा सप्तम में बन्धविषयक चर्चा है। अष्टम में कर्मभूमि के सम्बन्ध में विवेचन है। इसमें वर्तमान अवसर्पिणी के सब तीर्थंकरों के नाम गिनाये गये हैं। छठे तीर्थङ्कर का नाम पद्मप्रभ के बजाय सुप्रभ बताया गया है। इसमें यह भी बताया गया है कि कालिक श्रुत का विच्छेद कब हुआ तथा दृष्टिवाद का विच्छेद कब हुआ? साथ ही यह भी बताया गया है कि भगवान् वर्धमान—महावीर का तीर्थ कितने समय तक चलेगा? उग्रकुल, भोगकुल, राजन्यकुल, इक्ष्वाकुकुल, ज्ञातकुल और कौरवकुल के व्यक्ति इस धर्म मे प्रवेश करते हैं तथा उनमे से कुछ मुक्ति भी प्राप्त करते हैं। यहा क्षत्रियों के केवल छ कुलों का ही निर्देश है। इससे यह मालूम होता है कि ये छः कुल उस समय विशेष उत्कृष्ट गिने जाते रहे होंगे। नवम उद्देशक में चारण मुनियों की चर्चा है। चारण मुनि दो प्रकार के हैं विद्याचारण और जघाचारण। उग्र तप से प्राप्त होने वाली आकाशगामिनी विद्या का नाम विद्याचारण लब्धि है। जघाचारण भी एक प्रकार की लब्धि है जो इसी प्रकार के तप से प्राप्त होती है। इन लब्धियों से सम्पन्न मुनि आकाश में उडकर बहुत दूर तक जा सकते हैं। दशम उद्देशक में यह बताया गया है कि कुछ जीवो का आयुष्य आघात-जनक विघ्न से टूट जाता है जबकि कुछ का इस प्रकार का विघ्न होने पर भी नही टूटता।

इक्कीसवें, बाईसवें व तेईसवें शतक में विविध प्रकार की वनस्पतियों एव वृक्षों के विषय में चर्चा है।

चौबीसवें शतक मे चौबीस उद्देशक हैं। इनमें उपपात, परिमाण, सघयण, ऊचाई, सस्थान, लेश्या, दृष्टि, ज्ञान, अज्ञान, योग, उपयोग, सज्ञा, कषाय, इन्द्रिय, समुद्घात, वेदना, वेद, आयुष्य, अध्यवसान, अनुबध एव कालसंवेध पदो द्वारा समस्त प्रकार के जीवो का विचार किया गया है।

पचीसवें शतक में लेश्या, द्रव्य, सस्थान, युग्म, पर्यव, निर्ग्रन्थ, श्रमण, ओघ, भव्य, अभव्य, सम्यक्त्वी और मिथ्यात्वी नामक बारह उद्देशक हैं। इनमें भी जीवो के विविध स्वरूप के विषय में चर्चा है। निर्ग्रन्थ नामक षष्ठ उद्देशक में निम्नोक्त ३६ पदों द्वारा निर्ग्रन्थों के विषय मे विचार किया गया है: १ प्रज्ञापना, २ वेद, ३. राग, ४ कल्प, ५. चारित्र, ६. प्रतिसेवना, ७ ज्ञान, ८ तीर्थ, ९ लिंग, १० शरीर, ११ क्षेत्र, १२. काल, १३ गति, १४ संयम, १५. निकर्ष-

निगास अथवा सनिगास-सनिकर्ष, १६. योग, १७. उपयोग, १८. कषाय, १६ लेश्या, २० परिणाम, २१ बंध, २२. वेदन, २३ उदीरणा, २४. उपसपदाहानि, २५ सज्ञा, २६ आहार, २७ भव, २८ आकर्ष, २६. काल, ३० अतर, ३१. समुद्घात, ३२ क्षेत्र, ३३. स्पर्शना, ३४. भाव, ३५ परिमाण एव ३६ अल्प-बहुत्व। यहा निर्ग्रन्थो के पुलाक, वकुश, कुशील, निर्ग्रन्थ एव स्नातक के रूप में पाँच भेद कर प्रत्येक भेद का उपर्युक्त ३६ पदों द्वारा विचार किया गया है। यहा यह बताया गया है कि बकुश एव कुशील किसी अपेक्षा से जिनकल्पी भी होते हैं। निर्ग्रन्थ तथा स्नातक कल्पातीत होते हैं। इस उद्देशक मे दस प्रकार की सामाचारी तथा दस प्रकार के प्रायश्चित्तो के भी नाम गिनाये गये हैं। इसके अतिरिक्त जैन परिभाषा मे प्रचलित अन्य अनेक तथ्यों का इसमे निरूपण हुआ है।

छब्बीसवें शतक मे भी इसी प्रकार के कुछ पदो द्वारा जीवो के वद्धत्व के विषय मे चर्चा की गई है। इस शतक का नाम बंधशतक है।

सत्ताईसवें शतक में पापकर्म के विषय मे चर्चा है। इस शतक का नाम करिसु शतक है। इसमें ग्यारह उद्देशक हैं।

अट्ठाईसवें शतक मे कर्मोपार्जन के विषय में विचार किया गया है।[1] इस शतक का नाम कर्मसमर्जन है।

उनतीसवें शतक मे कर्मयोग के प्रारभ एव अन्त का विचार है। इस शतक का नाम कर्मप्रस्थापन है।

तीसवें शतक में क्रियावादी, अक्रियावादी, अज्ञानवादी एव विनयवादी की अपेक्षा से समस्त जीवों का विचार किया गया है। जो जीव शुक्ललेश्या वाले हैं वे चार प्रकार के हैं। लेश्यारहित जीव केवल क्रियावादी हैं। कृष्णलेश्या वाले जीव क्रियावादी के अतिरिक्त तीनो प्रकार के हैं। नारकी चारों प्रकार के हैं। पृथ्वीकायिक केवल अक्रियावादी एव अज्ञानवादी हैं। इसी प्रकार समस्त एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय एव चतुरिन्द्रिय के विषय में समझना चाहिए। मनुष्य एवं देव चार प्रकार के हैं। ये चारों वादी भवसिद्धिक हैं अथवा अभवसिद्धिक, इसकी भी चर्चा की गई है। इस शतक में ग्यारह उद्देशक हैं। इसका नाम समवसरण शतक है।

इकतीसवें शतक मे फिर युग्म की चर्चा है। यह अन्य ढङ्ग से है। इस शतक का नाम उपपात शतक है। इसमें २८ उद्देशक हैं।

बत्तीसवें शतक मे भी इसी प्रकार की चर्चा है। यह चर्चा उद्वर्तना सम्बन्धी है। इसीलिए इस शतक का नाम उद्वर्तना शतक है। इसमें भी २८ उद्देशक हैं।

तैंतीसवें शतक में एकेन्द्रिय जीवों के विषय में विविध प्रकार की चर्चा है। इस शतक में उद्देशक नहीं अपितु अन्य बारह शतक (उपशतक) हैं। यह इस शतक की विशेषता है।

चौंतीसवें शतक में भी इसी प्रकार की चर्चा एवं अवान्तर शतक हैं।

पैंतीसवें शतक मे कृतयुग्म आदि की विभिन्न भंगपूर्वक चर्चा की गई है। यह चर्चा एकेन्द्रिय जीवो के सम्बन्ध में है। छत्तीसवे शतक मे इसी प्रकार की चर्चा द्वीन्द्रिय जीवो के विषय में है।

इसी प्रकार सैंतीसवे, अडतीसवें, उनचालीसवें एव चालीसवें शतक मे क्रमश त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, असज्ञीपचेन्द्रिय एव सज्ञीपचेन्द्रिय जीवो के विषय मे चर्चा है।

इकतालीसवें शतक में युग्म की अपेक्षा से जीवो की विविध प्रवृत्तियो के विषय मे चर्चा की गई है। इस शतक मे १९६ उद्देशक हैं। इसका नाम राशियुग्मशतक है। यह व्याख्याप्रज्ञप्ति का अन्तिम शतक है।

उपसहार

इस अग में कुछ बातें बार बार आती हैं। इसका कारण स्थानभेद, पृच्छकभेद तथा कालभेद है। कुछ बातें ऐसी भी हैं जो समझ में ही नहीं आतीं। उनके बारे में वृत्तिकार ने भी विशेष स्पष्टीकरण नहीं किया है। इस अग पर चूर्णि, अवचूरिका तथा लघुटीका भी उपलब्ध है। चूर्णि तथा अवचूरिका अप्रकाशित हैं।

ग्रन्थ के अन्त में एक गाथा द्वारा गुणविशाल सघ का स्मरण किया गया है तथा श्रुतदेवता की स्तुति की गई है। इसके बाद सूत्र के अध्ययन के उद्देशो को लक्ष्य कर समय का निर्देश किया गया है। अन्त में गौतमादि गणधरों को नमस्कार किया गया है। वृत्तिकार के कथनानुसार इसका सम्बन्ध किसी प्रतिलिपिकार के साथ है। अन्त ही अन्त में शान्तिकर श्रुतदेवता का स्मरण किया गया है। साथ ही कुभधर, ब्रह्मशान्तियक्ष, वैरोट्या विद्यादेवी तथा अतहुडी नामक देवी को याद किया गया है। प्रतिलिपिकार ने निर्विघ्नता के लिए इन सब की प्रार्थना की है। इनमें से अतहुडी नाम के विषय मे कुछ पता नही लगता।

प्रकरण ७

ज्ञाताधर्मकथा

कारागार

शैलक मुनि

शुक परिव्राजक

थावच्चा सार्थवाही

चोक्खा परिव्राजिका

चीन एवं चीनी

डूबती नौका

उदकज्ञात

विविध मतानुयायी

दयालु मुनि

पाण्डव-प्रकरण

सुसुमा

सप्तम प्रकरण

ज्ञाताधर्मकथा

ज्ञाताधर्मकथा[1] का उपोद्घात विपाकसूत्र के उपोद्घात के ही समान है। इसमें सुधर्मास्वामी के 'ओयसी तेयसी चउणाणोवगते चोद्दसपुव्वी' आदि अनेक विशेषण उपलब्ध हैं। यहाँ 'विहरति' क्रियापद का तृतीय पुरुष में प्रयोग हुआ है। सुधर्मास्वामी के वर्णन के बाद जो जंबूस्वामी का वर्णन आता है उसमें भी 'घोरतवस्सी' आदि अनेक विशेषणों का प्रयोग हुआ है। यहाँ भी क्रियापद

---

[1] (अ) अभयदेवकृत वृत्तिसहित—आगमोदय समिति, बम्बई, सन् १९१९, आगम संग्रह, कलकत्ता, सन् १८७६, सिद्धचक्र साहित्य प्रचारक समिति, बम्बई, सन् १९५१–१९५२

(आ) गुजराती छायानुवाद—पूजाभाई जैन ग्रन्थमाला, अहमदाबाद, सन् १९३१.

(इ) हिन्दी अनुवाद—मुनि प्यारचन्द, जैनोदय पुस्तक प्रकाशक समिति, रतलाम, वि सं १९९५

(ई) संस्कृत व्याख्या व उसके हिन्दी-गुजराती अनुवाद के साथ—मुनि घासीलाल, जैन शास्त्रोद्धार समिति, राजकोट, सन् १९६३

(उ) हिन्दी अनुवादसहित—अमोलक ऋषि, हैदराबाद, वी सं २४४६

(ऊ) गुजराती अनुवादसहित (अध्ययन १ ८)—जेठालाल, जैनधर्म प्रसारक सभा, भावनगर, वि सं १९८५

का प्रयोग तृतीय पुरुष मे ही हुआ है। इससे प्रतीत होता है कि यह उपोद्घात भी सुधर्मा व जम्बू के अतिरिक्त किसी अन्य गीतार्थ महानुभाव ने बनाया है।

प्रस्तुत अंगसूत्र के प्रथम श्रुतस्कन्ध में ज्ञातरूप—उदाहरणरूप उन्नीस अध्ययन हैं तथा द्वितीय श्रुतस्कन्ध मे धर्मकथाओ के दस वर्ग हैं। इन वर्गों में चमर, बलि, चन्द्र, सूर्य, शक्रेन्द्र, ईशानेन्द्र आदि की पटरानियों के पूर्वभव की कथाएँ हैं। ये पटरानिया अपने पूर्वभव मे भी स्त्रिया थी। इनके जो नाम यहा दिये गये हैं वे सब पूर्वभव के ही नाम हैं। इस प्रकार इनके मनुष्यभव के ही नाम देवलोक में भी चलते हैं।

प्रथम अध्ययन 'उक्खित्तणाय' में अनेक विशिष्ट शब्द आए हैं—राजगृह, जवणिया (यवनिका—परदा), अट्ठारस सेणीप्पसेणीओ, याग, गणनायक, बहत्तर कला, अट्ठारसविहिप्पगारदेसीभासा, उग्र, भोग, राजन्य, मल्लिकी, लेच्छकी—लिच्छवी, कुत्तियावण, विपुलपर्वत इत्यादि। इन शब्दो से तत्कालीन सामाजिक परिस्थितियों का बोध होता है।

कारागार

प्रथम श्रुतस्कन्ध के द्वितीय अध्ययन में कारागार का विस्तृत वर्णन है। इसमें कारागार की भयकर यातनाओ का भी दिग्दर्शन कराया गया है। इस कथा में यह बताया गया है कि आज की तरह उस समय के मा-बाप भी बालको को गहने पहना कर बाहर भेजते थे जिससे उनकी हत्या तक हो जाती थी। राज्य के छोटे से अपराध में फँसने पर भी सेठ को कारावास भोगना पडता था, यह इस कथा मे स्पष्ट बताया गया है। इसमे यह भी बताया गया है कि पुत्र-प्राप्ति के लिए माताएं किस प्रकार विविध देवो की विविध मनौतिया मनाती थीं। इस कथा से यह मालूम पडता है कि कारागार में भोजन घर से ले जाने दिया जाता था। भोजन ले जाने के साधन का नाम भोजनपिटक है। वृत्तिकार के कथनानुसार यह बास का बना होता है। इस भोजनपिटक को मुहर—छाप लगाकर व चिह्नित करके कारागार में भेजा जाता था। भोजनपिटक के साथ पानी का घडा भी भेजा जाता था। कारागार से छूटने के बाद सेठ आलकारिक सभा मे जाकर हजामत बनवा कर सज्जित होता है। मालूम होता है उस समय कारागार मे हजामत बनवाने का प्रबन्ध नहीं था। हजामत की दुकान के लिए

प्रस्तुत कथा मे 'आलंकारिक सभा' शब्द का प्रयोग हुआ है। यह कथा रूपक अथवा दृष्टान्त के रूप में है। इसमें सेठ अपने पुत्र के घातक चोर के साथ बांधा जाता है। सेठ आत्मारूप है तथा अन्य चोर देहरूप है। शत्रुरूप चोर की सहायता प्राप्त करने के लिए सेठ उसे खाने-पीने को देता था। इसी प्रकार शरीर को सहायक समझ कर उसका पोषण करना प्रस्तुत कथानक का सार हे। एतद्विषयक विशेष समीक्षा मैंने अपनी पुस्तक 'भगवान महावीरनी धर्मकथाओ' मे की है।

तृतीय अंड—अंडा नामक तथा चतुर्थ कूर्म नामक अध्ययन के विशेष शब्द ये हैं—मयुरपोषक, मयगतीर—मृतगगा इत्यादि। ये दोनो अध्ययन मुमुक्षुओ के लिए बोधदायक हैं।

शैलक मुनि

पाचवें अध्ययन में शैलक नामक एक मुनि को कथा आती है। शैलक बीमार हो जाता है। उसे स्वस्थ करने के लिए वैद्य औषधि के रूप में मद्य पीने की सिफारिश करते हैं। वह मुनि मद्य तथा अन्य प्रकार के स्वास्थ्यप्रद भोजन का उपयोग कर स्वस्थ हो जाता है। स्वस्थ होने के बाद भी वह रस में आसक्त होकर मद्यादि का त्याग नहीं करता। यह देख कर पथक नामक उसका शिष्य विनयपूर्वक उसे मार्ग पर लाता है एव शैलक मुनि पुन. सदाचार सम्पन्न एवं तपस्वी बन जाता है। जिस ढग से पथक ने अपने गुरु को जाग्रत किया उस प्रकार के विनय को वर्तमान में भी कभी-कभी आवश्यकता होती है।

इस अध्ययन में षष्टितंत्र, रेवतक पर्वत वगैरह विशिष्ट शब्द आए हैं।

शुक परिव्राजक

इसी अध्ययन में एक शुकपरिव्राजक की कथा आती है। वह अपने धर्म को शौचप्रधान मानता है। वह परिव्राजक सौगंधिका नगरी का निवासी है। इस नगरी में उसका मठ है। वह ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद एव अथर्ववेद का ज्ञाता है, षष्टितंत्र मे कुशल है, साख्यमत मे निपुण है, पाच यम एव पाँच नियम युक्त शौचमूलक दस प्रकार के धर्म का निरूपण करने वाला है, दानधर्म, शौच-धर्म एव तीर्थाभिषेक को समझाने वाला है, धातुरक्त वस्त्र पहनता है। उसके उपकरण ये हैं त्रिदड, कुडिका, छत्र, करोटिका, कमडल, रुद्राक्षमाला, मृत्तिका-भाजन, त्रिकाष्ठिका, अकुश, पवित्रक—तांबे की अगूठी, केसरी—प्रमार्जन के लिए वस्त्र का टुकडा। वह साख्य के सिद्धान्तों का प्रतिपादन करता है। सुदर्शन नामक कोई गृहस्थ उसका अनुयायी था जो जैन तीर्थंकर के परिचय में आकर जैन

हो गया था। उसे पुनः अपने मत मे लाने के लिए शुक उसके पास जाता है। वृत्तिकार ने इस शुक को व्यास का पुत्र कहा है।

शुक कहता है कि शौच दो प्रकार का है द्रव्यशौच और भावशौच। पानी व मिट्टी से होने वाला शौच द्रव्यशौच है तथा दर्भ व मत्र द्वारा होने वाला शौच भावशौच है। जो अपवित्र होता है वह शुद्ध मिट्टी व जल से पवित्र हो जाता है। जीव जलाभिषेक करने से स्वर्ग मे जाता है। इक प्रकार प्रस्तुत कथा में वैदिक कर्मकाण्ड का थोडा-सा परिचय मिलता है।

जब शुक को मालूम पडा कि सुदर्शन किसी अन्य मत का अनुयायी हो गया है तो उसने सुदर्शन से कहा कि हम तुम्हारे धर्माचार्य के पास चलें और उससे कुछ प्रश्न पूछें। यदि वह उनका ठीक उत्तर देगा तो मैं उसका शिष्य हो जाऊँगा। सुदर्शन के धर्माचार्य ने शुक के द्वारा पूछे गये प्रश्नो का सही उत्तर दे दिया। शुक अपनी शर्त के अनुसार जैनाचार्य का शिष्य हो गया। उसने अपने पूर्व उपकरणो का त्याग कर चोटी उखाड ली। वह पुडरीक पर्वत पर जाकर अनशन करके सिद्ध हुआ। मूल सूत्र में पुडरीक पर्वत की विशिष्ट स्थिति के विषय में कोई उल्लेख नहीं है। वृत्तिकार ने इसे शत्रुजय पर्वत कहा है। प्रस्तुत प्रकरण में जैन साधु के पचमहाव्रत आदि आचार को एव जैन गृहस्थ के अणुव्रत आदि आचार को विनय कहा गया है। विनयपिटक आदि बौद्ध ग्रन्थों मे विनय शब्द का इसी अर्थ में प्रयोग हुआ है।

शुक परिव्राजक की कथा में यापनीय, सरिसवय, कुलत्थ, मास इत्यादि द्व्यर्थक शब्दो की भी अतीव रोचक चर्चा हुई है।

थावच्चा सार्थवाही

प्रस्तुत पाचवें अध्ययन की इस कथा में थावच्चा नामक एक सार्थवाही का कथानक आता है। वह लौकिक एव राजकीय व्यवहार व व्यापार आदि मे कुशल थी। इससे स्पष्ट मालूम पडता है कि कुछ स्त्रियाँ भी पुरुष के ही समान व्यापारिक एव व्यावसायिक कुशलता वाली थीं। इस ग्रन्थ में आनेवाली रोहिणी की कथा भी इस कथन की पुष्टि करती है। इस कथा में कृष्ण के राज्य की सीमा वैताढ्य पर्वत के अन्त तक बताई गई है। यह वैताढ्य पर्वत कौनसा है व कहाँ स्थित है? एतद्विषयक अनुसंधान की आवश्यकता है।

छठे अध्ययन का नाम 'तुव' है। तुव की 'कथा' शिक्षाप्रद है।

सातवें अध्ययन मे जैसो रोहणी की कथा आती है वैसी ही कथा बाइबिल के नये करार मे मथ्यूकी और ल्यूक के सवाद में भी उपलब्ध होती है और आठवें अध्ययन मे आई हुई रोहणी तथा मल्लि की कथा में स्त्रीजाति के प्रति विशेष आदर तथा उनके सामर्थ्य, चातुर्य आदि उत्तमोत्तम गुण भी वर्णित हैं।

चोक्खा परिव्राजिका

आठवें अध्ययन के मल्लि के कथानक में चोक्खा नामक एक साख्यमतानुयायिनी परिव्राजिका का वर्णन आता है। यह परिव्राजिका वेदादि शास्त्रो मे निपुण थी। उसकी कुछ शिष्याए भी थीं। इनके रहने के लिए मठ था।

चीन एव चीनी

मल्लि अध्ययन में "चीणचिमिढवकभग्गनास" इस वाक्य द्वारा किये गए पिशाच के रूप वर्णन के प्रसग पर अनेक बार 'चीन' शब्द का प्रयोग हुआ है। यह प्रयोग नाक की छुटाई के सन्दर्भ में किया गया है। इससे यह कल्पना की जा सकती है कि कथा के समय में चीनी लोग इस देश मे आ पहुँचे हों।

डूबती नौका

नवें अध्ययन मे आई हुई माकदी की कथा मे नौका का विस्तृत वर्णन है। इसमे नावसम्बन्धी समस्त साधन सामग्री का विस्तार से परिचय दिया गया है। इस नवम अध्ययन मे समुद्र में डूबती हुई नाव का जो वर्णन है वह कादम्बरी जैसे ग्रन्थ मे उपलब्ध डूबती नौका के वर्णन से बहुत-कुछ मिलता-जुलता है। यह वर्णन काव्यशैलो का एक सुन्दर नमूना है।

दसवें तथा ग्यारहवें अध्ययन की कथाएँ उपदेशप्रद हैं।

उदकज्ञात

बारहवें अध्ययन उदकज्ञात मे गटर के गदे पानी को साफ करने की पद्धति बताई हुई है। यह पद्धति वर्तमानकालीन फिल्टरपद्धति से मिलती-जुलतो है। इस कथानक का आशय यह है कि पुद्गल के अशुद्ध परिणाम से घृणा करने की आवश्यकता नहो है।

तेरहवें अध्ययन में नदमणियार की कथा आती है। इसमें लोगों के आराम के लिए नदमणियार द्वारा पुष्करिणी बनवाने की कथा अत्यन्त रोचक है और साथ-साथ चार उद्यान बनवाकर उनमें से एक उद्यान में चित्रसभा तथा

लोगों के श्रम को दूर करने के लिए सगीतशाला और दूसरे मे जलयन्त्रों से सुशोभित पाकशाला, तीसरे उद्यान में एक अच्छा बडा औषधालय बनवाया गया था जिसमें अच्छे वैद्य भी रखे गए थे और चौथे उद्यान मे आमजनता के लिए एक आलकारिक सभा बनवाई गई थी। इस कथा मे रोगों के नाम तथा उनके उपचार के लिए विविध प्रकार के आयुर्वेदिक उपाय भी सूचित किए गए हैं।

चौदहवें तेयलि अमात्य के अध्ययन मे जो बातें मिलती हैं वे आवश्यक-चूर्णि में भी बताई गई हैं।

विविध मतानुयायी

नदीफल नामक पंद्रहवें अध्ययन मे एक सघ के साथ विविध मत वालो के प्रवास का उल्लेख है। उन मतवालो के नाम ये हैं —

चरक—त्रिदडी अथवा कछनीधारी—कौपीनधारी—तापस।

चीरिक—गली मे पडे हुए चीथडों से कपडे बनाकर पहननेवाले सन्यासी।

चर्मखडिक—चमडे के वस्त्र पहनने वाले अथवा चमडे के उपकरण रखने वाले सन्यासी।

भिच्छुड—भिक्षुक अथवा बौद्धभिक्षुक।

पडुरग—शिवभक्त अर्थात् शरीर पर भस्म लगाने वाले।

गौतम—अपने साथ बैल रखने वाले भिक्षुक।

गोव्रती—रघुवश मे वर्णित राजा दिलीप की भाति गोव्रत रखने वाले।

गृहिधर्मी—गृहस्थाश्रम को ही श्रेष्ठ मानने वाले।

धर्मचिन्तक—धर्मशास्त्र का अध्ययन करने वाले।

अविरुद्ध—किसी के प्रति विरोध न रखने वाले अर्थात् विनयवादी।

विरुद्ध—परलोक का विरोध करने वाले अथवा समस्त मतो के साथ विरोध रखने वाले।

वृद्ध—वृद्धावस्था में संन्यास लेने में विश्वास रखने वाले।

श्रावक—धर्म का श्रवण करने वाले।

रक्तपट—रक्तवस्त्रधारी परिव्राजक।

यहा जो अर्थ दिये गये हैं वे इस कथासूत्र की वृत्ति के अनुसार हैं। इस विषय में विशेष अनुसधान की आवश्यकता हो सकती है।

दयालु मुनि

सोलहवें 'अवरकका' नामक अध्ययन में एक ब्राह्मणी द्वारा एक जैन मुनि को कडवी तुबी का शाक दिये जाने की घटना है। इसमे ब्राह्मण एव श्रमण का विरोध ही काम करता है। इस घटना से स्पष्ट मालूम होता है कि इस विरोध की जडें कितनी गहरी हैं। मुनि चींटियो पर दया लाकर उस कडुए शाक को जमीन पर न डालते हुए खुद ही खा जाते हैं एव परिणामत. मृत्यु को प्राप्त होते हैं।

इस अध्ययन में वर्णित पारिष्ठापनिकासमिति का स्वरूप विशेप विचारणीय है।

पाण्डव-प्रकरण

प्रस्तुत कथा मे सुकुमालिका नामक एक ऐसी कन्या की वात आती है जिसके शरीर का स्पर्श स्वाभाविकतया दाहक था। इसमें एक विवाह करने के के बाद दामाद के जीवित होते हुए भी कन्या का दूसरा विवाह करने की पद्धति का उल्लेख है। इसमे द्रौपदी के पाच पति कैसे हुए, इसकी विचित्र कथा है। महाभारत में भी व्यास मुनि द्वारा कही हुई इस प्रकार की और दो कथाओ का उल्लेख है। यहा नारद का भी उल्लेख है। उसे कलह कुशल के रूप में चित्रित किया गया है। इसमे लोक-प्रचलित कथा कूपमडूक का भी दृष्टान्त के रूप में उपयोग किया गया है। पाडव कृष्ण के बल की परीक्षा किस प्रकार करते हैं, इसका एक नमूना प्रस्तुत ग्रथ में मिलता है। कथाकार द्रौपदी का पूर्वभव वताते हुए कहते हैं कि वह अपने पूर्वजन्म मे स्वच्छन्द जैन साध्वी थी तथा कामसकल्प से घिरी हुई थी। उसे अस्नान के कठोर नियम के प्रति घृणा थी। वह बार-बार अपने हाथ-पैर आदि अगो को धोया करती तथा बिना पानी छींटे कहीं पर बैठती-सोती न थी। यह साध्वी मर कर द्रौपदी वनी। उसके प्राचीन कामसकल्प के कारण उसे पाच पति प्राप्त हुए। इस कथा में कृष्ण के नरसिंहरूप का भी उल्लेख है। इससे मालूम पडता है कि नरसिंहावतार की कथा कितनी लोकव्यापक हो गई थी। इस कथा मे यह भी उल्लेख है कि कृष्ण ने अप्रसन्न होकर पाडवों को देशनिकाला दिया। पाण्डवो ने निर्वासित अवस्था में पाडुमथुरा बसाई जो वर्तमान में दक्षिण मे मदुरा के नाम से प्रसिद्ध है। इस कथा में शत्रु जय तथा उज्जयत—गिरनार पर्वत का भी उल्लेख एक साधारण पर्वत की तरह है। शत्रु जय पर्वत हस्तकल्प नगर के पास बताया गया है। वर्तमान 'हाथप' हस्तकल्प का ही परिवर्तित रूप प्रतीत होता है। शिलालेखों में इसे 'हस्तवप्र' कहा गया है।

आइण्ण—आजन्न—आजन्य – उत्तम घोडों— की कथा जिसमे आती है उस सत्रहवें अध्ययन मे मच्छडिका, पुष्पोत्तर और पद्मोत्तर नाम की तीन प्रकार की शक्कर की चर्चा की गई है तथा उसके प्रलोभन मे फसने वालो को कैसी दुर्दशा होती है, यही बताने का इस कथा का आशय है।

सुसुमा

सुसुमा नामक अठारहवें अध्ययन में असाधारण परिस्थिति उपस्थित होने पर जिस प्रकार माता-पिता अपनी सतान के मृत शरीर का मास खाकर जीवन-रक्षा कर सकते हैं इसी प्रकार षट्काय के रक्षक व जीवमात्र के माता पिता के समान जैन श्रमण-श्रमणिया असाधारण परिस्थिति में ही आहार का उपभोग करते हैं। उनके लिए आहार अपनी सतान के मृत शरीर के मास के समान है। उन्हें रसास्वादन की दृष्टि से नहीं अपितु सयम-साधनरूप शरीर की रक्षा के निमित्त ही असह्य क्षुधा-वेदना होने पर आहार ग्रहण करना चाहिए, ऐसा उपदेश है। बौद्ध ग्रथ सयुत्तनिकाय में इसी प्रकार की कथा इसी आशय से भगवान् बुद्ध ने कही है। विशुद्धिमार्ग तथा शिक्षासमुच्चय में भी इसी कथा के अनुसार आहार का उद्देश्य बताया गया है। स्मृतिचद्रिका मे बताया गया है कि मनुस्मृति मे वर्णित त्यागियो से सम्बन्धित आहार-विधान इसी प्रकार का है।

इस प्रकार प्रस्तुत कथा-ग्रन्थ की मुख्य तथा अवान्तर कथाओं में भी अनेक घटनाओं, विविध शब्दो एव विभिन्न वर्णनों से प्राचीनकालीन अनेक बातो का पता लगता है। इन कथाओं का तुलनात्मक अध्ययन करने पर सस्कृति व इतिहास सम्बन्धी अनेक तथ्यों का पता लग सकता है।

रण

उपासकदशा

मर्यादा-निर्धारण

विघ्नकारी देव

मांसाहारिणी स्त्री व नियतिवादी श्रावक

आनन्द का अवधिज्ञान

उपसंहार

अष्टम प्रकरण

उपासकदशा

सातवें अग उपासकदशा[1] में भगवान् महावीर के दस उपासको—श्रावकों की कथाएँ हैं। 'दशा' शब्द दस सख्या एव अवस्था दोनों का सूचक है। उपासकदशा में उपासकों की कथाएँ दस ही हैं अत दस सख्यावाचक अर्थ उपयुक्त है। इसी प्रकार उपासको की अवस्था का वर्णन करने के कारण अवस्थावाची अर्थ भी उपयुक्त ही है।

---

१ (अ) अभयदेवकृत टीकासहित—आगमोदय समिति, बम्बई, सन् १९२०, धनपतसिंह, कलकत्ता, सन् १८७६

(आ) प्रस्तावना आदि के साथ—पी एल वैद्य, पूना, सन् १९३०

(इ) अग्रेजी अनुवाद आदि के साथ—Hoernle, Bibliotheca Indica, Cacutta, 1885-1888

(ई) गुजराती छायानुवाद—पूंजाभाई जैन ग्रन्थमाला, अहमदाबाद, सन् १९३१

(उ) सस्कृत व्याख्या व उसके हिन्दी-गुजराती अनुवाद के साथ—मुनि घासीलाल, जैन शास्त्रोद्धार समिति, राजकोट, सन् १९६१

(ऊ) अभयदेवकृत टीका के गुजराती अनुवाद के साथ—भगवानदास हर्षचन्द्र, अहमदाबाद, वि स० १९९२

(ऋ) हिन्दी अनुवाद सहित—अमोलक ऋषि, हैदराबाद, वी स २४४६

इस अग का उपोद्घात भी विपाक के ही समान है अत यह कहा जा सकता है कि उतना उपोद्घात का अश बाद में जोडा गया है।

स्थानाग में उपासकदशांग के दस अध्ययनों के नाम इस प्रकार बताये गये हैं आनद, कामदेव, चूलणिपिता, सुरादेव, चुल्लशतक, कुंडकोलिक, सद्दालपुत्र, महाशतक, नदिनीपिता और सालतियापिया—सालेयिकापिता। दसवां नाम उपासकदशाग मे सालिहीपिया है जबकि स्थानाग में सालतियापिया अथवा सालेयिकापिता है। कुछ प्राचीन हस्तप्रतियो में लतियापिया, लत्तियपिया, लतिणीपिया, लेतियापिया आदि नाम भी मिलते हैं। इसी प्रकार नंदिणीपिया के बजाय ललिताकपिया तथा सालेइणीपिया नाम भी आते हैं। इस प्रकार इन नामों में काफी हेरफेर हो गया है। समवायाग में अध्ययनों की ही सख्या दी है, नामो की सूचना नहीं। इसी प्रकार नदीसूत्र मे भी अध्ययन-सख्या का ही उल्लेख है, नामो का नहीं।

इस अग का सटिप्पण अनुवाद प्रकाशित हुआ है। टिप्पणियाँ प्रस्तुत लेखक द्वारा ही लिखी गई हैं अत यहाँ एतद्विषयक विशेष विवेचन अनपेक्षित है।

मर्यादा-निर्धारण

*प्रस्तुत सूत्र मे आनेवाली कथाओं में सब श्रावक अपने खान पान, भोगो-*पभोग एव व्यवसाय की मर्यादा निर्धारित करते हैं। इन्होने धन की जो मर्यादा स्वीकार की है वह बहुत ही बडी मालूम होती है। खानपान की मर्यादा के अनुरूप ही सम्पत्ति की भी मर्यादा होनी चाहिए। ये श्रावक व्यापार, कृषि, ब्याज का धधा एव अन्य प्रकार का व्यवसाय करते रहते हैं। ऐसा करने पर धन बढ़ता ही जाना चाहिए। इस बढे हुए धन के उपयोग के विषय में सूत्र में किसी प्रकार का विशेष उल्लेख नहीं है। उदाहरणार्थ गायों की मर्यादा दस हजार अथवा इससे अधिक रखी है। अब उन गायों के नये-नये बछडे-बछडियाँ होने पर उनका क्या होगा? निर्धारित सख्या में वृद्धि होने पर व्रतभग होगा अथवा नहीं? व्रतभग की स्थिति पैदा होने पर बढ़ी हुई सम्पत्ति का क्या उपयोग होगा?

आनन्द श्रावक के उसकी पत्नी एव एक पुत्र था। इस प्रकार वे तीन व्यक्ति थे। आनन्द ने सम्पत्ति की जो मर्यादा रखी वह इस प्रकार है: हिरण्य की चार कोटि मुद्राएँ निधान मे सुरक्षित, चार कोटि वृद्धि के लिए गिरवी आदि के हेतु, एव चार कोटि व्यापार के लिए, दस-दस हजार गायो के चार व्रज, पाच सौ हलों से जोती जा सके उतनी जमीन, देशान्तरगामी पाच सौ शकट व उतने

ही अनाज आदि लाने के लिए, चार यानपात्र—नौका देशान्तरगामी व चार ही नौका घर के उपयोग के लिए। उसने खान-पान की जो मर्यादा रखी वह साधारण है।

वर्तमान में भी श्रावकलोग खान-पान के अमुक नियम रखते हुए पास मे अत्यधिक परिग्रह व धनसम्पत्ति रखते हैं। कुछ लोग परिग्रह की मर्यादा करने के बाद धन की वृद्धि होने पर उसे अपने स्वामित्व में न रखते हुए स्त्री-पुत्रादिक के नाम पर चढा देते हैं। इस प्रकार छोटी-छोटी चीजो का तो त्याग होता रहता है किन्तु महादोषमूलक धनसचय का काम बंद नहीं होता।

विघ्नकारी देव

सूत्र मे श्रावकों की साधना में विघ्न उत्पन्न करने वाले भूत पिशाचों का भयंकर वर्णन है। जब ये भूतपिशाच विघ्न पैदा करने आते हैं तब केवल श्रावक ही उन्हे देख सकते हैं, घर के अन्य लोग नहीं। ऐसा क्यो? क्या यह नहीं कहा जा सकता कि यह सब उन श्रावको की केवल मनोविकृति है? एतद्विषयक विशेष मनोवैज्ञानिक अनुसधान की आवश्यकता है। वैदिक एव बौद्ध परम्परा में भी इस प्रकार के विघ्नकारी देवो दानवों व पिशाचों की कथाएँ मिलती हैं।

मासाहारिणी स्त्री व नियतिवादी श्रावक

इस अगग्रन्थ में एक श्रावक की मासाहारिणी स्त्री का वर्णन है। इस श्रावक की तेरह पत्निया थीं। तेरहवीं मासाहारिणी पत्नी रेवती ने अपनी बारह सौतो की हत्या कर दी थी। वह अपने पीहर से गाय के बछड़ों का मास मँगवा कर खाया करती थी। इस सूत्र में एक कुम्भकार श्रावक का भी वर्णन है जो मखलिपुत्र गोशालक का अनुयायी था। बाद मे भगवान् महावीर ने उसे युक्तिपूर्वक अपना अनुयायी बना लिया था। इस ग्रंथ में कुछ हिंसाप्रधान धधो का श्रावको के लिए निषेध किया गया है, जैसे शस्त्र बनाना, शस्त्र बेचना, विष बेचना, बाल का व्यापार करना, गुलामो का व्यापार करना आदि। एतद्विषयक विशेष समीक्षा 'भगवान महावीरना दश उपासको' नामक पुस्तक में दिये हुए उपोद्घात एव टिप्पणियों में देखी जा सकती है।

आनन्द का अवधिज्ञान

श्रावक को अवधिज्ञान किस हद तक हो सकता है, इस विषय में आनन्द व गौतम के बीच चर्चा है। आनन्द श्रावक कहता है कि मेरी बात ठीक है जबकि गौतम गणधर कहते हैं कि तुम्हारा कथन मिथ्या है। आनन्द गौतम की बात

मानने को तैयार नहीं होता। गौतम भगवान् महावीर के पास आकर इसका स्पष्टीकरण करते हैं एव भगवान् महावीर की आज्ञा से आनद के पास जाकर अपनी गलती स्वीकार कर उससे क्षमायाचना करते हैं। इससे गौतम की विनीतता एव ऋजुता तथा आनद की निर्भीकता ऐवं सत्यता प्रकट होती है।

उपसंहार

विद्यमान अगसूत्रो व अन्य आगमो में प्रधानत' श्रमण-श्रमणियो के आचारादि का निरूपण ही दिखाई देता है। उपासकदशाग ही एक ऐसा सूत्र है जिसमें गृहस्थ धम के सम्बन्ध मे विशेष प्रकाश डाला गया है। इससे श्रावक अर्थात् श्रमणोपासक के मूल आचार एवं अनुष्ठान का कुछ पता लग सकता है। श्रमण-श्रमणी के आचार-अनुष्ठान की ही भांति श्रावक-श्राविका के आचार अनुष्ठान का निरूपण भी अनिवार्य है क्योकि ये चारो ही सघ के समान स्तम्भ हैं। वास्तव में श्रमण-श्रमणियों की विद्यमानता का आधार भी एक दृष्टि से श्रावक-श्राविकाएँ ही हैं। श्रावकसस्था के आधार के बिना श्रमणसस्था का टिकना सभव नहीं। श्रावकधर्म की भित्ति जितनी अधिक सदाचार व न्याय नीति पर प्रतिष्ठित होगी, श्रमणधर्म की नींव उतनी ही अधिक दृढ होगी। इस विचार से श्रावक-श्राविकाओं के जीवनव्यवहार की व्यवस्था इसमें की गई है। गृहस्थकर्मों को केवल आरंभ-समारंभकारी कह देने से काम नहीं चलता अपितु गृहस्थधर्म में सदाचार एवं सद्विचार की प्रतिष्ठा करना इसका उद्देश्य है।

अ त द् शा

द्वारका वर्णन

गजसुकुमाल

दयाशील कृष्ण

कृष्ण की मृत्यु

अर्जुनमाली एवं युवक सुदर्शन

अन्य अन्तकृत

नवम प्रकरण

अन्तकृद्दशा

आठवाँ अंग अंतगडदसा[1] है। इसका संस्कृत रूप अंतकृतदशा अथवा अंतकृद्दशा है। अंतकृत अर्थात् संसार का अंत करनेवाले। जिन्होंने अपने संसार अर्थात् भवचक्र—जन्ममरण का अंत किया है अर्थात् जो पुन जन्म-मरण के चक्र में फँसनेवाले नहीं हैं ऐसी आत्माओं का वर्णन अन्तकृतदशा में उपलब्ध है। इसका उपोद्घात भी विपाकसूत्र के ही समान है।

दिगम्बर परम्परा के राजवार्तिक आदि ग्रंथो में अंतकृतों के जो नाम मिलते हैं वे स्थानांग में उल्लिखित नामों से अधिकांशतया मिलते-जुलते हैं। स्थानांग में निम्नोक्त दस नामों का निर्देश है :—

---

[1] (अ) अभयदेवविहित वृत्तिसहित—आगमोदय समिति, बम्बई, सन् १९२०, धनपत सिंह, कलकत्ता, सन् १८७५

(आ) प्रस्तावना आदि के साथ—पी एल वैद्य, पूना, सन् १९३२

(इ) अंग्रेजी अनुवाद—L D Barnett, 1907

(ई) अभयदेवविहित वृत्ति के गुजराती अनुवाद के साथ—जैनधर्म प्रसारक सभा, भावनगर, वि स १९९०.

(उ) संस्कृत व्याख्या व उसके हिन्दी-गुजराती अनुवाद के साथ—मुनि घासीलाल, जैन शास्त्रोद्धार समिति, राजकोट, सन् १९५८

(ऊ) हिन्दी अनुवादसहित—अमोलक ऋषि, हैदराबाद, वी सं. २४४६

(ऋ) गुजराती छायानुवाद—गोपालदास जीवाभाई पटेल, जैन साहित्य प्रकाशन समिति, अहमदाबाद, सन् १९४०

नमी, मातग, सोमिल, रामगुप्त, सुदर्शन, जमाली, भगाली, किंकंम, पल्लते- तिय और फाल भ्रवडपुत्र।

समवायाग में अन्तकृतदशा के दस अध्ययन व सात वर्ग बताये गये हैं। नामो का उल्लेख नहीं है। नन्दिसूत्र में इस अग के दस अध्ययन व आठ वर्ग बताये गये हैं। नामो का उल्लेख इसमें भी नहीं है।

वर्तमान में उपलब्ध अतकृतदशा मे न तो दस अध्ययन ही हैं और न उपर्युक्त नामवाले अतकृतो का ही वर्णन है। इसमें नदी के निर्देशानुसार आठ वर्ग हैं, समवाय के उल्लेखानुसार सात वर्ग नहीं। उपलब्ध अतकृतदशा के प्रथम वर्ग में निम्नोक्त दस अध्ययन हैं —

गौतम, समुद्र, सागर, गम्भीर, थिमिअ, अयल, कपिल्ल, अक्षोभ, पसेणई और विष्णु।

द्वारका-वर्णन

प्रथम वर्ग में द्वारका का वर्णन है। इस नगरी का निर्माण धनपति की योजना के अनुसार किया गया। यह किस प्रदेश में थी, इसका सूत्र में कोई उल्लेख नहीं है। द्वारका के उत्तर-पूर्व में रैवतक पर्वत, नन्दनवन एव सुरप्रिय यक्षायतन होने का उल्लेख है। राजा का नाम कृष्ण वासुदेव बताया गया है। कृष्ण के अधीन समुद्र-विजय आदि दस दशार्ह, बलदेव आदि पाँच महावीर, प्रद्युम्न आदि साढ़े तीन करोड कुमार, शाम्ब आदि साठ हजार दुर्दान्त, उग्रसेन आदि सोलह हजार राजा, रुक्मिणी आदि सोलह हजार देवियाँ—रानियाँ, अनगसेना आदि सहस्रो गणिकाएँ व अन्य अनेक लोग थे। यहाँ द्वारका में रहने वाले अंधकवृष्णि राजा का भी उल्लेख आता है।

अधकवृष्णि के गौतम आदि दस पुत्र सयम ग्रहण कर उसका पूर्णतया पालन करते हुए सामायिक आदि ग्यारह अंगो का अध्ययन कर अतकृत अर्थात् मुक्त हुए। ये दसों मुनि शत्रुजय पर्वत पर सिद्ध हुए।

द्वितीय वर्ग में इसी प्रकार के अन्य दस नाम हैं।

गजसुकुमाल

तृतीय वर्ग में तेरह नाम हैं। नगर भद्दिलपुर है। गृहपति का नाम नाग व उसकी पत्नी का नाम सुलसा है। इसमें सामायिक आदि चौदह पूर्वों के अध्ययन का उल्लेख है। सिद्धिस्थान शत्रुजय ही है। इन तेरह नामों में गज-

सुकुमाल मुनि का भी समावेश है। कृष्ण के छोटे भाई गज की कथा इस प्रकार है :—

छ मुनि थे। वे छहो समान आकृतिवाले, समान वयवाले एव समान वर्णवाले थे। वे दो-दो की जोडी में देवकी के यहाँ भिक्षा लेने गये। जब वे एक बार, दो बार व तीन बार आये तो देवकी ने सोचा कि ये मुनि बार-बार क्यों आते हैं? इसका स्पष्टीकरण करते हुए उन मुनियों ने कहा कि हम बार बार नहीं आते किन्तु हमसबकी समान आकृति के कारण तुम्हे ऐसा ही लगता है। हम छहों सुलसा के पुत्र हैं। मुनियो की यह बात सुन कर देवकी को कुछ स्मरण हुआ। उसे याद आया कि पोलासपुर नामक गाँव में अतिमुक्तक नामक कुमारश्रमण ने मुझे कहा था कि तू ठीक एक समान आठ पुत्रों को जन्म देगी। देवकी ने सोचा कि उस मुनि का कथन ठीक नहीं निकला। वह एतद्विषयक स्पष्टीकरण के लिए तीर्थंकर अरिष्टनेमि के पास पहुँची। अरिष्टनेमि ने बताया कि अतिमुक्तक की बात गलत नहीं है। ऐसा हुआ है कि सुलसा के मृत बालक पैदा होते थे। उसने पुत्र देनेवाले हरिणेगमेसी देव की आराधना की। इससे उसने तेरे जन्मे हुए पुत्र उठाकर उसे सौंप दिये व उसके मरे हुए बालक लाकर तेरे पास रख दिये। इस प्रकार ये छ मुनि वस्तुत तेरे ही पुत्र हैं। यह सुनकर देवकी के मन मे विचार हुआ कि मैंने किसी बालक का बचपन नहीं देखा अत अब यदि मेरे एक पुत्र हो तो उसका बचपन देखूँ। इस विचार से देवकी भारी चिन्ता में पड गई। इतने में कृष्ण वासुदेव देवकी को प्रणाम करने आये। देवकी ने कृष्ण को अपने मन की बात बताई। कृष्ण ने देवकी को सात्वना देते हुए कहा कि मैं ऐसा प्रयत्न करूँगा कि मेरे एक छोटा भाई हो। इसके बाद कृष्ण ने पौषधशाला में जाकर तीन उपवास कर हरिणेगमेसी देव की आराधना की व उससे एक छोटे भाई की मांग की। देव ने कहा कि तेरा छोटा भाई होगा और वह छोटी उम्र में ही दीक्षित होकर सिद्धि प्राप्त करेगा। बाद में देवकी को पुत्र हुआ। उसी का नाम गज अथवा गजसुकुमाल है। गज का विवाह करने के उद्देश्य से कृष्ण ने चतुर्वेदज्ञ सोमिल ब्राह्मण की सोमा नामक कन्या को अपने यहाँ लाकर रक्खी। इतने में भगवान् अरिष्टनेमि द्वारका के सहस्रांबवन उद्यान में आये। उनका उपदेश सुनकर माता-पिता की अनुमति प्राप्तकर गज ने दीक्षा अगीकार की। सोमा ऐसे ही रह गई। सोमिल ने क्रोधित हो श्मशान में ध्यान करते हुए मुनि गजसुकुमाल के सिर पर मिट्टी की

पाल बाँधकर धधकते अंगारे रखे। मुनि शान्त भाव से मृत्यु प्राप्त कर अन्तकृत हुए।

इस कथा में अनेक बातें विचारणीय हैं, जैसे पुत्र देनेवाला हरिणेगमेसी देव, क्षायिकसम्यक्त्वधारी कृष्ण द्वारा की गई उसकी आराधना और वह भी पौषध-शाला में, देवकी के पुत्रों का अपहरण, अतिमुक्तक मुनि की भविष्यवाणी, भगवान् अरिष्टनेमि का एतद्विषयक स्पष्टीकरण आदि।

दयाशील कृष्ण .

तृतीय वर्ग मे कृष्ण से सम्बन्धित एक विशिष्ट घटना इस प्रकार है —

एक बार वासुदेव कृष्ण सदलबल भगवान् अरिष्टनेमि को वंदन करने जा रहे थे। मार्ग में उन्होने एक वृद्ध मनुष्य को ईंटों के ढेर में से एक-एक ईंट उठाकर ले जाते हुए देखा। यह देखकर कृष्ण के हृदय में दया आई। उन्होंने भी ईंटें उठाना शुरू किया। यह देखकर साथ के सब लोग भी ईंटें उठाने लगे। देखते ही देखते सब ईंटें घर में पहुँच गईं। इससे उस वृद्ध मनुष्य को राहत मिली। वासुदेव कृष्ण का यह व्यवहार अति सहानुभूतिपूर्ण मनोवृत्ति का निर्देशक है।

चतुर्थ वर्ग मे जालि आदि दस मुनियों की कथा है।

कृष्ण की मृत्यु

पाँचवें वर्ग में पद्मावती आदि दस अतकृत स्त्रियो की कथा है। इसमें द्वारका के विनाश की भविष्यवाणी भगवान् अरिष्टनेमि के मुख से हुई है। कृष्ण की मृत्यु की भविष्यवाणी भी अरिष्टनेमि द्वारा ही की गई है जिसमें बताया गया है कि दक्षिण समुद्र की ओर पाण्डुमथुरा जाते हुए कोसंबी नामक वन मे बरगद के वृक्ष के नीचे जराकुमार द्वारा छोड़ा हुआ बाण बायें पैर में लगने पर कृष्ण की मृत्यु होगी। इस कथा में कृष्ण ने यह भी घोषित किया है कि जो कोई दीक्षा लेगा उसके कुटुम्बियो का पालन-पोषण व रक्षण मैं करूँगा।

चौथे व पाँचवें वर्ग के अतकृत कृष्ण के ही कुटुम्बीजन थे।

अर्जुनमाली एव युवक सुदर्शन

छठे वर्ग में सोलह अध्ययन हैं। इसमें एक मुद्गरपाणि यक्ष का विशिष्ट अध्ययन है। इसका सार इस प्रकार है :—

अर्जुन नाम का एक माली था। वह मुद्गरपाणि यक्ष का बड़ा भक्त था। प्रतिदिन उसकी प्रतिमा की पूजा-अर्चना किया करता था। उस प्रतिमा के हाथ में लोहे का एक विशाल मुद्गर था। एक बार भोगलोलुप गुडो की एक टोली ने यक्ष के इस मंदिर में अर्जुन को बांध कर उसकी स्त्री के साथ अनाचारपूर्ण बरताव किया। उस समय अर्जुनमाली ने उस यक्ष की खूब प्रार्थना की एवं अपने को तथा अपनी स्त्री को उन गुण्डों से बचाने की अत्यन्त आग्रहपूर्ण विनती की किन्तु काष्ठप्रतिमा कुछ न कर सकी। इससे वह समझा कि यह कोई शक्तिशाली यक्ष नहीं है। यह तो केवल काष्ठ है। जब वे गुण्डे चले गये एवं अर्जुनमाली मुक्त हुआ तो उसने उस मूर्ति के हाथ में से लोहमुद्गर ले लिया एवं उस मार्ग से गुजरनेवाले सात जनों को प्रतिदिन मारने लगा। यह घटना राजगृह नगर में हुई। यह देखकर वहां के राजा श्रेणिक ने यह घोषित कर दिया कि उस मार्ग से कोई भी व्यक्ति न जाय। जाने पर मारे जाने की अवस्था में राजा की कोई जिम्मेदारी न होगी। संयोगवश इसी समय भगवान् महावीर का उसी वनखंड में पदार्पण हुआ। राजगृह का कोई भी व्यक्ति, यहां तक कि वहां का राजा भी अर्जुनमाली के भय से महावीर को वंदन करने न जा सका। पर इस राजगृह में सुदर्शन नामक एक युवक रहता था जो भगवान् महावीर का परम भक्त था। वह अकेला ही महावीर के वंदनार्थ उस मार्ग से रवाना हुआ। उसके माता-पिता ने तो बहुत मना किया किन्तु वह न माना। वह महावीर का साधारण भक्त न था। उसे लगा कि भगवान् मेरे गांव के पास आवें और मैं मृत्यु के भय से उन्हें वंदन करने न जाऊं तो मेरी भक्ति अवश्य लज्जित होगी। यह सोच कर सुदर्शन रवाना हुआ। मार्ग में उसे अर्जुनमाली मिला। वह उसे मारने के लिए आगे बढ़ा किन्तु सुदर्शन की शान्त मुद्रा देखकर उसका मित्र बन गया। बाद में दोनों भगवान् महावीर के पास पहुंचे। भगवान् का उपदेश सुन कर अर्जुनमाली मुनि हो गया। अन्त में उसने सिद्धि प्राप्त की।

इस कथा में एक बात समझ में नहीं आती कि श्रेणिक के पास राजसत्ता व सैनिकबल होते हुए भी वह अर्जुनमाली को लोगों को मारने से क्यों नहीं रोक सका? श्रेणिक भगवान् महावीर का असाधारण भक्त कहा जाता है फिर भी वह उन्हें वंदन करने नहीं गया। सारे नगर में भगवान् का सच्चा भक्त एक सुदर्शन ही साबित हुआ। संभवतः इस कथा का उद्देश्य यही बताना हो कि सच्ची श्रद्धा व भक्ति कितनी दुर्लभ है!

अन्य अंतकृत :

छठे वर्ग के पद्रहवें अध्ययन में अतिमुक्त नामक भगवान् महावीर के एक शिष्य का कथानक है। इस अध्ययन में गाव के चौक अथवा क्रीडास्थल के लिए 'इन्द्रस्थान' शब्द का प्रयोग हुआ है।

सातवें वर्ग में तेरह अध्ययन हैं। इनमें अतकृत-स्त्रियो का वर्णन है।

आठवें वर्ग में दस अध्ययन हैं। इन अध्ययनो में श्रेणिक की काली आदि दस भार्याओं का वर्णन है। इस वर्ग में प्रत्येक अतकृत-साध्वी के विशिष्ट तप का विस्तृत परिचय दिया गया है। इससे इनकी तपस्या की उग्रता का पता लगता है।

अ त्तरौपपातिकदशा

जालि आदि राजकुमार

दीर्घसेन आदि राजकुमार

धन्यकुमार

दशम प्रकरण

अनुत्तरौपपातिकदशा

बारहवें स्वर्ग के ऊपर नव ग्रैवेयक विमान हैं और इनके ऊपर विजय, वैजयन्त, जयन्त, अपराजित एव सर्वार्थसिद्ध—ये पांच अनुत्तर विमान हैं। ये विमान सब विमानो मे श्रेष्ठ हैं अर्थात् इनसे श्रेष्ठतर अन्य विमान नहीं हैं। अत इन्हें अनुत्तर विमान कहते हैं। जो व्यक्ति अपने तप एव सयम द्वारा इन विमानों में उपपात अर्थात् जन्म ग्रहण करते हैं उन्हें अनुत्तरौपपातिक कहते हैं। जिस सूत्र मे इसी प्रकार के मनुष्यों की दशा अर्थात् अवस्था का वर्णन है, उसका नाम अनुत्तरौपपातिकदशा[1] है।

---

[1] (अ) अभयदेवविहित वृत्तिसहित—आगमोदय समिति, सूरत, सन् १९२०, धनपतसिंह, कलकत्ता, सन् १८७५

(आ) प्रस्तावना आदि के साथ—पी एल वैद्य, पूना, सन् १९३२

(इ) अग्रेजी अनुवाद—L D Barnett, 1907

(ई) मूल—जैन आत्मानन्द सभा, भावनगर, सन् १९२१

(उ) अभयदेवविहित वृत्ति के गुजराती अनुवाद के साथ—जैनधर्म प्रसारक सभा, भावनगर, वि स १९९०

(ऊ) हिन्दी टीका सहित—मुनि आत्माराम, जैन शास्त्रमाला कार्यालय, लाहौर, सन् १९३६

(ऋ) सस्कृत व्याख्या व उसके हिन्दी-गुजराती अनुवाद के साथ—मुनि घासीलाल, जैन शास्त्रोद्धार समिति, राजकोट, सन् १९५९

(ए) हिन्दी अनुवाद सहित—अमोलक ऋषि, हैदराबाद, वी स २४४६

(ऐ) गुजराती छायानुवाद—गोपालदास जीवाभाई पटेल, जैन साहित्य प्रकाशन समिति, अहमदावाद, सन् १९४०

समवायाग में बताया गया है कि अनुत्तरौपपातिकदशा नवम अग है। यह एक श्रुतस्कन्धरूप है। इसमें तीन वर्ग व दस अध्ययन हैं। नन्दीसूत्र में भी यही बताया गया है। इसमे अध्ययनो की संख्या का निर्देश नहीं है। अनुत्तरौपपातिकदशा के अन्त में लिखा है कि इसका एक श्रुतस्कन्ध है, तीन वर्ग हैं, तीन उद्देशनकाल हैं अर्थात् तीन दिनों में इसका अध्ययन पूर्ण होता है। प्रथम वर्ग में दस उद्देशक अर्थात् अध्ययन हैं, द्वितीय में तेरह एव तृतीय में दस उद्देशक हैं। इस प्रकार इस सूत्र में सब मिलकर तैंतीस अध्ययन होते हैं। समवायाग सूत्र मे इसके तीन वर्ग, दस अध्ययन व दस उद्देशनकाल बताये गये हैं। नन्दीसूत्र में तीन वर्ग व तीन ही उद्देशनकाल निर्दिष्ट हैं। इस प्रकार इन सूत्रो के उल्लेख में परस्पर भेद दिखाई देता है। इस भेद का कारण वाचना-भेद होगा।

राजवार्तिक आदि अचेलकपरम्परासम्मत ग्रन्थों में भी अनुत्तरौपपातिकदशा का परिचय मिलता है। इनमे इसके तीन वर्गों का कोई उल्लेख नहीं है। ऋषिदास आदि से सम्बन्धित दस अध्ययनों का ही निर्देश है। स्थानांग में दस अध्ययनो के नाम इस प्रकार हैं ऋषिदास, धन्य, सुनक्षत्र, कार्तिक, सस्थान, शालिभद्र, आनन्द, तेतली, दशार्णभद्र और अतिमुक्तक। स्थानाग व राजवार्तिक में जिन नामो का उल्लेख है उनमें से कुछ नाम उपलब्ध अनुत्तरौपपातिक में मिलते हैं। जैसे वारिषेण (राजवार्तिक) नाम प्रथम वर्ग मे है। इसी प्रकार धन्य, सुनक्षत्र तथा ऋषिदास (स्थानाग व राजवार्तिक) नाम तृतीय वर्ग में हैं। अन्य नामो की अनुपलब्धि का कारण वाचनाभेद हो सकता है।

उपलब्ध अनुत्तरौपपातिकदशा तीन वर्गों मे विभक्त है। प्रथम वर्ग में १० अध्ययन हैं, द्वितीय वर्ग मे १३ अध्ययन हैं और तृतीय वग में १० अध्ययन हैं। इस प्रकार तीनो वर्गों की अध्ययन-सख्या ३३ होती है। प्रत्येक अध्ययन में एक एक महापुरुष का जीवन वर्णित है।

जालि आदि राजकुमार

प्रथम वर्ग में जालि, मयालि, उपजालि, पुरुषसेन, वारिषेण, दीर्घदन्त, लष्टदत, वेहल्ल, वेहायस और अभयकुमार – इन दस राजकुमारों का जीवन दिया गया है। आर्य सुधर्मा ने अपने शिष्य जम्बू को उक्त दस राजकुमारों के जन्म, नगर, माता-पिता आदि का विस्तृत परिचय करवाकर उनके त्याग व तप का सुदर ढग से वर्णन किया है और बताया है कि ये दसों राजकुमार मनुष्य भव पूर्ण करके

कौन-कौन से अनुत्तर विमानो मे उत्पन्न हुए हैं तथा देवयोनि पूर्ण होने पर वहाँ से च्युत होकर कहा जन्म लेंगे एव किस प्रकार सिद्ध-बुद्ध-मुक्त होंगे।

दीर्घसेन आदि राजकुमार

द्वितीय वर्ग में दीर्घसेन, महासेन, लष्टदन्त, गूढदन्त, शुद्धदन्त, हल्ल, द्रुम, द्रुमसेन, महाद्रुमसेन, सिंह, सिंहसेन, महासिंहसेन और पुष्पसेन—इन तेरह राजकुमारो के जीवन का वर्णन जालिकुमार के जीवन की ही भांति सक्षेप में किया गया है। ये भी अपनी तप.साधना द्वारा पांच अनुत्तर विमानों में गये हैं। वहाँ से च्युत होकर मनुष्यजन्म पाकर सिद्ध-बुद्ध-मुक्त होंगे।

धन्यकुमार

तृतीय वर्ग में धन्यकुमार, सुनक्षत्रकुमार, ऋषिदास, पेल्लक, रामपुत्र, चन्द्रिक, पृष्टिमातृक, पेढालपुत्र, पोट्टिल्ल और वेहल्ल—इन दस कुमारो के भोगमय एव तपोमय जीवन का सुदर चित्रण किया है। इनमें से धन्यकुमार का वर्णन विशेष विस्तृत है।

धन्यकुमार काकदी नगरी की भद्रा सार्थवाही का पुत्र था। भद्रा के पास अपरिमित धन तथा अपरिमित भोग-विलास के साधन थे। उसने अपने सुयोग्य पुत्र का लालन-पालन बडे ऊँचे स्तर से किया था। धन्यकुमार भोग-विलास की सामग्री में डूब चुका था। एक दिन भगवान् महावीर की दिव्य वाणी सुनकर उसके मन में वैराग्य की भावना जाग्रत हुई और तदनुसार वह अपने विपुल वैभव का त्याग कर मुनि बन गया।

मुनि बनने के बाद धन्य ने जो तपस्या की वह अद्भुत एव अनुपम है। तपोमय जीवन का इतना सुन्दर एव सर्वांगीण वर्णन श्रमणसाहित्य में तो क्या, सम्पूर्ण भारतीय साहित्य में अन्यत्र दृष्टिगोचर नहीं होता। महाकवि कालिदास ने अपने ग्रथ कुमारसभव में पार्वती की तपस्या का जो वर्णन किया है वह महत्त्वपूर्ण होते हुए भी धन्य मुनि की तपस्या के वर्णन के समकक्ष नहीं है—उससे अलग ही प्रकार का है।

धन्यमुनि अपनी आयु पूर्ण करके सर्वार्थसिद्ध विमान में देवरूप से उत्पन्न हुए। वहाँ से च्युत होकर मनुष्य जन्म पाकर तप साधना द्वारा सिद्ध-बुद्ध-मुक्त होंगे।

प्रकरण ११

प्र श्न व्या क र ण

असत्यवादी मत

हिंसादि

अहिंसादि संवर

एकादश प्रकरण

प्रश्नव्याकरण

पण्हावागरण अथवा प्रश्नव्याकरण[1] दसवां अग है। इसका जो परिचय अचेलक परम्परा के राजवार्तिक आदि ग्रथो एव सचेलक परम्परा के स्थानाग आदि सूत्रों में मिलता है, उपलब्ध प्रश्नव्याकरण उससे सर्वथा भिन्न है।

स्थानाग में प्रश्नव्याकरण के दस अध्ययनों का उल्लेख है. उपमा, सख्या, ऋषिभाषित, आचार्यभाषित, महावीरभाषित, क्षोभकप्रश्न, कोमलप्रश्न, अद्दागप्रश्न, अगुष्ठप्रश्न और बाहुप्रश्न।

---

1 (अ) अभयदेवविहित वृत्तिसहित—आगमोदय समिति, बम्बई, सन् १९१९, धनपतसिह, कलकत्ता, सन् १८७६

(आ) ज्ञानविमलविरचित वृत्तिसहित—मुक्तिविमल जैन ग्रथमाला, अहमदाबाद, वि० स० १९९५

(इ) हिन्दी टीका सहित—मुनि हस्तिमल्ल, हस्तिमल्ल सुराणा, पाली, सन् १९५०

(ई) सस्कृत व्याख्या व उसके हिन्दी गुजराती अनुवाद के साथ—मुनि घासीलाल, जैन शास्त्रोद्धार समिति, राजकोट, सन् १९६२

(उ) हिन्दी अनुवाद सहित—अमोलक ऋषि, हैदराबाद, वी० स० २४४६, घेवरचन्द्र बाठिया, सेठिया जैन पारमार्थिक सस्था, बीकानेर, वि०स० २००६

(ऊ) गुजराती अनुवाद—मुनि छोटालाल, लाधाजी स्वामी पुस्तकालय, लीबडी, सन् १९३९

समवायांग में बताया गया है कि प्रश्नव्याकरण में १०८ प्रश्न, १०८ अप्रश्न एव १०८ प्रश्नाप्रश्न हैं जो मंत्रविद्या एव अंगुष्ठप्रश्न, बाहुप्रश्न, दर्पणप्रश्न आदि विद्याओ से सम्बन्धित हैं। इसके ४५ अध्ययन हैं।

नदीसूत्र मे भी यही बताया गया है कि प्रश्नव्याकरण में १०८ प्रश्न, १०८ अप्रश्न एव १०८ प्रश्नाप्रश्न हैं, अंगुष्ठप्रश्न, बाहुप्रश्न, दर्पणप्रश्न आदि विचित्र विद्यातिशयो का वर्णन है, नागकुमारों व सुवर्णकुमारो की सगति के दिव्य सवाद हैं, ४५ अध्ययन हैं।

विद्यमान प्रश्नव्याकरण मे न तो उपर्युक्त विषय ही हैं और न ४५ अध्ययन ही। इसमे हिंसादिक पांच आस्रवो तथा अहिंसादिक पांच सवरों का दस अध्ययनो मे निरूपण है। तात्पर्य यह है कि जिस प्रश्नव्याकरण का दोनों जैन परम्पराओ मे उल्लेख है वह वर्तमान मे उपलब्ध नहीं है। इसका अर्थ यह हुआ कि विद्यमान प्रश्नव्याकरण बाद में होनेवाले किसी गीतार्थ पुरुष की रचना है। वृत्तिकार अभयदेव सूरि लिखते हैं कि इस समय का कोई अनधिकारी मनुष्य चमत्कारी विद्याओ का दुरुपयोग न करे, इस दृष्टि से इस प्रकार की सब विद्याएँ इस सूत्र में से निकाल दी गईं एव उनके स्थान पर केवल आस्रव व सवर का समावेश कर दिया गया। यहाँ एक बात विचारणीय है कि जिन भगवान् ज्योतिष आदि चमत्कारिक विद्याओ एव इसी प्रकार की अन्य आरम्भ-समारम्भपूर्ण विद्याओ के निरूपण को दूषित प्रवृत्ति बतलाते हैं। ऐसी स्थिति में प्रश्नव्याकरण में चमत्कारिक विद्याओं का निरूपण जिन प्रभु ने कैसे किया होगा ?

प्रश्नव्याकरण का प्रारंभ इस गाथा से होता है :

जंबू ! इणमो अण्हय-सवरविणिच्छयं पवयणस्स !
नीसद वोच्छामि णिच्छयत्थं सुहासियत्थं महेसीहिं ॥

अर्थात् हे जम्बू ! यहा महर्षिप्रणीत प्रवचनसाररूप आस्रव व सवर का निरूपण करूंगा।

गाथा में जंबू का नाम तो है किन्तु 'महर्षियों द्वारा सुभाषित' शब्दो से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि इसका निरूपण केवल सुधर्मा द्वारा नहीं हुआ है। इससे यह भी सिद्ध होता है कि विषय की दृष्टि से यह सूत्र पूरा ही नया हो गया है

जिसका कर्ता कोई गीतार्थ पुरुष हो सकता है।

असत्यवादी मत :

सूत्रकार ने असत्यभाषक के रूप मे निम्नोक्त मतो के नामो का उल्लेख किया है —

१ नास्तिकवादी अथवा वामलोकवादी—चार्वाक
२. पचस्कन्धवादी—बौद्ध
३ मनोजीववादी—मन को जीव माननेवाले
४ वायुजीववादी—प्राणवायु को जीव माननेवाले
५. अडे से जगत् की उत्पत्ति माननेवाले
६ लोक को स्वयभूकृत माननेवाले
७ ससार को प्रजापतिनिर्मित माननेवाले
८ ससार को ईश्वरकृत माननेवाले
९ सारे ससार को विष्णुमय माननेवाले
१० आत्मा को एक, अकर्ता, वेदक, नित्य, निष्क्रिय, निर्गुण, निर्लिप्त माननेवाले
११ जगत् को यादृच्छिक माननेवाले
१२. जगत् को स्वभावजन्य माननेवाले
१३ जगत् को देवकृत माननेवाले
१४ नियतिवादी—आजीवक

हिंसादि आस्रव

इसके अतिरिक्त ससार मे जिस-जिस प्रकार का असत्य व्यवहार में, कुटुम्ब में, समाज मे, देश में व सम्पूर्ण विश्व में प्रचलित है उसका विस्तुत विवेचन किया गया है। इसी प्रकार हिंसा, चौर्य, अब्रह्मचर्य एव परिग्रह के स्वरूप व दूषणों का खूब लबा वर्णन किया गया है। हिंसा का वर्णन करते समय वेदिका, विहार, स्तूप, लेण, चैत्य, देवकुल, आयतन आदि के निर्माण में होनेवाली हिंसा का निर्देश किया गया है। वृत्तिकार ने विहार आदि का अर्थ इस प्रकार दिया है : विहार अर्थात् बौद्धविहार, लेण अर्थात् पर्वत में काटकर बनाया हुआ घर, चैत्य अर्थात् प्रतिमा, देवकुल अर्थात् शिखरयुक्त देवप्रासाद।

समवायाग में बताया गया है कि प्रश्नव्याकरण में १०८ प्रश्न, १०८ अप्रश्न एव १०८ प्रश्नाप्रश्न हैं जो मंत्रविद्या एवं अगुष्ठप्रश्न, बाहुप्रश्न, दर्पणप्रश्न आदि विद्याओ से सम्बन्धित हैं। इसके ४५ अध्ययन हैं।

नदीसूत्र में भी यही बताया गया है कि प्रश्नव्याकरण में १०८ प्रश्न, १०८ अप्रश्न एव १०८ प्रश्नाप्रश्न हैं, अगुष्ठप्रश्न, बाहुप्रश्न, दर्पणप्रश्न आदि विचित्र विद्यातिशयो का वर्णन है, नागकुमारों व सुवर्णकुमारो की सगति के दिव्य सवाद हैं, ४५ अध्ययन हैं।

विद्यमान प्रश्नव्याकरण मे न तो उपर्युक्त विषय ही हैं और न ४५ अध्ययन ही। इसमे हिंसादिक पांच आस्रवो तथा अहिंसादिक पांच सवरो का दस अध्ययनो में निरूपण है। तात्पर्य यह है कि जिस प्रश्नव्याकरण का दोनों जैन परम्पराओ मे उल्लेख है वह वर्तमान मे उपलब्ध नहीं है। इसका अर्थ यह हुआ कि विद्यमान प्रश्नव्याकरण बाद में होनेवाले किसी गीतार्थ पुरुष की रचना है। वृत्तिकार अभयदेव सूरि लिखते हैं कि इस समय का कोई अनधिकारी मनुष्य चमत्कारी विद्याओ का दुरुपयोग न करे, इस दृष्टि से इस प्रकार की सब विद्याएँ इस सूत्र मे से निकाल दी गईं एव उनके स्थान पर केवल आस्रव व सवर का समावेश कर दिया गया। यहा एक बात विचारणीय है कि जिन भगवान् ज्योतिष आदि चमत्कारिक विद्याओ एव इसी प्रकार की अन्य आरभ समारभपूर्ण विद्याओ के निरूपण को दूषित प्रवृत्ति बतलाते हैं। ऐसी स्थिति में प्रश्नव्याकरण मे चमत्कारिक विद्याओ का निरूपण जिन प्रभु ने कैसे किया होगा ?

प्रश्नव्याकरण का प्रारभ इस गाथा से होता है :

जंबू ! इणमो अण्हय-संवरविणिच्छयं पवयणस्स ।
नीसद वोच्छामि णिच्छयत्थ सुहासियत्थं महेसीहिं ॥

अर्थात् हे जम्बू ! यहा महर्षिप्रणीत प्रवचनसाररूप आस्रव च सवर का निरूपण करूगा।

गाथा मे जबू का नाम तो है किन्तु 'महर्पियों द्वारा सुभापित' शब्दो से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि इसका निरूपण केवल सुधर्मा द्वारा नही हुआ है। इससे यह भी सिद्ध होता है कि विषय की दृष्टि से यह सूत्र पूरा ही नया हो गया है

जिसका कर्ता कोई गीतार्थ पुरुष हो सकता है।

असत्यवादी मत :

सूत्रकार ने असत्यभापक के रूप मे निम्नोक्त मतो के नामो का उल्लेख किया है —

१ नास्तिकवादी अथवा वामलोकवादी—चार्वाक
२. पचस्कन्धवादी—बौद्ध
३ मनोजीववादी—मन को जीव माननेवाले
४ वायुजीववादी—प्राणवायु को जीव माननेवाले
५. अडे से जगत् की उत्पत्ति माननेवाले
६ लोक को स्वयभूकृत माननेवाले
७ ससार को प्रजापतिनिर्मित माननेवाले
८ ससार को ईश्वरकृत माननेवाले
९ सारे ससार को विष्णुमय माननेवाले
१० आत्मा को एक, अकर्ता, वेदक, नित्य, निष्क्रिय, निर्गुण, निर्लिप्त माननेवाले
११ जगत् को यादृच्छिक माननेवाले
१२. जगत् को स्वभावजन्य माननेवाले
१३ जगत् को देवकृत माननेवाले
१४ नियतिवादी—आजीवक

हिंसादि आस्रव

इसके अतिरिक्त ससार में जिस-जिस प्रकार का असत्य व्यवहार में, कुटुम्ब में, समाज में, देश में व सम्पूर्ण विश्व में प्रचलित है उसका विस्तृत विवेचन किया गया है। इसी प्रकार हिंसा, चौर्य, अब्रह्मचर्य एव परिग्रह के स्वरूप व दूषणों का खूब लबा वर्णन किया गया है। हिंसा का वर्णन करते समय वेदिका, विहार, स्तूप, लेण, चैत्य, देवकुल, आयतन आदि के निर्माण में होनेवाली हिंसा का निर्देश किया गया है। वृत्तिकार ने विहार आदि का अर्थ इस प्रकार दिया है विहार अर्थात् बौद्धविहार, लेण अर्थात् पर्वत में काटकर बनाया हुआ घर, चैत्य अर्थात् प्रतिमा, देवकुल अर्थात् शिखरयुक्त देवप्रासाद।

जो लोग चैत्य, मदिर आदि बनवाने में होनेवाली हिंसा को गिनती में नहीं लेते उनके लिए इस सूत्र का मूलपाठ तथा वृत्तिकार का विवेचन एक चुनौती है। इस प्रकरण में वैदिक हिंसा का भी निर्देश किया गया है एव धर्म के नाम पर होनेवाली हिंसा का उल्लेख करना भी सूत्रकार भूले नहीं हैं। इसके अतिरिक्त जगत् में चलनेवाली समस्त प्रकार की हिंसाप्रवृत्ति का भी निर्देश किया गया है। हिंसा के सदर्भ में विविध प्रकार के मकानों के विभिन्न भागों के नामों का, वाहनों के नामो का, खेती के साधनों के नामों का तथा इसी प्रकार के हिंसा के अनेक निमित्तो का निर्देश किया गया है। इसी प्रसग पर अनार्य—म्लेच्छ जाति के नामों की भी सूची दी गई है।

असत्य के प्रकरण मे हिंसात्मक अनेक प्रकार की भाषा बोलने का निषेध किया गया है।

चौर्य का विवेचन करते हुए ससार मे विभिन्न प्रसगो पर होनेवाली विविध चोरियो का विस्तार से वर्णन किया गया है।

अब्रह्मचर्य का विवेचन करते हुए सर्वप्रकार के भोगपरायण लोगो, देवों, देवियो, चक्रवर्तियों, वासुदेवों, माण्डलिक राजाओं एव इसी प्रकार के अन्य व्यक्तियो के भोगो का वर्णन किया गया है। साथ ही शरीर के सौन्दर्य, स्त्री के स्वभाव तथा विविध प्रकार के कामोपचार का भी निरूपण किया गया है। इस प्रसग पर स्त्रियो के निमित्त होनेवाले विविध युद्धो का भी उल्लेख हुआ है। वृत्तिकार ने एतद्विषयक व्याख्या में सीता, द्रौपदी, रुक्मिणी, पद्मावती, तारा, रक्तसुभद्रा, अहल्या (अहिन्निका), सुवर्णगुलिका, रोहिणी, किन्नरी, सुरूपा व विद्युन्मति की कथा जैन परम्परा के अनुसार उद्धृत की है।

पाचवें आस्रव परिग्रह के विवेचन में संसार में जितने प्रकार का परिग्रह होता है अथवा दिखाई देता है उसका सविस्तार निरूपण किया गया है। परिग्रह के निम्नोक्त पर्याय बताये गये हैं सचय, उपचय, निधान, पिण्ड, महेच्छा, उपकरण, सरक्षण, सस्तव, आसक्ति। इन नामों में समस्त प्रकार के परिग्रह का समावेश है।

अहिंसादि संवर

प्रथम सवर अहिसा के प्रकरण में विविध व्यक्तियों द्वारा आराध्य विविध प्रकार की अहिसा का विवेचन है। इसमें अहिसा के पोषक विभिन्न अनुष्ठानों का भी निरूपण है।

सत्यरूप द्वितीय संवर के प्रकरण में विविध प्रकार के सत्यों का वर्णन है। इसमें व्याकरणसम्मत वचन को भी अमुक अपेक्षा से सत्य कहा गया है तथा बोलते समय व्याकरण के नियमों तथा उच्चारण की शुद्धता का ध्यान रखने का निर्देश किया गया है। प्रस्तुत प्रकरण में निम्नलिखित सत्यो का निरूपण किया गया है - जनपदसत्य, समतसत्य, स्थापनासत्य, नामसत्य, रूपसत्य, प्रतीतिसत्य, व्यवहारसत्य, भावसत्य, योगसत्य और उपमासत्य।

जनपदसत्य अर्थात् तद्-तद् देश की भाषा के शब्दो में रहा हुआ सत्य। संमतसत्य अर्थात् कवियों द्वारा अभिप्रेत सत्य। स्थापनासत्य अर्थात् चित्रो में रहा हुआ व्यावहारिक सत्य। नामसत्य अर्थात् कुलवर्धन आदि विशेषनाम। रूप सत्य अर्थात् वेश आदि द्वारा पहचान। प्रतीतिसत्य अर्थात् छोटे-बडे का व्यवहारसूचक वचन। व्यवहारसत्य अर्थात् लाक्षणिक भाषा। भावसत्य अर्थात् प्रधानता के आधार पर व्यवहार, जैसे अनेक रंगवाली होने पर भी एक प्रधान रंग द्वारा ही वस्तु की पहचान। योगसत्य अर्थात् सम्बन्ध से व्यवहृत सत्य, जैसे छत्रधारी आदि। उपमासत्य अर्थात् समानता के आधार पर निर्दिष्ट सत्य, यथा समुद्र के समान तालाब, चन्द्र के समान मुख आदि।

अचौर्य सम्बन्धी प्रकरण में अचौर्य से संबंधित समस्त अनुष्ठानों का वर्णन है। इसमें अस्तेय की स्थूल से लेकर सूक्ष्मतम तक व्याख्या की गई है।

ब्रह्मचर्य सम्बन्धी प्रकरण में ब्रह्मचर्य का निरूपण, तत्सम्बन्धी अनुष्ठानों का वर्णन एवं उसकी साधना करने वालों का प्ररूपण किया गया है। साथ ही अनाचरण की दृष्टि से ब्रह्मचर्यविरोधी प्रवृत्तियों का भी उल्लेख किया गया है।

अन्तिम प्रकरण अपरिग्रह से सम्बन्धित है। इसमें अपरिग्रहवृत्ति के स्वरूप, तद्विषयक अनुष्ठानों एवं अपरिग्रहव्रतधारियों के स्वरूप का निरूपण है।

इस प्रकार प्रस्तुत सूत्र मे पाच आस्रवो तथा पाच संवरो का निरूपण है। इसमें महाव्रतों की समस्त भावनाओं का भी प्ररूपण है। भाषा समासयुक्त है जो शीघ्र समझ में नहीं आती। वृत्तिकार ने प्रारंभ में ही लिखा है कि इस ग्रंथ की प्राय कूट पुस्तकें (प्रतियाँ) उपलब्ध हैं। हम अज्ञानी हैं और यह शास्त्र गंभीर है। अत विचारपूर्वक अर्थ की योजना करनी चाहिए। सबसे अन्त में उन्होंने यह भी लिखा है कि जिनके पास आम्नाय नहीं है उन हमारे जैसे लोगों के

लिए इस शास्त्र का अर्थ समझना कठिन है। अत यहां हमने जो अर्थ दिया है वही ठीक है, ऐसी बात नहीं है। वृत्तिकार के इस कथन से मालूम पडता है कि आगमों की आम्नाय अर्थात् परम्परागत विचारसरणि खंडित हो चुकी थी—टूट चुकी थी। प्रतियाँ भी प्राय विश्वसनीय न थीं। अतः विचारकों को सोच-समझ कर शास्त्रों का अर्थ करना चाहिए। तत्त्वार्थराजवार्तिक (पृ० ७३-७४) में कहा गया है कि आक्षेपविक्षेप द्वारा हेतुनयाश्रित प्रश्नों के व्याकरण का नाम प्रश्नव्याकरण है। उसमें लौकिक तथा वैदिक अर्थों का निर्णय है। इस विषयनिरूपण में हिंसा, असत्य आदि आस्रवो का तथा अहिंसा, सत्य आदि संवरो का समावेश होना संभवित प्रतीत होता है। तात्पर्य यह है कि अंगुष्ठप्रश्न, दर्पणप्रश्न आदि का विचार प्रश्नव्याकरण में है, ऐसी बात राजवार्तिककार ने नहीं लिखी है परंतु धवलाटीका में नष्टप्रश्न मुष्टिप्रश्न इत्यादि का विचार प्रश्नव्याकरण में है, ऐसा बताया गया है।

प्रकरण १२

विपाकसूत्र

मृगापुत्र

कामध्वजा व उज्झितक

अभग्नसेन

शकट

बृहस्पतिदत्त

नंदिवर्धन

उंबरदत्त व धन्वन्तरिवैद्य

शौरिक मछलीमार

देवदत्ता

अंजू

सुखविपाक

विपाक का विषय

अध्ययन-नाम

द्वादश प्रकरण

वि कसूत्र

विपाकसूत्र[1] के प्रारभ में ही भगवान् महावीर के शिष्य सुधर्मा स्वामी एवं उनके शिष्य जम्बू स्वामी का विस्तृत परिचय दिया हुआ है। साथ ही यह प्रश्न किया गया है कि भगवान् महावीर ने दसवें अग प्रश्नव्याकरण मे अमुक-अमुक बातें बताई हैं तो इस ग्यारहवें अग विपाकश्रुत मे क्या क्या बातें बताई हैं? इसका उत्तर देते हुए सुधर्मा स्वामी कहते हैं कि भगवान् महावीर ने इस श्रुत के दो श्रुतस्कन्ध बताये हैं एक दु खविपाक व दूसरा सुखविपाक। दु.खविपाक

---

१ (अ) अभयदेवकृत वृत्तिसहित—आगमोदय समिति, बम्बई, सन् १६२०, धनपत सिंह, कलकत्ता, सन् १८७६, मुक्तिकमलजैनमोहनमाला, बडौदा, सन् १६२०

(आ) प्रस्तावना आदि के साथ—पी एल वैद्य, पूना, सन् १६३३

(इ) गुजराती अनुवाद सहित—जैनधर्म प्रसारक सभा, भावनगर, वि स १६८७

(ई) हिन्दी अनुवादसहित—मुनि आनन्दसागर, हिन्दी जैनागम प्रकाशक सुमति कार्यालय, कोटा, सन् १६३५, अमोलक ऋषि, हैदराबाद, वी स २४४६

(उ) हिन्दी टीकासहित—ज्ञानमुनि, जैन शास्त्रमाला कार्यालय, लुधियाना, वि स २०१०

(ऊ) सस्कृत व्याख्या व उसके हिन्दी गुजराती अनुवाद के साथ—मुनि घासीलाल, जैन शास्त्रोद्धार समिति, राजकोट, सन् १६५६

(ऋ) गुजराती छायानुवाद—गोपालदास जीवाभाई पटेल, जैन साहित्य प्रकाशन समिति, अहमदाबाद, सन् १६४०

के दस प्रकरण हैं इसी प्रकार सुखविपाक के भी दस प्रकरण हैं। यहाँ इन सब प्रकरणो के नाम भी बताये हैं। इनमें आनेवाली कथाओ के अध्ययन से तत्कालीन सामाजिक परिस्थिति, रीतिरिवाज, जीवन-व्यवस्था आदि का पता लगता है।

प्रारम्भ मे आनेवाला सुधर्मा व जम्बू का वर्णन इन दोनो महानुभावो के अतिरिक्त किसी तीसरे ही पुरुष द्वारा लिखा गया मालूम होता है। इससे यह फलित होता है कि इस उपोद्घात अंश के कर्ता न तो सुधर्मा हैं और न जम्बू। इन दोनो के अतिरिक्त कोई तीसरा ही पुरुष इसका कर्ता है।

प्रत्येक कथा के प्रारंभ में सर्वप्रथम कथा कहने के स्थान का नाम, बाद में वहाँ के राजा-रानी का नाम, तत्पश्चात् कथा के मुख्य पात्र के स्थान आदि का परिचय देने का रिवाज पूर्व परम्परा से चला आता है। इस रिवाज के अनुसार प्रस्तुत कथा-योजक प्रारभ में इन सारी बातो का परिचय देते हैं।

मृगापुत्र

दु खविपाक की प्रथम कथा चपा नगरी के पूर्णभद्र नामक चैत्य में कही गई है। कथा के मुख्य पात्र का स्थान मियग्गाम-मृगग्राम है। रानी का नाम मृगादेवी व पुत्र का नाम मृगापुत्र है। मृगग्राम चपा के आस-पास मे कहीं हो सकता है। इसके पास चदनपादप नामक उद्यान होने का उल्लेख है। इससे अनुमान लगाया जा सकता है कि यहाँ चदन के वृक्ष विशेष होते होंगे।

कथा शुरू होने के पूर्व भगवान् महावीर की देशना का वर्णन आता है। जहाँ महावीर उपदेश देते हैं वहाँ लोगो के झुड के झुंड जाने लगते हैं। इस समय एक जन्माध पुरुष अपने साथी के साथ कही जा रहा था। वह चारों ओर के चहल-पहल से परिचित होकर अपने साथी से पूछता है कि आज यह क्या हो-हल्ला है ? इतने लोग क्यों उमड पडे हैं ? क्या गाँव में इन्द्र, स्कन्द, नाग, मुकुन्द, रुद्र, शिव, कुबेर, यक्ष, भूत, नदी, गुफा, कूप, सरोवर, समुद्र, तालाब, वृक्ष, चैत्य अथवा पर्वत का उत्सव शुरू हुआ है ? साथी से महावीर के आगमन की बात जानकर वह भी देशना सुनने जाता है। महावीर के ज्येष्ठ शिष्य इंद्रभूति उस जन्मान्ध पुरुष को देखकर भगवान् से पूछते हैं कि ऐसा

कोई अन्य जन्मान्ध पुरुष है? यदि है तो कहा है? भगवान् उत्तर देते हैं कि मृगग्राम मे मृगापुत्र नामक एक जन्मान्ध ही नहीं अपितु जन्ममूक व जन्मबधिर राजकुमार है जो केवल मासपिण्ड है अर्थात् जिसके शरीर में हाथ, पैर, नेत्र, नासिका, कान आदि अवयवो व इद्रियों की आकृति तक नहीं है। यह सुनकर द्वादशागविद् व चतुर्ज्ञानधर इन्द्रभूति कुतूहलवश उसे देखने जाते हैं एव भूमिगृह में छिपाकर रखे हुए मासपिण्डसदृश मृगापुत्र को प्रत्यक्ष देखते हैं। यहाँ एक बात विशेष ज्ञातव्य है। किसी को यह मालूम न हो कि ऐसा लडका रानी मृगादेवी का है, उसने उसे भूमिगृह में छिपा रखा था। रानी पूर्ण मातृवात्सल्य से उसका पालन-पोषण करती थी। जब गौतम इन्द्रभूति उस लडके को देखने गये तब मृगादेवी ने आश्चर्यचकित हो गौतम से पूछा कि आपको इस बालक का पता कैसे लगा? इसके उत्तर में गौतम ने उसे अपने धर्माचार्य भगवान् महावीर के ज्ञान के अतिशय का परिचय कराया। मृगापुत्र के शरीर से बहुत दुर्गन्ध निकलती थी और वह यहाँ तक कि स्वय मृगादेवी को मुँह पर कपडा बाँधना पडा था। जब गौतम उसे देखने गये तो उन्हें भी मुंह पर कपडा बाँधना पडा।

मृगापुत्र के वर्णन में एक भयकर दु खी मानव का चित्र उपस्थित किया गया है। दु खविपाक का यह एक रोमाञ्चकारी दृष्टान्त है। गौतम ने भगवान् महावीर से पूछा कि मृगापुत्र को ऐसी वेदना होने का क्या कारण है? उत्तर में भगवान् ने उसके पूर्वभव की कथा कही। यह कथा इस प्रकार है :—

भारतवर्ष में शतद्वार नगर के पास विजयवर्धमान नामक एक खेट—बडा गाँव था। इस गाँव के अधीन पाँच सौ छोटे-छोटे गाँव थे। इस गाँव में एकाई नामक राठौड—रट्ठउड—राष्ट्रकूट (राजा द्वारा नियुक्त शासन सचालक) था। वह अति अधार्मिक एव क्रूर था। उसने उन गाँवों पर अनेक प्रकार के कर लगाये थे। वह लोगों की न्याययुक्त बात भी सुनने के लिए तैयार न होता था। वह एक बार बीमार पडा। उसे श्वास, कास, ज्वर, दाह, कुक्षिशूल, भगन्दर, हरस, अजीर्ण, दृष्टिशूल, मस्तकशूल, अरुचि, नेत्रवेदना, कर्णवेदना, कंडू, जलोदर व कुष्ठ—इस प्रकार सोलह रोग एक साथ हुए। उपचार के लिये वैद्य, वैद्यपुत्र, ज्ञाता, ज्ञातापुत्र, चिकित्सक, चिकित्सकपुत्र आदि विविध उपचारक अपने साधनों व उपकरणों से सज्जित हो उसके पास आये। उन्होंने अनेक उपाय किये किन्तु

राठौड का एक भी रोग शान्त न हुआ। वह ढाई सौ वर्ष की आयु में मृत्यु प्राप्त कर नरक में गया और वहाँ का आयुष्य पूर्ण कर मृगापुत्र हुआ। मृगापुत्र के गर्भ में आते ही मृगादेवी अपने पति को अप्रिय होने लगी। मृगादेवी ने गर्भनाश के अनेक उपाय किये। इसके लिए उसने अनेक प्रकार की हानिकारक औषधियाँ भी ली किंतु परिणाम कुछ न निकला। अन्त मे मृगापुत्र का जन्म हुआ। जन्म होते ही मृगादेवी ने उसे गाँव के बाहर फेंकवा दिया किंतु पति के समझाने पर पुन अपने पास रखकर उसका पालन-पोषण किया।

गौतम ने भगवान् से पूछा कि यह मृगापुत्र मरकर कहाँ जायेगा? भगवान् ने बताया कि सिंह आदि अनेक भव ग्रहण करने के बाद सुप्रतिष्ठपुर मे गोरूप से जन्म लेगा, एव वहाँ गङ्गा के किनारे मिट्टी में दब कर मरने के बाद पुन उसी नगर में एक सेठ का पुत्र होगा। बाद मे सौधर्म देवलोक में देवरूप से जन्म ग्रहण कर महाविदेह मे सिद्धि प्राप्त करेगा।

कामध्वजा व उज्झितक

द्वितीय कथा का स्थान वाणिज्यग्राम (वर्तमान बनियागाँव जो कि वैशाली के पास है), राजा मित्र एव रानी श्री है। कथा की मुख्य नायिका कामज्झया — कामध्वजा गणिका है। वह ७२ कला, ६४ गणिका-गुण, २६ अन्य गुण, २१ रतिगुण, ३२ पुरुषोचित कामोपचार आदि में निपुण थी, विविध भाषाओं व लिपियों में कुशल थी, सगीत, नाट्य, गाधर्व आदि विद्याओं में प्रवीण थी। उसके घर पर ध्वज फहराता था। उसकी फीस हजार मुद्राएँ थी। उसे राजा ने छत्र, चामर आदि दे रखे थे। इस प्रकार वह प्रतिष्ठित गणिका थी। कामध्वजा गणिका के अधीन हजारों गणिकाएँ थी। विजयमित्र नामक एक सेठ का पुत्र उज्झितक इस गणिका के साथ रहने लगा एवं मानवीय कामभोग भोगने लगा। यह उज्झितक पूर्वभव मे हस्तिनापुर निवासी भीम नामक कूटग्राह (प्राणियों को फदे मे फँसानेवाला) का गोत्रास नामक पुत्र था। उज्झितक का पिता विजय-मित्र व्यापार के लिए विदेश रवाना हुआ। वह मार्ग मे लवण समुद्र में डूब गया। उसकी भार्या सुभद्रा भी इस दुर्घटना के आघात से मृत्यु को प्राप्त हुई। उज्झितक कामध्वजा के साथ ही रहता था। वह पक्का शराबी, जुआरी, चोर व वेश्यागामी बन चुका था। दुर्भाग्यवश इसी समय मित्र राजा की भार्या श्री रानी को योनिशूल रोग हुआ। राजा ने सभोग के लिए कामध्वजा को अपनी उपपत्नी बनाकर उसके यहा से उज्झितक को निकाल दिया। राजा की मनाही

होने पर भी एक बार उज्झितक कामध्वजा के यहा पकडा गया। राजा के नौकरो ने उसे खूब पीटा, पीट पीट कर अधमरा कर दिया और प्रदर्शन के लिए गाव मे घुमाया। महावीर के शिष्य इन्द्रभूति ने उसे देखा एव महावीर से पूछा कि यह उज्झितक मर कर कहा जाएगा? महावीर ने मृगापुत्र की मरणोत्तर दुर्गति की ही भाति इसको भी दुर्गति बताई व कहा कि अन्त में यह महाविदेह में जन्म लेकर मुक्त होगा। उज्झितक की वेश्यागमन के कारण यह गति हुई।

अभग्नसेन

तीसरी कथा मे अभग्नसेन नामक चोर का वर्णन है। वह पूर्वभव में अति पातकी, मासाहारी तथा शराबी था। स्थान का नाम पुरिमताल (प्रयाग) बताया गया है। इसका भविष्य भी मृगापुत्र के ही समान समझना चाहिए। इस कथा मे चोरी और हिंसा के परिणाम की चर्चा है।

शकट

चौथी कथा शकट नामक युवक की है। यह कथा उज्झितक की कथा से लगभग मिलती-जुलती है। इसमें वेश्या का नाम सुदर्शना तथा नगरी का नाम साहजनी—शाखाञ्जनी है।

बृहस्पतिदत्त

पाचवीं कथा बृहस्पतिदत्त नामक पुरोहित-पुत्र की है। नगरी का नाम कौशाबी (वर्तमान कोसम गाव), राजा का नाम शतानीक, रानी का नाम मृगावती, कुमार का नाम उदयन, कुमारवधू का नाम पद्मावती, पुरोहित का नाम सोमदत्त और पुरोहितपुत्र का नाम बृहस्पतिदत्त है। बृहस्पतिदत्त पूर्वजन्म में महेश्वरदत्त नामक पुरोहित था। वह ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद मे निपुण था। अपने राजा जितशत्रु की शान्ति के लिए प्रतिदिन ब्राह्मण, क्षत्रिय वैश्य और शूद्र के एक-एक बालक को पकडवाकर उनके हृदय के मासपिण्ड से शान्तियज्ञ करता था। अष्टमी और चतुर्दशी के दिन दो दो बालकों को पकडवा कर शान्तियज्ञ करता था। इसी प्रकार चार महीने में चार-चार बालकों, छ महीने मे आठ-आठ बालकों तथा वर्ष में सोलह-सोलह बालकों के हृदयपिण्ड द्वारा शान्तियज्ञ करता था। जिस समय राजा जितशत्रु युद्ध में जाता उस समय उसकी विजय के लिए ब्राह्मणादि

प्रत्येक के एकसौ आठ बालकों के हृदयपिण्ड द्वारा शान्तियज्ञ करता था। परिणामत राजा की विजय होती थी। महेश्वरदत्त मर कर पुरोहित सोमदत्त का बृहस्पतिदत्त नामक पुत्र हुआ। राजपुत्र उदयन ने इसे अपना पुरोहित बनाया। इन दोनों के पारस्परिक सम्बन्ध के कारण बृहस्पतिदत्त अन्त पुर में भी आने-जाने लगा। यहां तक कि वह उदयन की पत्नी पद्मावती के साथ कामक्रीडा करने लगा। जब उदयन को इस बात का पता लगा तो उसने बृहस्पतिदत्त की बहुत दुर्दशा की तथा अन्त में उसे मरवा डाला।

इस कथा मे नरमेध व शत्रुघ्न-यज्ञ का निर्देश है। इससे मालूम होता है कि प्राचीन काल में नरमेध होते थे व राजा अपनी शान्ति के लिए नरहिंसक यज्ञ करवाते थे। इससे यह भी मालूम होता है कि ब्राह्मण पतित होने पर कैसे कुकर्म कर सकते हैं।

नंदिवर्धन

छठी कथा नंदिवर्धन की है। नगरी मथुरा, राजा श्रीदाम, रानी बधुश्री, कुमार नंदिवर्धन, अमात्य सुबधु व आलंकारिक (नापित) चित्र है। कुमार नंदिवर्धन पूर्वभव मे दुर्योधन नामक जेलर अथवा फौजदार था। वह अपराधियों को भयकर यातनाए देता था। इन यातनाओ की तुलना नारकीय यातनाओं से की गई है। प्रस्तुत कथा मे इन यातनाओ का रोमाचकारी वर्णन है। दुर्योधन मर कर श्रीदाम का पुत्र नंदिवर्धन होता है। उसे अपने पिता का राज्य शीघ्रातिशीघ्र प्राप्त करने की इच्छा होती है। इस इच्छा की पूर्ति के लिए वह आलंकारिक चित्र से हजामत बनवाते समय उस्तरे से श्रीदाम का गला काट देने के लिए कहता है। चित्र यह बात श्रीदाम को बता देता है। श्रीदाम नंदिवर्धन को पकड़वाकर दुर्दशापूर्वक मरवा देता है। नंदिवर्धन का जीव भी अन्त में महाविदेह में सिद्ध होगा।

उबरदत्त व धन्वन्तरि वैद्य

सातवीं कथा उबरदत्त की है। गाँव का नाम पाटलिखंड, राजा का नाम सिद्धार्थ, सार्थवाह का नाम सागरदत्त, उसकी भार्या का नाम गगदत्ता और उनके पुत्र का नाम उबरदत्त है। उबरदत्त पूर्वभव में धन्वन्तरि नामक वैद्य था। धन्वन्तरि अष्टाग आयुर्वेद का ज्ञाता था बालचिकित्सा, शालाक्य, शल्यचिकित्सा, कायचिकित्सा, विषचिकित्सा, भूतविद्या, रसायन और वाजीकरण। उसके लघुहस्त

शुभहस्त और शिवहस्त विशेषण कुशलता के सूचक थे। वह अनेक प्रकार के रोगियो की चिकित्सा करता था। श्रमणों तथा ब्राह्मणों की परिचर्या करता था। औषधि मे विविध प्रकार के मास का उपयोग करने के कारण धन्वन्तरि मर कर नरक में गया। वहाँ से आयु पूर्ण कर सागरदत्त का पुत्र उबरदत्त हुआ। माता के उबरदत्त नामक यक्ष की मनौती करने के कारण इसका नाम भी उबरदत्त ही रखा गया। इसका पिता जहाज टूट जाने के कारण समुद्र में डूब कर मर गया। माता भी मृत्यु को प्राप्त हुई। उबरदत्त अनाथ हो घर-घर भीख मांगने लगा। उसे अनेक रोगो ने घेर लिया। हाथ-पैर की अगुलियाँ गिर पडीं। सारे शरीर से रुधिर बहने लगा। उबरदत्त को ऐसी हालत में देख कर गौतम ने महावीर से प्रश्न किया। महावीर ने उसके पूर्वभव और आगामी भव पर प्रकाश डाला एव बताया कि अन्त में वह महाविदेह में मुक्त होगा।

शौरिक मछलीमार

आठवीं कथा शौरिक नामक मछलीमार की है। शौरिक गले में मछली का कांटा फँस जाने के कारण तीव्र वेदना से कराह रहा था। वह पूर्व जन्म मे किसी राजा का रसोइया था जो विविध प्रकार के पशु पक्षियो का मास पकाता, मास के वैविध्य से राजा-रानी को खुश रखता और खुद भी मासाहार करता था। परिणामतः वह मर कर शौरिक मछलीमार हुआ।

देवदत्ता

नवीं कथा देवदत्ता नामक स्त्री की है। यह कथा इस प्रकार है —

सिंहसेन नामक राजपुत्र ने एक ही दिन में पाँच सौ कन्याओ के साथ विवाह किया। दहेज में खूब सम्पत्ति प्राप्त हुई। इन भार्याओ में से श्यामा नामक स्त्री पर राजकुमार विशेष आसक्त था। शेष ४९९ स्त्रियो की वह तनिक भी परवाह नहीं करता था। यह देख कर उन उपेक्षित स्त्रियो की माताओं ने सोचा कि शस्त्रप्रयोग, विषप्रयोग अथवा अग्निप्रयोग द्वारा श्यामा का खात्मा कर दिया जाय तो हमारी कन्याएँ सुखी हो जायँ। यह बात किसी तरह श्यामा को मालूम हो गई। उसने राजा को सूचित किया। राजा ने उन स्त्रियों एवं उनकी माताओं को भोजन के बहाने एक महल मे एकत्र कर महल में आग लगा दी। सब स्त्रियाँ जल कर भस्म हो गईं। हत्यारा राजा मर कर नरक में गया। वहाँ की आयु समाप्त कर देवदत्ता नामक स्त्री हुआ। देवदत्ता का

विवाह एक राजपुत्र से हुआ। राजपुत्र मातृभक्त था अतः अधिक समय माता की सेवा में ही व्यतीत करता था। प्रातःकाल उठते ही राजपुत्र पुष्पनदी माता श्रीदेवी को प्रणाम करता था। बाद मे उसके शरीर पर अपने हाथों से तेल आदि की मालिश कर उसे नहलाता एवं भोजन करता था। भोजन करने के बाद उसके अपने कक्ष में सो जाने पर ही पुष्पनदी नित्यकर्म से निवृत्त हो भोजन करता था। इससे देवदत्ता के आनन्द में विघ्न पडने लगा। वह राजमाता की जीवनलीला समाप्त करने का उपाय सोचने लगी। एक बार राजमाता के मद्य पी कर निश्चिन्त होकर सो जाने पर देवदत्ता ने तप्त लोहशलाका उसकी गुदा में जोर से घुसेड दी। राजमाता की मृत्यु हो गई। राजा को देवदत्ता के इस कुकर्म का पता लग गया। उसने उसे पकडवा कर मृत्युदण्ड का आदेश दिया।

अंजू

दसवीं कथा अंजू की है। स्थान का नाम वर्धमानपुर, राजा का नाम विजय, सार्थवाह का नाम धनदेव, सार्थवाह की पत्नी का नाम प्रियगु एव सार्थवाहपुत्री का नाम अंजू है। अंजू पूर्वभव में गणिका थी। गणिका का पापमय जीवन समाप्त कर धनदेव की पुत्री हुई थी। अंजू का विवाह राजा विजय के साथ हुआ। पूर्वकृत पापकर्मों के कारण अंजू को योनिशूल रोग हुआ। अनेक उपचार करने पर भी रोग शान्त न हुआ।

उपर्युक्त कथाओं में उल्लिखित पात्र ऐतिहासिक हैं या नहीं, यह नहीं कहा जा सकता।

सुख विपाक

सुखविपाक नामक द्वितीय श्रुतस्कन्ध मे आनेवाली दस कथाओं में पुण्य के परिणाम की चर्चा है। जिस प्रकार दुःखविपाक की कथाओं में किसी असत्यभाषी की तथा महापरिग्रही की कथा नहीं आती उसी प्रकार सुखविपाक की कथाओं में किसी सत्यभाषी की तथा ऐच्छिक अल्पपरिग्रही की कथा नहीं आती। आचार के इस पक्ष का विपाकसूत्र में प्रतिनिधित्व न होना अवश्य विचारणीय है।

विपाक का विषय

इस सूत्र के विषय के सम्बन्ध में अचेलक परम्परा के राजवार्तिक, धवला, जयधवला और अंगपण्णत्ति में बताया गया है कि इसमें दुःख और सुख के विपाक अर्थात् परिणाम का वर्णन है। सचेलक परम्परा के समवायाग तथा नदीसूत्र

मे भी इसी प्रकार विपाक के विषय का परिचय दिया गया है। इस प्रकार विपाकसूत्र के विषय के सम्बन्ध मे दोनो परम्पराओ मे कोई वैषम्य नहीं है। नन्दी और समवाय में यह भी बताया गया है कि असत्य और परिग्रहवृत्ति के परिणामो की भी इस सूत्र में चर्चा की गई है। उपलब्ध विपाक में एतद्विषयक कोई कथा नही मिलती।

अध्ययन-नाम

स्थानाग मे कर्मविपाक (दु खविपाक) के दस अध्ययनों के नाम दिये गये हैं मृगापुत्र, गोत्रास, अड, शकट, ब्राह्मण, नदिषेण, शौर्य, उदुंबर, सहसोद्दाह–आमरक और कुमारलिच्छवी। उपलब्ध विपाक में मिलनेवाले कुछ नाम इन नामों से भिन्न हैं। गोत्रास नाम उज्झितक के अन्य भव का नाम है। अंड नाम अभग्नसेन द्वारा पूर्वभव मे किये गये अंडे के व्यापार का सूचक है। ब्राह्मण नाम का सम्बन्ध बृहस्पतिदत्त पुरोहित से है। नदिषेण का नाम नंदिवर्धन के स्थान पर प्रयुक्त हुआ है। सहसोद्दाह-आमरक का सम्बन्ध राजा की माता को तप्तशलाका से मारनेवाली देवदत्ता के साथ जुडा हुआ मालूम होता है। कुमार-लिच्छवी के स्थान पर उपलब्ध नाम अजू है। अजू के अपने अन्तिम भव में किसी सेठ के यहाँ पुत्ररूप से अर्थात् कुमाररूप से जन्म ग्रहण करने की घटना का उल्लेख आता है। सभवत इस घटना को ध्यान में रखकर स्थानाग मे कुमार-लिच्छवी नाम का प्रयोग किया गया है। लिच्छवी शब्द का सम्बन्ध लिच्छवी नामक वशविशेष से है। वृत्तिकार ने 'लेच्छई' का अर्थ 'लिप्सु' अर्थात् 'लाभ प्राप्त करने की वृत्तिवाला वणिक्' किया है। यह अर्थ ठीक नहीं है। यहाँ 'लेच्छई' का अर्थ 'लिच्छवी वंश' ही अभिप्रेत है। स्थानाग के इस नामभेद का कारण वाचनान्तर माना जाय तो कोई असगति न होगी। स्थानागकार ने सुखविपाक के दस अध्ययनों के नामों का कोई उल्लेख नहीं किया है।

१. परिशिष्ट

दृष्टिवाद

बारहवाँ अग दृष्टिवाद अनुपलब्ध है अत. इसका परिचय कैसे दिया जाय ? नन्दिसूत्र में इसका साधारण परिचय दिया गया है, जो इस प्रकार है :—

दृष्टिवाद की वाचनाएँ परिमित अर्थात् अनेक हैं, अनुयोगद्वार सख्येय हैं, वेढ (छदविशेष) सख्येय हैं, श्लोक सख्येय हैं, प्रतिपत्तियाँ (समझने के साधन) सख्येय हैं, निर्युक्तियां संख्येय हैं, सग्रहणियाँ सख्येय हैं, अङ्ग की अपेक्षा से यह बारहवां अङ्ग है, इसमें एक श्रुतस्कन्ध है, सख्येय सहस्र पद हैं, अक्षर सख्येय हैं, गम एव पर्यव अनन्त हैं। इसमें त्रस और स्थावर जीवो, धर्मास्तिकाय आदि शाश्वत पदार्थों एव क्रियाजन्य पदार्थों का परिचय है। इस प्रकार जिन-प्रणीत समस्त भावो का निरूपण इस बारहवें अग में उपलब्ध है। जो मुमुक्षु इस अग में बताई हुई पद्धति के अनुसार आचरण करता है वह ज्ञान के अभेद की अपेक्षा से दृष्टिवादरूप हो जाता है—उसका ज्ञाता व विज्ञाता हो जाता है।

दृष्टिवाद के पूर्व आदि भेदों के विषय में पहले प्रकाश डाला जा चुका है (पृ० ४४, ४८-५१)। यह बारहवाँ अग भद्रबाहु के समय से ही नष्टप्राय. है। अतः इसके विषय में स्पष्ट रूप से कुछ भी नहीं जाना जा सकता। मलधारी हेमचन्द्र ने अपनी विशेषावश्यकभाष्य की वृत्ति में कुछ भाष्य-गाथाओं को 'पूर्वगत' बताया है। इसके अतिरिक्त एतद्विषयक विशेष परिचय उपलब्ध नहीं है।

२. परिशिष्ट

अचेलक परम्परा के प्राचीन ग्रन्थों में सचेलकसम्मत अंगादिगत अवतरणों का उल्लेख

जिस प्रकार वर्तमान अगसूत्रादि आगम सचेलक परम्परा को मान्य हैं उसी प्रकार अचेलक परम्परा को भी मा य रहे हैं, यह स्पष्ट प्रतीत होता है। अचेलक परम्परा के लघुप्रतिक्रमण सूत्र के मूल पाठ में ज्ञातासूत्र के उन्नीस अध्ययन गिनाये हैं। इसी प्रकार सूत्रकृताग के तेईस एव आचारप्रकल्प (आचाराग) के अठाईस अध्ययनो के नाम दिये हैं। राजवार्तिक आदि ग्रन्थो में भी अगविषयक उल्लेख उपलब्ध हैं किन्तु अमुक सूत्र में इतने अध्ययन हैं, ऐसा उल्लेख इनमे नहीं मिलता। इस प्रकार का स्पष्ट उल्लेख अचेलक परम्परा के लघुप्रतिक्रमण एव सचेलक परम्परा के स्थानाग, समवायाग व नदीसूत्र में उपलब्ध है। इसी प्रकार का उल्लेख अचेलक परम्परा के प्रसिद्ध ग्रन्थ प्रतिक्रमण-ग्रन्थत्रयी की आचार्य प्रभाचन्द्रकृत वृत्ति में विस्तारपूर्वक मिलता है, यद्यपि इन नामों व सचेलक परम्परासम्मत नामो में कही-कहीं अन्तर है जो नगण्य है।

ज्ञातासूत्र के उन्नीस अध्ययनो के नाम लघुप्रतिक्रमण में इस प्रकार गिनाये गये हैं —

उक्कोडणाग[1] कुम्मं अडयं[3] रोहिणि[4] सिस्स[5] तुवं[6] सघादे[7]।
मादगिमल्लि[8] चदिम[9] तावद्देवय[10] तिक[11] तलाय[12] किण्णे[13] ॥१॥
सुसुकेय[14] अवरकके[15] नदीफल[16] उदगणाह[17] मडुक्के[18]।
एत्ता य पुडरीगो[19] णाहज्झाणाणि उणवीस ॥२॥

सचेलक परम्परा में एतद्विषयक सग्रहगाथाएं इस प्रकार हैं —*

उक्खित्ते[1] णाए संघाडे[2] अडे[3] कुम्मे[4] सेलए[5]।
तुंबे[6] य रोहिणी[7] मल्ली[8] मागदी[9] चंदिमा[10] इय ॥१॥
दावद्दवे[11] उदगणाए[12] मडुक्के[13] तेयली[14] चेव।
नदिफले[15] अवरकंका[16] आयन्ने[17] सुसु[18] पुडरीया[19] ॥२॥

* ये गाथाएँ सवृत्तिक आवश्यकसूत्र (पृ० ६५३) के प्रतिक्रमणाधिकार में हैं।

सूत्रकृताग के तेईस अध्ययनो के नाम प्रतिक्रमणग्रथत्रयी की वृत्ति में इस प्रकार हैं —

समए[1] वेदालिज्जे[2] एत्तो उवसग्ग[3] इत्थिपरिणामे[4] ।
णरयतर[5] वीरथुदी[6] कुसील[7]परिभासए वीरिए[8] ॥१॥
धम्मो[9] य अग्ग[10] मग्गे[11] समोवसरण[12] तिकाल[13] गथहिदे ।
आदा[14] तदित्थगाथा[15] पुडरीको[16] किरियाठाणे[17] य ॥ २ ॥
आहारय[18]परिणामे पच्चक्खाण[19] अणगार[20]गुणकित्ति ।
सुद[21] अत्थ[22] णालदे[23] सुद्दयउज्झाणाणि तेवीस ॥ ३ ॥

इन गाथाग्रो से बिलकुल मिलता हुआ पाठ उक्त आवश्यकसूत्र (पृ० ६५१ तथा ६५८) में इस प्रकार है

समए[1] वेया[2]लीय उवसग्ग[3]परिण्ण थीपरिण्णा[4] य ।
निरयविभत्ती[5] वीरत्थओ[6] य कुसीलाण परिहासा[7] ॥ १ ॥
वीरिय[8] धम्म[9] समाही[10] मग्ग[11] समोसरण[12] अहतह[13] गथो[14] ।
जमईअ[15] तह गाहा[16] सोलसम होइ अज्झयण ॥ २ ॥
पुडरीय[17] किरियट्ठा[18]ण आहारप[19]रिण्ण पच्चक्खा[20]णकिरियाय ।
अणगार[21] अद[22] नालद[23] सोलसाइ तेवीस ॥ ३ ॥

अचेलक परम्परा के ग्रथ भगवती आराधना अथवा मूल आराधना की अपराजितसूरिकृत विजयोदया नामक वृत्ति में आचाराग, दशवैकालिक, आवश्यक, उत्तराध्ययन एव सूत्रकृताग के पाठो का उल्लेख कर यत्र-तत्र कुछ चर्चा की गई है।[1] इसमें 'निपेधेऽपि उक्तम्' (पृ ६१२) यो कहकर निशीथसूत्र का भी उल्लेख किया गया हैं। इतना ही नहीं, भगवती आराधना की अनेक गाथाए सचेलक परम्परा के पयन्ना—प्रकीर्णक आदि ग्रथों मे अक्षरश उपलब्ध होती हैं। इससे स्पष्ट मालूम होता है कि प्राचीन समय में अचेलक परम्परा और सचेलक परम्परा के बीच काफी अच्छा सम्पर्क था। उन्हें एक-दूसरे के शास्त्रो का ज्ञान भी था। तत्त्वार्थसूत्र के 'विजयादिपु द्विचरमा' (४.२६) की व्याख्या करते हुए राजवार्तिककार भट्टाकलक ने 'एव हि व्याख्याप्रज्ञप्तिदण्डकेपु उक्तम्' यों कह कर व्याख्याप्रज्ञप्ति अर्थात् भगवतीसूत्र का स्पष्ट उल्लेख किया है एव उसे प्रमाणरूप से स्वीकार किया है। भट्टाकलक निर्दिष्ट यह विषय व्याखयाप्रज्ञप्ति के २४ वें शतक के २२ वें उद्देशक के १६ वें एव १७ वें प्रश्नोत्तर

---

१ उदाहरण के लिए देखिये—पृ २७७, ३०७, ३५३, ६०६, ६११

में उपलब्ध है। धवलाकार वीरसेन 'लोगो वादपदिट्ठिदो त्ति वियाह-पण्णत्तिवयणादो' (षट्खण्डागम, ३, पृ ३५) यो कहकर व्याख्याप्रज्ञप्ति का प्रमाणरूप से उल्लेख करते हैं। यह विषय व्याख्याप्रज्ञप्ति के प्रथम शतक के छठे उद्देशक के २२४ वें प्रश्नोत्तर में उपलब्ध है। इसी प्रकार दशवैकालिक, अनुयोगद्वार, स्थानाग व विशेषावश्यकभाष्य से सम्बन्धित अनेक सदर्भ और अवतरण धवला टीका मे उपलब्ध होते हैं। एतद्विषयक विशेष जानकारी तद्-तद् भाग के परिशिष्ट देखने से हो सकती है। अचेलक परम्परा के मूलाचार ग्रथ के षडावश्यक के सप्तम अधिकार में आनेवाली १९२ वीं गाथा की वृत्ति में आचार्य वसुनदी स्पष्ट लिखते हैं कि एतद्विषयक विशेष जानकारी आचाराग से कर लेनी चाहिए आचाराङ्गात् भवति ज्ञातव्य। यह आचाराग सूत्र वही है जो वर्तमान में सचेलक परम्परा मे विद्यमान है। मूलाचार मे ऐसी अनेक गाथाए हैं जो आवश्यक-निर्युक्ति की गाथाओ से काफी मिलती जुलती हैं। इनकी व्याख्या में पीछे से होनेवाले सकुचित परम्पराभेद अथवा पारस्परिक सम्पर्क के अभाव के कारण कुछ अन्तर अवश्य दृष्टिगोचर होते हैं।

इस प्रकार अचेलक परम्परा की साहित्यसामग्री देखने से स्पष्ट मालूम पडता है कि इस परम्परा में भी उपलब्ध अग आदि आगमो को सुप्रतिष्ठित स्थान प्राप्त हुआ है। आग्रह का अतिरेक होने पर विपरीत परिस्थिति का जन्म हुआ एव पारस्परिक सम्पर्क तथा स्नेह का ह्रास होता गया।

३. परिशिष्ट

आगमों का प्रकाशन व संशोधन

एक समय था जब धर्मग्रथों के लिखने का रिवाज न था। उस समय धर्मपरायण आत्मार्थी लोग धर्मग्रथों को कठस्थ कर सुरक्षित रखते एव उपदेश द्वारा उनका यथाशक्य प्रचार करने का प्रयत्न करते थे। शारीरिक और सामाजिक परिस्थिति में परिवर्तन होने पर जैन निग्रंथो ने अपवाद का आश्रय लेते हुए भी आगमादि ग्रथों को ताडपत्रादि पर लिपिबद्ध किया। इस प्रकार के लिखित साहित्य की सुरक्षा के लिए भारत मे जैनों ने जो प्रयत्न, परिश्रम और अर्थव्यय किया है वह बेजोड है। ऐसा होते हुए भी हस्तलिखित ग्रथों द्वारा अध्ययन-अध्यापन तथा प्रचारकार्य उतना नहीं हो सकता जितना कि होना चाहिए। मुद्रण युग का प्रादुर्भाव होने पर प्रत्येक धर्म के आचार्य व गृहस्थ सावधान हुए एव अपने-अपने धर्मसाहित्य को छपवाने का प्रयत्न करने लगे। तिब्बती पडितों ने मुद्रणकला का आश्रय लेकर प्राचीन साहित्य की सुरक्षा की। वैदिक व बौद्ध लोगो ने भी अपने-अपने धर्मग्रथो को छपवा कर प्रकाशित किया। जैनाचार्यो व जैन गृहस्थो ने अपने आगम ग्रथो को प्रकाशित करने का उस समय कोई प्रयत्न नहीं किया। उन्होंने आगम-प्रकाशन में अनेक प्रकार की धार्मिक बाधाएँ देखीं। कोई कहता कि छापने मे तो आगमो की आशातना अर्थात् अपमान होने लगेगा। कोई कहता कि छापने से वह साहित्य किसी के भी हाथ में पहुँचेगा जिससे उसका दुरुपयोग भी होने लगेगा। कोई कहता कि आगमों को छापने में आरभ-समारभ होने से पाप लगेगा। कोई कहता कि छपने पर तो श्रावक लोग भी आगम पढने लगेंगे जो उचित नही है। इस प्रकार विविध दृष्टियो से समाज में आगमो के प्रकाशन के विरुद्ध वातावरण पैदा हुआ। ऐसा होते हुए भी कुछ साहसी एव प्रगतिशील जैन अगुओं ने आगमसाहित्य का प्रकाशन प्रारभ किया। इसके लिए उन्हे परम्परागत अनेक रूढ़ियों का भंग करना पडा।

अजीमगज, बगाल के बाबू धनपतसिंह जी को आगमो को मुद्रित करवाने का विचार सर्वप्रथम सूझा। उन्होंने समस्त आगमो को टबो के साथ प्रकाशित किया।

जैसा कि सुना जाता है. इसके बाद श्री वीरचद राघवजी को प्रथम सर्वधर्मपरिषद् मे चिकागो भेजनेवाले विजयानदसूरिजी ने भी आगम-प्रकाशन को सहारा दिया एव इस कार्य को करनेवालो को प्रोत्साहित किया। सेठ भीमसिह माणेक ने भी आगम-प्रकाशन की प्रवृत्ति प्रारभ की एव टीका व अनुवाद के साथ एक-दो आगम निकाले। विदेश मे जर्मन विद्वानो ने 'सेक्रेड बुक्स ऑफ दी ईस्ट' ग्रथमाला के अन्तर्गत तथा अन्य रूप में आचाराग, सूत्रकृताग, निशीथ, कल्पसूत्र, उत्तराध्ययन आदि को मूल अथवा अनुवाद के रूप में प्रकाशित किया। स्थानकवासी परम्परा के जीवराज घेलाभाई नामक गृहस्थ ने जर्मन विद्वानों द्वारा मुद्रित रोमन लिपि के आगमो को नागरी लिपि मे प्रकाशित किया। इसके बाद स्व० आनन्दसागर सूरिजी ने आगमोदय समिति की स्थापना कर एक के बाद एक करके तमाम आगमों का प्रकाशन किया। सागरजी का पुरुषार्थ और परिश्रम अभिनन्दनीय होते हुए भी साधनो की परिमितता तथा सहयोग के अभाव के कारण यह काम जितना अच्छा होना चाहिए था उतना अच्छा नहीं हो पाया। इस बीच प्रस्तुत लेखक ने *व्याख्याप्रज्ञप्ति*—भगवतीसूत्र के दो बडे बडे भाग मूल, टीका, अनुवाद (मूल व टीका दोनो का) तथा टिप्पणियो सहित श्री जिनागम प्रकाशन सभा की सहायता से प्रकाशित किये। इस प्रकाशन के कारण जैन समाज में भारी ऊहापोह हुआ। इसके बाद जैनसघ के अग्रणी कुवरजी भाई आनदजी की अध्यक्षता मे चलने वाली जैनधर्म प्रसारक सभा ने भी कुछ आगमो का अनुवाद सहित प्रकाशन किया। इस प्रकार आगम-प्रकाशन का मार्ग प्रशस्त होता गया अब तो कही विरोध का नाम भी नही दिखाई देता। इधर स्थानकवासी मुनि अमोलक ऋषि जी ने भी हैदराबाद के एक जैन अग्रणी की सहायता से बत्तीस आगमो का हिन्दी अनुवाद सहित प्रकाशन किया। ऋषिजी ने इसके लिए अति श्रम किया जो सराहनीय है, किन्तु सशोधन की कमी के कारण इस प्रकाशन मे अनेक स्थानो पर त्रुटियाँ रह गई हैं। अब तो तेरापथी मुनि भी इस काम में रस लेने लगे हैं। पजाबी मुनि स्व० आत्मारामजी महाराज ने भी अनुवाद सहित कुछ आगमों का प्रकाशन किया है। मुनि फूलचदजी 'भिक्षु' ने बत्तीस आगमो को दो भागों मे प्रकाशित किया है। इसमें भिक्षुजी ने अनेक पाठ बदल दिये हैं। वयोवृद्ध मुनि घासीलालजी ने भी आगम-प्रकाशन का कार्य किया है। इन्होंने जैन परम्परा के आचार-विचार को ठीक-ठीक नहीं जाननेवाले ब्राह्मण पडितो द्वारा आगमों पर संस्कृत में विवेचन लिखवाया है। अत इसमें काफी अव्यवस्था

हुई है। इधर आगमप्रभाकर मुनि पुण्यविजयजी ने आगमों के प्रकाशन का कार्य प्राकृत टेक्स्ट सोसायटी के तत्त्वावधान में प्रारभ किया है। यह प्रकाशन आधुनिक शैली से युक्त होगा। इसमें मूल पाठ, निर्युक्ति, भाष्य, चूर्णि एव वृत्ति का यथावसर समावेश किया जायगा। आवश्यकतानुसार पाठान्तर भी दिये जाएँगे। विषय-सूची, शब्दानुक्रमणिका, परिशिष्ट, प्रस्तावना आदि भी रहेंगे। इस प्रकार यह प्रकाशन नि सदेह आधुनिक पद्धति का एक श्रेष्ठ प्रकाशन होगा, ऐसी अपेक्षा और आशा है। महावीर जैन विद्यालय भी मूल आगमो के प्रकाशन के लिए प्रयत्नशील है।

अनुक्रमणि

शब्द	पृष्ठ
अ	
अकलिपि	१८०
अकलेश्वर	९
अकुलेश्वर	९
अकुलेसर	९
अंकुश	२१९
अग	२९, ३०, ३६, ४९, ६७, १८२
अगपण्णत्ति	३७, ४०, ४१, ४२, ४९, ५२, ६२, १२८, २६२
अगपुछ	९५
अगप्रविष्ट	१२, २७, ३०, १७७
अगबाह्य	१२, २८, २९, ३०, १७७
अगरिसि	१७
अगरूप	२८
अगविद्या	१६१
अगसूत्र	७८, १७२
अगिरस	१७
अगुत्तरनिकाय	१३१, १७५
अगुष्ठप्रश्न	२४७, २४८, २५२
अगोछा	९५
अजू	२६२, २६३
अड	२१९, २६३
अडकृत	१३८
अडा	२१९, २४९
अतकृत	२९
अतकृतदशा	२३३
अंतकृद्दशम्	३९
अंतकृद्दशा	३६, ३९, ४०, ४७, ४९, १८१, २३३
अतगडदसा	४०, ४३, २३३
अतर	२११, २१३
अतहुडी	२१४
अधकवृष्णि	२३४
अबष्ठ	८६
अकर्मवीर्य	१४९
अकलक	३६, ३९, १८९
अकल्प्य	१२८, १२९
अकस्मात्	९९
अकस्मात्दड	१५९, १६१
अक्रियावाद	४०, १५०
अक्रियावादी	९१, ९८, १२८, १५२, २१३
अक्षर	१८१
अक्षरपृष्ठिका	१८०
अक्षरश्रुत	१२
अक्षोभ	२३४
अगमिक	२७
अगर्हा	१९६
अगस्त्यसिंह	५१
अग्नि	१९१, २०९
अग्निकाय	२०५
अग्निप्रयोग	२६१
अग्निवेश्यायन	२०५
अग्निहोत्रीय	२०१
अग्निहोमवादी	१४८
अग्र	१२८
अग्रपिंड	११२
अग्रबीज	१६१

शब्द	पृष्ठ
अग्रायग	४६
अग्रायणीय	३६, ४८, ४६
अचेलक	८, ६, १६, ३५, ३८, ४२ ४५, ५०, ६२, ६५, १०७, २६२, २६६
अचेलकता	६५, १०७
अचौर्य	२५१
अच्युत	१६२, १६३
अछत्र	१६७
अछिद्र	२०५
अजमार्ग	१५१
अजितकेशकम्बल	१५८
अजीमगज	२६६
अजीर्ण	२५७
अजीव	१२७, १६५
अज्ञान	२१२
अज्ञानवाद	४०, १३२
अज्ञानवादी	६१, १२८, १५२, २१३
अज्ञेयवाद	१३३
अणारिय	१०१
अणुत्तरोववाइयदसा	४०, ४३
अणुवसु	१०३
अणुव्रत	१४१, २२०
अतिथि	११२
अतिमुक्त	२३८
अतिमुक्तक	२३५, २४२
अत्थिकाय	१००
अथर्ववेद	२१६, २५६
अदतधावन	१६७
अदत्तादान	१५०
अदत्तादानप्रत्ययदण्ड	१५६
अद्दागप्रश्न	२४७
अधर्मक्रियास्थान	१५६
अधर्मास्तिकाय	२१०
अध्यवसान	२१२
अध्यवसाय	५७
अध्यात्मप्रत्ययदण्ड	१५६, १६०
अनग	२६, ३०
अनगप्रविष्ट	१२, २७
अनगसेना	२३४
अनतज्ञानी	१०६, १४७
अनतदर्शी	१४७
अनतश्रुत	१२
अनक्षरश्रुत	१२
अनगार	६२, २०८
अनगार-गुणकीर्ति	१२८
अनगारश्रुत	१५६, १६३
अनर्थदण्ड	१५६, १६१
अनवद्या	१२१
अनवद्यागी	१२१
अनात्मवाद	१५७
अनात्मवादी	६१
अनाथपिंडिक	८४
अनादिक	२१
अनादिकश्रुत	१२
अनारभ	१३६
अनार्य	१०१, २५०
अनार्य देश	१६४
अनुत्तर	२४१
अनुत्तरविमान	१७६
अनुत्तरोपपातिकदशम्	३६
अनुत्तरोपपातिकदशा	४०
अनुत्तरौपपातिक	२६, १८१, २४१
अनुत्तरौपपातिकदशा	३६, ३६, ४३, ४७, ४६, २४१, २६२

शब्द	पृष्ठ	शब्द	पृष्ठ
अनुपालहत्ता	१६७	अभ्यंग	११६
अनुबध	२१२	अमरकोश	१३६, १४८
अनुयोगगत	४५	अमोलकऋषि	२७०
अनुयोगद्वार	६, २६८	अयल	२३४
अनुयोगद्वारवृत्ति	५१	अयोगव	८६
अनेकवादी	१५२	अरबी	१८०, २०३
अनेकातवाद	२५	अरिष्टनेमि	२३५, २३६
अन्नउत्थिया	५६	अरुचि	२५७
अन्यतीर्थिक	१६०, २०६	अरुण-महासाल	१७
अन्ययूथिक	५६, १२८	अर्जुन	२०५, २३७
अन्यलिंगसिद्ध	१६	अर्जुनमाली	२३६, २३७
अन्योन्यक्रिया	७३, ७४	अर्थ	१२८
अपमान	१४२	अर्थदण्ड	१५६
अपराजित	२४१	अर्थपद	५२
अपराजितसूरि	२६७	अर्धमागधी	५५, २०३
अपराजितसूरिकृत	३७	अर्हत्	१४१
अपरिग्रह	२५१	अर्हत्ऋषि	१७
अपर्यवसित	१२, २१	अलंकारशाला	५०
अपान	५७	अल्पपरिग्रही	२६२
अपौरुषेय	१२, २२, २४	अल्पबहुत्व	२१३
अप्रामाण्य	२५	अल्पवयस्कराज्य	११७
अब्रह्मचर्य	१५०, २४६, २५०	अल्पवस्त्रधारी	६६
अभग्नसेन	२५६, २६३	अल्पवृष्टि	१८३
अभयकुमार	१६४, २४२	अवग्रह	१०७, ११६
अभयदेव	१०, ४२, ८१, १३१, १७२, १७३, २४८	अवग्रहप्रतिमा	६४,
		अवग्रहैषणा	७३, ७४, ११६
अभवसिद्धिक	२१३	अवचूरिका	२१४
अभव्य	२१२	अवतारवाद	१३६
अभिधर्मकोश	१४६	अवधिज्ञान	११, १०८, २२६
अभिधानचिन्तामणि	१३६	अवधूत	७०
अभिनय	५७	अवध्य	४८
अभियोग	१७६	अवरकका	२२३

शब्द	पृष्ठ
अवस्थान	११५
अवसर्पिणी	२१२
अवस्त्र	२७
अविरुद्ध	२२२
अवेस्ता	५, २१, २२, २६, ८८, १०३
अवेस्ता-गाथा	२३
अव्याकृत	५७
अव्याबाध	२११
अव्वावाह	२११
अशन	१११
अशातराज्य	११७
अशोक	१३१, १८०
अश्वमित्र	१७४
अष्टमभक्त	६०
अष्टमी	२५६
अष्टांगनिमित्त	१६१
अष्टांगमहानिमित्त	६
असज्ञी पचेन्द्रिय	२१४
असत्य	५७, १५०, २११, २४९, २५०, २६३
असत्यभापक	२८९
असत्यवादी	२४९
असमनोज्ञ	९५
असित	१६
असितदेवल	१७
असुर	२०८
असुरकुमार	१९०
असुरकुमारेन्द्र	१९०
अस्तिकाय	१००, २१०
अस्तिनास्तिप्रवाद	३९, ४८, ५०
अस्तेय	२५१
अस्थिवहुल	११६
अस्नान	१४२, १९७
अस्पष्टता	१२८
अस्याद्वाद	१५४
अहल्या	२५०
अहिंसा	५७, २११, २४८, २५०
अहिंसाधर्म	६९
अहिन्निका	२५०

आ

शब्द	पृष्ठ
आईंग	६७, ७२, २२४
आध्रप्रदेश	९
आकर	११३
आकरमह	११३
आकर्ष	२१३
आकाश	१९५, २११
आकाशमार्ग	१५१
आकाशास्तिकाय	२१०
आगम	६
आगम-ग्रन्थ	८
आगम-प्रकाशन	२६९
आगमप्रभाकर	२७१
आगमिकश्रुत	१२
आगमोदय समिति	२७०
आगर	६७
आगाल	६७
आचरित	७२
आचाम्ल	११५
आचार	२९, ४०, ४२, ६७, ७३
आचारकल्प	६४, ७३
आचारचूलिका	६७
आचारदशा	३६
आचारपाहुड	७३, २६६
आचारप्रकल्प	५७
आचारप्रणाली	१५६, १६३
आचारश्रुत	

शब्द	पृष्ठ
आचारांग	६, ७, २८, ३६, ३८, ३९, ४६, ४९, ५०, ५२, ५३, ५४, ५६, ५८, ६१, ६२, ७२, ७५, ७८, ८२, ९५, ९६, ९७, १०४, १२१, १३०, १४०, १५४, १५८, २६६, २६७, २६८, २७०
आचारांगनिर्युक्ति	५३, ६८, ७५
आचारांगनिर्युक्तिकार	५०
आचारांगवृत्ति	१९, ५१, ५३, ७५
आचारांगवृत्तिकार	५०, १००
आचाराग्र	६३, ७३, ७५
आचार्यभाषित	२४७
आचाल	६७
आचीर्ण	७२
आजञ्ञ	२२४
आजन्य	२२४
आजाति	६७
आजीवक	२४९
आजीवन ब्रह्मचर्य	१४२
आजीविक	५६, ९२, ११२, १३०, १४३, १९३, २०५
आत्मप्रवाद	३९, ४८, ५०
आत्मवादी	९८
आत्मषष्ठवादी	१५६, १५८
आत्मा	९१, १२८, १९८, २४९
आत्मारामजी	२७०
आत्मोपनिषद्	९१
आदर्शलिपि	१८०
आदान	१५०, १५५
आदानीय	१५५
आधत्तधिज्ज	१५३
आनंद	२२८, २२९, २४२
आनंदघन	१९, ८३
आनंदसागरसूरि	२७०
आन्दोलकमार्ग	१५१
आभियोगिक	१९३
आभूषण	११६
आमगंध	१०४
आमगंधसुत्त	७६
आमरक	२६३
आमोक्ष	६७
आम्रपानक	११५
आयतचक्षुष्	१०१
आयतन	२४९
आययचक्खु	१०१
आयरिस	६७
आयाम	११५
आयार	४२, ६७
आयारअंग	६७
आयारंग	६७
आयारे	४०
आयारो	४०
आयावाई	९८
आयुर्वेद	२६०
आयुष्य	५७, २१२
आरंभ	१९२
आरण्यक	२६, ५२
आरनाल	११५
आरिय	१०१
आरियायण	१७
आरोप्प	१३७
आरोप्य	१३७
आर्द्र	१६४
आर्द्रकीय	१३७, १५६, १६४

शब्द	पृष्ठ
आर्द्रकुमार	१३७, १६४
आर्द्रपुर	१६४
आर्य	१०१
आर्यवेद	१०४
आर्या	७६
आर्षप्राकृत	५५
आर्हतमत	१६५
आलंकारिक	२६०
आलंकारिक सभा	२१८, २२२
आलुअ	१९८
आलुक	१९८
आलू	१९८
आवर्त्ति	६८, ७०
आवश्यक	६, १७७, २६७
आवश्यकचूर्णि	७९, २०५, २२२
आवश्यक-निर्युक्ति	११, २६८
आवश्यकवृत्ति	११, १४, १२९
आवश्यकव्यतिरिक्त	१७७
आवश्यकसूत्र	२६६
आशीर्वाद	१५४
आशुप्रज्ञ	१०१, १४७
आश्रम	११३
आषाढ	१७४, २११
आसक्ति	२५०
आसास	६७
आसिलदेवल	१४३
आसुपन्न	१०१
आस्तिक्य	२१
आस्फालनसुख	१२८
आस्रव १०६, १२७, १२९, २४८, २४९	
आहत्तहिय	१५३
आहार	५७, १११, २१३, २१४
आहारपरिज्ञा	१५६, १६१
आहारपरिणाम	१२८
इ	
इन्द्र	५७, १०८, १९०, २५६
इन्द्रभूति	१६६, १७४, १९०, २०५, २५६
इन्द्रमह	११३
इन्द्रस्थान	२३८
इन्द्रिय	२१२
इन्द्रियोपचय	२११
इक्ष्वाकु	८४
इक्ष्वाकुकुल	११२, २१२
इमली	२०९
इसिगुत्त	१७४
ई	
ईर्या	६४
ईर्यापथ	११७
ईर्यापथिकी	२१०
ईर्याशुद्धि	६२
ईर्येषणा	७३, ७४
ईशाद्यष्टोत्तरशतोपनिषद्	९६
ईशानेन्द्र	२१८
ईश्वर	१३९
ईश्वरकारणवादी	१५८
ईश्वरकृत	२४९
ईश्वरवादी	१५६
ईश्वरादिकर्तृत्व	१९२
ईसाई	२०३
उ	
उबरदत्त	२६०
उग्र	८६, २१८
उग्रकुल	११२, २१२
उग्रसेन	२३५

शब्द	पृष्ठ
उच्चकुल	११३
उच्चत्तरिका	१८०
उच्चारप्रस्रवण	७३
उच्चारप्रस्रवणनिक्षेप	११६
उच्छेदवाद	१५८
उच्छ्रयण	१५०
उज्जयत	२२३
उज्जुवालिया	११२
उज्झितक	२५८, २६३
उडुवातितगण	१७३
उत्कालिक	२७, ३०, १७७
उत्तरकूलग	२०१
उत्तर-क्षत्रियकुण्डपुर	१२०
उत्तरबलिस्सह	१७४
उत्तरबलिस्सहगण	१७३
उत्तराध्ययन	३१, ६७, ९७, २६७, २७०
उत्थान	१३१
उत्पातविद्या	१६१
उत्पाद	४८, ४९
उत्सर्गशुद्धि	६२
उत्सव	११३, २५६
उत्स्वेदिम	११५
उदक	९२
उदकज्ञात	२२१
उदय	१६६
उदयगिरि	८२
उदयन	२५९, २६०
उदीरणा	२१३
उदुंबर	२६३
उद्दंडक	२०१
उद्देहगण	१७३
उद्यान	५७
उद्वर्तना	२१४
उपकरण	७०, ११४, १०७, २५०
उपचय	२११
उपजालि	२४२
उपधानश्रुत	६४, ६८, ७२, ७४, ७५, १०८
उपनिषद्	२३, २६, ५२, ९१, ९५, ९६, १००, १०३
उपनिषद्कार	२४
उपपत्नी	२५८
उपपात	२१२, २१३,
उपमासत्य	२५१
उपयोग	२१२, २१३
उपसंपदाहानि	२१३
उपसर्ग	१२८, १४२
उपसर्गपरिज्ञा	१२९, १४२
उपांग	३०
उपाध्याय	६
उपासक	२९, ५७, १३६, २२७
उपासकदशा	३०, ३९, ४३, ४७, ४९, १३०, २२७
उपासकदशांग	२२८, २३०
उपासकाध्ययन	३९
उपासकाध्ययनदशा	४०
उम्मज्जग	२०१
उल्लुयतीर	२०६
उवहारणसुत्त	६८
उवहाणसुय	७२
उवासगदसा	४३
उवासगदसाओ	४०
उस्सयण	१५०

ऊ

शब्द	पृष्ठ
ऊंचाई	२१२

शब्द	पृष्ठ
ऋ	
ऋग्वेद	५६, ५८, ८५, १०४, २१६, २५६
ऋजुमति	१०३
ऋषभदेव	८२, ८५, १६८
ऋषिदास	२४२, २४३
ऋषिभाषित	१६, १४३, २४७
ए	
एकदण्डी	१६५
एकवस्त्रधारी	६३, ६५, १०७
एकवादी	१५२
एकात्मवादी	१२६
एकादशांग	२८
एकेन्द्रिय	२१३, २१४
एक्काई	२५७
एलावच्च	१७४
एसिअकुल	११२
ऐ	
ऐढन	१६४
ऐरावती	१८२
ओ	
ओघ	२१२
ओजआहार	१६१
ओझाजी	५
ओरायण	२२
औ	
औद्देशिक	१३७, १३८
औपपातिक	३०, ३१, १४८
औषधालय	२२२
क	
कटकबहुल	११६
कट्टू	२५७
कद	१०५, ११५, १६८
कदाहारी	१६८, २०२
कप	२०८
कपिल्ल	२३४
कवल	१०७, ११६
कटासन	१०७
कठोपनिषद्	६६
कत्या	२२३
कपट	१५०
कपिल	१८, २३, २४, १२३, १६३
कपिलदर्शन	१६
कपिलवचन	२०
कप्पमाणवपुच्छासुत्त	६६
कबीर	८३
कमडल	२०१, २१६
कम्मारग्राम	१२२
कम्मावाई	६८
करण	२११
करपात्री	६५
करिसुगतक	२१३
करुणा	२१
करोटिका	२१६
कर्णवेदना	२५७
कर्णिकार	२०५
कर्वट	११३
कर्म	१३१, १६२
कर्मकाण्ड	२४, ५७, २२०
कर्मग्रंथ	५१
कर्मचय	१३२, १३६
कर्मचयवाद	१३३
कर्मप्रवाद	३६, ४८, ५०
कर्मप्रस्थापन	२१३
कर्मबन्ध	१३६
कर्मबन्धन	१३७, १६०
कर्मभूमि	२१२

शब्द	पृष्ठ
कर्मयोग	२१३
कर्मवादी	६८, १३३
कर्मविपाक	२६३
कर्मवीर्य	१४६
कर्मसमर्जन	२१३
कर्मोपार्जन	२१३
कलद	२०५
कला	५७, २१८, २५८
कलिंगगत	८२
कलियुग	२०६
कल्प	२१२
कल्पसूत्र	४४, ६५, ७६, ८०, १७३, २७०
कल्पातीत	२१३
कल्पान्तर	१६५
कल्प्य	१२८, १२६
कल्याण	३६, ५०
कल्याणविजय	२०५
कल्योज	२०६
कवलीकार आहार	१६२
कषाय	२१२, २१३
कहावली	७६
कांक्षामोहनीय	१६४
काञ्जी	११५
काटा	११६
कार्दपिक	१६३
काकंदी	१७४, २४३
कादम्बरी	५४, २२१
कामज्झया	२५८
कामड्ढितगण	१७३
कामदेव	२२८
कामध्वजा	२५८
कामावेरा	१२८
कामिड्ढि	१७४
कामोपचार	२५८
काम्पिल्य	१८३
कायचिकित्सा	२६०
कायशुद्धि	६२
कारागार	२१८
कार्तिक	२०६, २४२
कार्तिकसेठ	२०८
काल	२१२, २१३
कालसवेध	२१२
कालासवेसियपुत्त	१६६
कालिक	२७, ३०, ७३, १७७
कालिकश्रुत	२१२
कालिदास	२४३
काली	२३८
कालोदायी	५६, २०६
काशी	१८३
काश्यप	१५५, १७४
काश्यपगोत्रीय	१२०
कास	२५७
किंकम	२३४
किन्नरी	२५०
किरियावाई	६८
किल्बिषिक	१६३
कीलकमार्ग	१५१
कुडकोलिक	२२८
कुडकोलिय	१३०
कुडलि	१७४
कुडिका	२१६
कुडिल	१७४
कुंदकुंद	३६
कुंभघर	२१४
कुवरजीभाई आनंदजी	२७०
कुक्कुटक	८६
कुप्कुरक	८६

शब्द	पृष्ठ
ऋ	
ऋग्वेद	५६, ५८, ८५, १०४, २१६, २५६
ऋजुमति	१०३
ऋषभदेव	८२, ८५, १६८
ऋषिदास	२४२, २४३
ऋषिभाषित	१६, १४३, २४७
ए	
एकदण्डी	१६५
एकवस्त्रधारी	६३, ६५, १०७
एकवादी	१५२
एकात्मवादी	१२६
एकादशांग	२८
एकेन्द्रिय	२१३, २१४
एक्काई	२५७
एलावच्च	१७४
एसिम्रकुल	११२
ऐ	
ऐडन	१६४
ऐरावती	१८२
ओ	
ओघ	२१२
ओजआहार	१६१
ओझाजी	५
ओरायण	२२
औ	
औद्देशिक	१३७, १३८
औपपातिक	३०, ३१, १४८
औषधालय	२२२
क	
कटकबहुल	११६
कड्डू	२५७
कद	१०५, ११५, १६८
कदाहारी	१६८, २०२
कप	२०८
कपिल्ल	२३४
कवल	१०७, ११६
कटासन	१०७
कठोपनिषद्	६६
कन्या	२२३
कपट	१५०
कपिल	१८, २३, २४, १२३, १६३
कपिलदर्शन	१६
कपिलवचन	२०
कप्पमाणवपुच्छासुत्त	६६
कबीर	८३
कमडल	२०१, २१६
कम्मारग्राम	१२२
कम्मावाई	६८
करण	२११
करपात्री	६५
करिसुशतक	२१३
करुणा	२१
करोटिका	२१६
कर्णवेदना	२५७
कर्णिकार	२०५
कर्वट	११३
कर्म	१३१, १६२
कर्मकाण्ड	२४, ५७, २२०
कर्मग्रंथ	५१
कर्मचय	१३२, १३६
कर्मचयवाद	१३३
कर्मप्रवाद	३६, ४८, ५०
कर्मप्रस्थापन	२१३
कर्मबन्ध	१३६
कर्मबन्धन	१३७, १६०
कर्मभूमि	२१२

शब्द	पृष्ठ	शब्द	पृष्ठ
कर्मयोग	२१३	काम्पिल्य	१८३
कर्मवादी	९८, १३३	कायचिकित्सा	२६०
कर्मविपाक	२६३	कायशुद्धि	६२
कर्मवीर्य	१४९	कारागार	२१८
कर्मसमर्जन	२१३	कार्तिक	२०९, २४२
कर्मोपार्जन	२१३	कार्तिकसेठ	२०८
कलद	२०५	काल	२१२, २१३
कला	५७, २१८, २५८	कालसवेघ	२१२
कलिंगगत	८२	कालासवेसियपुत्त	१९६
कलियुग	२०९	कालिक	२७, ३०, ७३, १७७
कल्प	२१२	कालिकश्रुत	२१२
कल्पसूत्र	४४, ६५, ७९, ८०, १७३, २७०	कालिदास	२४३
कल्पातीत	२१३	काली	२३८
कल्पान्तर	१९५	कालोदायी	५६, २०९
कल्प्य	१२८, १२९	काशी	१८३
कल्याण	३९, ५०	काश्यप	१५५, १७४
कल्याणविजय	२०५	काश्यपगोत्रीय	१२०
कल्योज	२०९	कास	२५७
कवलीकार आहार	१६२	किकम	२३४
कषाय	२१२, २१३	किन्नरी	२५०
कहावलो	७९	किरियावाई	९८
कांक्षामोहनीय	१९४	किल्विषिक	१९३
कांजी	११५	कीलकमार्ग	१५१
कांटा	११६	कुडकोलिक	२२८
कार्दपिक	१९३	कुडकोलिय	१३०
काकंदी	१७४, २४३	कुडलि	१७४
कादम्बरी	५४, २२१	कुडिका	२१९
कामज्झया	२५८	कुडिल	१७४
कामड्ढितगण	१७३	कुंदकुंद	३६
कामदेव	२२८	कुंभधर	२१४
कामध्वजा	२५८	कुवरजीभाई आनंदजी	२७०
कामावेश	१२८	कुक्कुटक	८६
कामिड्ढि	१७४	कुक्कुरक	८६
कामोपचार	२५८		

शब्द	पृष्ठ
कुक्षिशूल	२५७
कुणाल	१८३
कुत्तियावण	२१८
कुवेर	२५६
कुमारपुत्तिय	१६७
कुमारपुत्र	१६७
कुमारलिच्छवी	२६३
कुमारश्रमण	२३५
कुमारसभव	२४३
कुराजा	११४
कुरु	१८३
कुल	२१२
कुलत्थ	२२०
कुलधर्म	१४९
कुलस्थविर	१७९
कुशल	१०७, १४७
कुशील	१४८, १६५, २१३
कुशीलपरिभाषा	१२८
कुष्ठ	२०९, २५७
कूटग्राह	२५८
कूप	२५६
कूपमडूक	२१३
कूपमह	११३
कूर्म	२१९
कूलधमग	२०१
कृतयुग	२०९
कृतयुग्म	२०९, २१४
कृष्ण	२३, २४, १४२, १४७, २२०, २२३, २३४, २३५, २३६
कृष्णमृग	११९
कृष्णलेश्या	२१३
केनोपनिषद्	९६
केवलज्ञान	११, १२३, १७७
केवलदर्शन	१२३
केवली	१०२, १०९, १९८, १९९, २०८
केशलोच	१४२, १९७
केशव	१४२
केशिकुमार	१९८
केशी-गौतमीय	६७
केसरी	२१९
कोकालिय	१४६
कोजव	११९
कोट्टागकुल	११२
कोठ	२०९
कोडितगण	१७३
कोणिक	२०७
कोत्तिय	२०१
कोमलप्रश्न	२४७
कोल्लाक	२०४
कोशल	८४, १८३
कोसबी	२३६
कोसम	२५९
कौरवकुल	२१२
कौशाबी	१८३, २५९
कौशेय	११९
क्रियावाद	४०, १५०
क्रियावादी	९१, ९८, १२८, १३३, १५२, २१३
क्रियाविशाल	३९, ४८, ५०
क्रियास्थान	१२८, १२९, १५६, १५८
क्रोध	१५०
क्लीवता	१२८
क्षत्तृक	८६
क्षत्रिय	२५, ८५, ८६, ११४, २५९
क्षत्रियकुडग्राम	१९९

शब्द	पृष्ठ
क्षत्रियकुल	११२
क्षमा	११६
क्षेत्र	२१२, २१३
क्षेत्रक्षेत्रज्ञविभागयोग	१४७
क्षेत्रज्ञ	१४६
क्षोभकप्रश्न	२४७
क्षौम	११९
क्षौरशाला	५७
ख	
खडगिरि	८२
खडसिद्धान्तश्रुत	१०
खरश्राविता	१८०
खरोष्ट्रिका	१८०
खरोष्ठिका	१८०
खरोष्ठी	१८०
खाई	११५
खादिम	१११
खारवेल	८२, २११
खिलौना	१४५
खेड	११३
खेदज्ञ	१४६
खेयन्न	१४६
खोग	१८३
खोमिय	११८
खोरदेह	८८
ग	
गग	१७४
गगदत्त	२०७
गगदत्ता	२६७
गंडागकुल	११२
गभीर	२३४
गज	२३५

शब्द	पृष्ठ
गजसुकुमाल	२३४
गढ	११५
गण	८१, १७३
गणधर	२१४
गणधरवाद	१८
गणधर्म	१४९
गणनायक	२१८
गणराज्य	११७
गणस्थविर	१७९
गणिका	५७, २५८, २६२
गणिका-गुण	२५८
गणित	२८
गणितलिपि	१८०
गणिपिटक	२८
गति	२१२
गमन	११७
गमिक	२७
गमिकश्रुत	१२
गरुड	१८२
गर्भ	१८२, २११
गर्भधारण	१८२
गर्हा	१९६
गागेय	१९७
गाधर्व	१४०
गाधर्वलिपि	१८०
गाधार	१८०
गाथा	१५५
गाथापतिपुत्र तरुण	१७
गिरनार	९, २२३
गिरिमह	११३
गीता	२३, ८९, १३९
गुजरात विद्यापीठ	१७१

शब्द	पृष्ठ
गुड	११४, २०९
गुणशिलक	१८९, २०९
गुफा	२५६
गुरु	१५४
गुरुनानक	८३
गूढदत	२४३
गृहपति	८५
गृहपति-चोर-विमोक्षण-न्याय	१६७
गृहस्थ	८७
गृहस्थधर्म	१४९, २३०
गृहस्थाश्रम	८९
गृहिधर्मो	२२२
गोत्रास	२५८, २६३
गोदास	१७४
गोदासगण	१७३
गोमायुपुत्र	२०५
गोम्मटसार	४०, ४१, ४२, ४५, ४६, ५२, ६२
गोव्रतिक	१४८
गोव्रती	२२२
गोशाल	५६, १९०
गोशालक	१७, ५६, १३०, १६४, १६५, २००, २०४, २२९
गोष्ठामाहिल	१७४
गोसाल	१७
गौडपादकारिका	९६
गौतम	८४, १०७, १२२, १४८, १६६, १९०, २०५, २१४, २२२, २२९, २३४
ग्रन्थ	१५४
ग्रन्थातीत	१४७
ग्राम	११३
ग्रामधर्म	१४९
ग्रामस्थविर	१७९
ग्रैवेयक	१९२, १९३, २४१
घ	
घनवात	१८२
घनोदधि	१८२
घासीलाल	२७०
घी	११४
घोडा	२२४
च	
चडिका	९२
चडीदेवता	१४८
चदनपादप	२५६
चद्र	५७, २१८
चद्रगुफा	९
चद्रप्रज्ञप्ति	३०
चद्रिका	२४३
चपा	१८२, २५६
चक्रवर्ती	२०७
चतुरिन्द्रिय	२१३, २१४
चतुर्थभक्त	९०
चतुर्दशपूर्वधर	२०
चतुर्दशी	२५९
चतुर्याम	६४, १४८
चतुर्वर्ण	८५
चमर	२१८, २०२
चमारकुल	११३
चरक	१९३, २२२
चरम	२११
चरुवलि	२०१
चर्मखडिक	२२२
चाडाल	८६, ११३

शब्द	पृष्ठ	शब्द	पृष्ठ
चातुर्याम	२६	छंदोनुशासन	१५५
चारण	२११, २१२	छत्र	२१९
चारणगण	१७३	छत्रमार्ग	१५१
चारित्र	२१२	छद्मस्थ	१०२
चारित्रधर्म	१४६	छाग	११६
चारित्रान्तर	१६४	छान्दोग्य	६१
चार्वाक	६१, २४६	छेदसूत्र	८
चिकित्सक	२५७	छेदोपस्थापना	१२८
चिकित्सकपुत्र	२५७	**ज**	
चिकित्साशास्त्र	४४	जगीय	१२८
चित्र	२६०	जद	२३
चित्रसभा	२२१	जबू	१३०, २०६, २१७, २४२, २४८, २५५, २५६
चिल्लणा	१६०		
चीन	२२१	जबूद्वीप	५७, १७६
चीनी	२२१	जबूद्वीपप्रज्ञप्ति	३०
चीरिक	२२२	जबूस्वामी	८२
चुल्लशतक	२२८	जभियग्राम	११२
चूर्णि	२१४	जगती	५४, ७६
चूर्णिकार	१३०, १३२	जगत्कर्तृत्व	१३८
चूलणिपिता	२२८	जणवक्क	१७
चूलवग्ग	८४	जनपदसत्य	२५१
चूलिका	३६, ६३	जन्नई	२०१
चेलवासी	२०२	जन्मोत्सव	११३
चैत्य	२४६, २५०, २५६	जमईय	१५५
चैत्यमह	११३	जमजीत	१५५
चैत्यवासी	१४४	जमालि	८२, १७४, १६६
चोक्खा	२२१	जमाली	२३४
चोटी	२२०	जयत	२४१
चोरी	२५६	जयती	१६०
चौर्य	१५०, २४६, २५०	जयधवला	३६, ३७, ४१, ४२, ४६, ५२, ६२, १२८, १२६, २६२
छ			
छद	२८	जरा	२०६

शब्द	पृष्ठ
जराकुमार	२३६
जर्मन	७६
जल	९२, ११५, १९१
जलप्रवेश	११७
जलभक्षी	२०२
जलमार्ग	११८, १५१
जलवासी	२०२
जलशौचवादी	१४८
जलेबी	११४
जलोदर	२५७
जवणिज	२११
जवणिया	२१८
जसस	१२०
जागमिक	१७८
जाएई	१०२
जातिभोज	७७
जातिस्थविर	१७९
जालंधरगोत्रीया	१२०
जालि	२४२
जितशत्रु	२५९
जिन	१९९
जिनकल्प	११७
जिनकल्पी	२१३
जिनपालित	१०
जिनभद्रगणि	११, १४, २९, ८०
जीव	५७, ६८, १२७, १९१, १९५, १९८, २०८
जीवनिकाय	६८
जीवराज घेलाभाई	२७०
जीवाभिगम	३७, १९०
जीवास्तिकाय	२१०

शब्द	पृष्ठ
जेल	५७
जेलर	२६०
जैन	१४६
जैन आगम	१७
जैनधर्म प्रसारक सभा	२७०
जैन-परंपरा	५७
जैनमुनि	७
जैनशास्त्र	२७, १८१
जैनश्रमण	७
जैनश्रुत	५, २९
जैनसंघ	३५
जैनसाहित्य संशोधक	३९
जैनसूत्र	२६
ज्ञातकुल	२१२
ज्ञातक्षत्रिय	१२०
ज्ञातखंड	७६, १२१
ज्ञातधर्मकथा	३९, ४०, ४१, ४३
ज्ञाता	२५७
ज्ञाताधर्मकथा	२९, ३०, ४७, ४९, ५४, १२६, २१७
ज्ञातापुत्र	२५७
ज्ञातासूत्र	२६६
ज्ञातृकथा	३९, ४१
ज्ञातृधर्मकथा	४१
ज्ञान	११, १०२, १२८, १२९, २१२
ज्ञानपंचमी	११
ज्ञानप्रवाद	३९, ४८, ५०
ज्ञानवाद	१३२
ज्ञानान्तर	१९४
ज्ञानी	१०१
ज्येष्ठा	१२१
ज्योतिष	२८

शब्द	पृष्ठ
ज्योतिष्क	१९३
ज्योतिष्कदेव	५७
ज्वर	२५७
ट	
टट्टी	११९
टबा	२६९
ठ	
ठाण	४०
ठाण	४२, २०१
ठाणे	४०
ड	
डास	१४२
ण	
णायाधम्मकहा	४१, ४३
णायाधम्मकहाओ	४०
त	
तदुलोदक	११५
तच्चणिया	९२
तज्जीवतच्छरीरवादी	१५६, १५७
तत्त्वार्थभाष्य	३०, ४०
तत्त्वार्थराजवार्तिक	१४, ३९, २५२
तत्त्वार्थवृत्ति	३९
तत्वार्थवृत्तिकार	३०, १२९
तत्त्वार्थसूत्र	३९, २६७
तथागत	६५, ९१, १३५
तथ्यवाद	४५
तदित्यगाथा	१२८
तप	६९, १४४
तपस्या	२४३
ताप	१४२
तापस	५७, ११२, १९३, २०१
तापसधर्म	१०५
तामिल	२०२
तारा	२५०
तारायण	१७
तारायणरिसि	१४३
तालाब	२५६
तिरीडवट्ट	१७८
तिर्यंश्च	१९३
तिर्यंश्चागना	७०
तिलक	२२
तिलोदक	११५
तिष्य	११५
तिष्यगुप्त	१७४
तीर्थ	२१२
तीर्थंकर	२०७, २१२
तीर्थाभिषेक	२१९
तुब	२२०
तुपोदक	११५
तूलकड	११८
तृणवनस्पतिकाय	१७६
तृष्णा	७०
तेजोबिन्दुउपनिषद्	९५
तेजोलेश्या	२०५
तेतली	२४२
तेयलि	२२२
तेरापथी	२७०
तेल	११४
तैत्तिरीयोपनिषद्	९७
तैल	२०९
तोता	२०९
त्योज	२०९
त्रस	१६७, १९५
त्रसभूत	१६७
त्रिकालग्रथहिद	१२८
त्रिकाष्ठिका	२१९
त्रिदड	२१९

शब्द	पृष्ठ
त्रिदंडी	१६४, १६५, १६३
त्रिवस्त्रधारी	६३, ६५, १०७
त्रिशला	१२०
त्रिष्टुभ	५४, ७६
त्रीन्द्रिय	२१३, २१४
त्रेतायुग	२०६
त्रैराशिक	१३१
त्वगाहारी	२०२

थ

शब्द	पृष्ठ
थंडिल	१५०
थावच्चा	२२०
थिमित्र	२३४

द

शब्द	पृष्ठ
दंड	२०१
दंडव्यवस्था	५७
दंतवक्र	१४७
दंतुक्खलिय	२०१
दक्खिणकूलग	२०१
दक्षिण-ब्राह्मणकुंडपुर	१२०
दयानंद	२२
दर्पणप्रश्न	२४८, २५२
दर्शन	१०२, १०३
दर्शनशास्त्र	२६
दर्शनान्तर	१६४
दलसुख मालवणिया	१०८, १५२, १७१
दवनमार्ग	१५१
दशपूर्वधर	२०
दशरथ	१३१
दशवैकालिक	३१, ७५, ६७, १४१, २६७, २६८
दशवैकालिकचूर्णि	५१
दशवैकालिकनिर्युक्ति	७५
दशवैकालिकवृत्ति	३७, ५१, ७५
दशा	२२७
दशार्णभद्र	२४२
दही	११४
दान	१३८
दानधर्म	१४६, २१६
दानामा	२०२
दासकुल	११३
दासप्रथा	५७
दाह	२५७
दिगम्बर	१६, ३५, १३१, १४१, २११
दिट्ठिवाए	४१
दिट्ठिवाओ	४१
दिट्ठिवाय	४४
दिशाचर	५६, २०५
दिशाप्रोक्षक	२००, २०१
दीक्षा	५७, १०७
दीघतपस्सी	७
दीघनिकाय	५२, ६४, १३१, १५८, १६१
दीप	२०१
दीर्घतपस्वी	७
दीर्घदन्त	२४२
दीर्घशंका	७४
दीर्घसेन	२४३
दीवायण	१७
दीवायण महारिसि	१४३
दुःख	२६२
दुःखविपाक	२५५, २६३
दुःखस्कन्ध	१३३
दुक्खक्खंध	१३३
दुर्योधन	२६०
दुष्काल	[illegible]

शब्द	पृष्ठ
दूध	११४
दृष्टि	२१२
दृष्टिपात	४१
दृष्टिवाद	२७, २८, २६, ३६, ३६, ४०, ४४, ४५, ४८, २१२, २६५
दृष्टिविपर्यासदण्ड	१५६
दृष्टिशूल	२५७
देव	५७, १४०, १६१, १६२, २०६, २१३
देवकी	२३५
देवकुल	२४६
देवकृत	२४६
देवगति	१६२
देवदत्ता	२६१, २६३
देवभाषा	२०३
देवर्धिगणि	८०, १४१, १७५
देवर्धिगणिक्षमाश्रमण	६, ३१
देवल	१६
देववाचक	११, १२, २१, ८१
देवागना	७०
देवानदा	१२०
देवासुर-सग्राम	५७
देवेन्द्रसूरि	५१
देशना	१६२
देसीभासा	२१८
दोपोपकरिका	१८०
द्रमिल	५१
द्रविड	१०
द्रव्य	२१२
द्रव्यप्रमाणानुयोग	१०
द्रव्यश्रुत	१०, १२
द्राविडलिपि	१८०
द्रुम	२४३
द्रुमसेन	२४३
द्रोणमुख	११३
द्रौपदी	२२३, २५०
द्वादशागगणिपिटक	२०
द्वापर	२०६
द्वापरयुग	२०६
द्वारका	२३४, २३६
द्विराज्य	११७
द्विवस्त्रधारी	६३, ६५, १०७
द्वीन्द्रिय	२११, २१३
द्वीप	५७, २११
द्वैपायन	१६, १७

ध

शब्द	पृष्ठ
धनदेव	२६२
धनपतसिंह	२६६
धनपति	२३४
धन्य	२४२
धन्यकुमार	२४३
धन्वन्तरि	२६०
धम्मपद	६८, १४४
धरसेन	६, ३६
धर्म	१२८, १२६, १४५, १४६
धर्मकथा	३६
धर्मक्रिया	१२८
धर्मक्रियास्थान	१५६
धर्मचक्र	१०८
धर्मचिन्तक	२२२
धर्मवाद	४५
धर्मशास्त्र	६
धर्मसग्रह	१७५
धर्मास्तिकाय	२१०
धवला	३७, ४१, ४२, ४५, ४६, ५२, ६२, १२८, २६२, २६८

शब्द	पृष्ठ
त्रिदडी	१६४, १६५, १६३
त्रिवस्त्रधारी	६३, ६५, १०७
त्रिशला	१२०
त्रिष्टुभ	५४, ७६
त्रीन्द्रिय	२१३, २१४
त्रेतायुग	२०६
त्रैराशिक	१३१
त्वगाहारी	२०२

थ

शब्द	पृष्ठ
थडिल	१५०
थावच्चा	२२०
थिमिग्र	२३४

द

शब्द	पृष्ठ
दड	२०१
दडव्यवस्था	५७
दतवक्त	१४७
दतुक्खलिय	२०१
दक्खिणकूलग	२०१
दक्षिण-ब्राह्मणकुडपुर	१२०
दयानद	२२
दर्पणप्रश्न	२४८, २५२
दर्शन	१०२, १०३
दर्शनशास्त्र	२६
दर्शनान्तर	१६४
दलसुख मालवणिया	१०८, १५२, १७१
दवनमार्ग	१५१
दशपूर्वधर	२०
दशरथ	१३१
दशवैकालिक	३१, ७५, ६७, १४१, २६७, २६८
दशवैकालिकचूर्णि	५१
दशवैकालिकनिर्युक्ति	७५
दशवैकालिकवृत्ति	३७, ५१, ७५
दशा	२२७
दशार्णभद्र	२४२
दही	११४
दान	१३८
दानधर्म	१४६, २१६
दानामा	२०२
दासकुल	११३
दासप्रथा	५७
दाह	२५७
दिगम्बर	१६, ३५, १३१, १४१, २११
दिट्ठिवाए	४१
दिट्ठिवाओ	४१
दिट्ठिवाय	४४
दिशाचर	५६, २०५
दिशाप्रोक्षक	२००, २०१
दीक्षा	५७, १०७
दीघतपस्सी	७
दीघनिकाय	५२, ६४, १३१, १५८, १६१
दीप	२०१
दीर्घतपस्वी	७
दीर्घदन्त	२४२
दीर्घशका	७४
दीघसेन	२४३
दीवायण	१७
दीवायण महारिसि	१४३
दुःख	२६२
दुःखविपाक	२५५, २६३
दुःखस्कन्ध	१३३
दुक्खक्खंध	१३३
दुर्योधन	२६०
दुष्काल	७६

शब्द	पृष्ठ
नारायणोपनिषद्	६१
नारेन्द्र	१६६
नालद	१६६
नालदकीय	१५६
नालदा	१२८, १६५, १६६, २०४
नालदीय	१६५
नालिद	१६६
नालेन्द्र	१६६
नाव	११८, २२१
नास्तिकवाद	१५७
नास्तिवादी	२४६
नाह	४१
नाहधम्मकहा	४०, ४१
नाहस्सधम्मकहा	४०, ४१
निकर्ष	२१२
निकाय	१००
निगास	२१३
नित्यपिड	११२
निधान	२५०
निमजग	२०१
नियतवादी	१५२
नियतिवाद	१३०, १३२
नियतिवादी	१२६, १५६, १५८, २०५, २४६
नियमान्तर	१६५
नियाग	१००
नियाय	१००
निरामगध	१०४, १४७
निरामिष	१३८
निरालव	१००
निर्ग्रन्थ	१५६, २१२, २१३
निर्ग्रन्थधर्म	१३८
निर्ग्रन्थसमाज	६४
निर्जरा	१२८
निर्भय	१४७
निर्मितवादी	१५२
निर्युक्तिकार	६४, १३२
निर्वाण	५७, ५८, ६१
निर्विघ्नअध्ययन	१२८
निर्वृत्ति	२११
निर्वेद	२१
निशीथ	५०, १११, २७०
निशीथसूत्र	७३, २६७
निषद्या	७३, ११७
निषाद	८६
निषीधिका	७३, ७४
निसीह	७३
निह्नव	८२, १७४
निह्नविका	१८०
नीचकुल	११३
नीम	२०६
नृत्य	५७
नेत्रवेदना	२५७
नैगम	११३
नौका	२२१
नौकारोहण	११७
प	
पग्राराइग्रा	१८१
पएसी	१६८
पचमहाव्रत	२२०
पचभूतवादी	१५८
पचयाम	२७, ६४
पचस्कधवादी	२४६
पडिम	१०१
पडित	१०१

शब्द	पृष्ठ
धवलाकार	२६८
धीर	१०१
धूम्र	६८
धूत	६४, ६८, ७०, ७५
धूर्तादान	१५०
धृतिमान	१४७

न

शब्द	पृष्ठ
नदनवन	२३४
नदमणियार	२२१
नदिचूर्णि	७९
नदिणीपिया	२२८
नदिनीपिता	२२८
नदिवर्धन	१२१, २६०, २६३
नदिवृत्ति	१४, ४६, ४८
नदिवृत्तिकार	५०
नदिषेण	२६३
नदिसूत्र	११, २१, २८, ६८, ७६, ७९, ८०, १०३, २३४, २६५
नदिसूत्रकार	१५, १९, २०, ७३
नंदी	३०, ४५, ४६, ४८, ५१, ५५, १९०
नदीफल	२२२
नदीसूत्र	३०, ३८, ४०, ६३, १२८, १७५, २२८, २४२, २४८, २६२, २६६
नगर	५७, ११३
नगरधर्म	१४९
नगरस्थविर	१७९
नग्नभाव	१९७
नदी	११८, १८२, २५६
नदीमह	११३
नमी	२३४
नमीविदेही	१६
नरक	५७, १००, १२८, १४६, २०८
नरकविभक्ति	१४६
नरकावास	१४६
नरमेध	२६०
नरसिंह	२२३
नरसिंह मेहता	८३
नरागना	७०
नवब्रह्मचर्य	६३, ६८
नवागीवृत्तिकार	८१
नष्टप्रश्न	२५२
नाग	५७, १४०, १८२, २३४, २५६
नागकुमार	२४८
नागमह	११३
नागार्जुन	७९, ८०, १४१
नागार्जुनीय	७७, १३८, १४०, १६३
नागार्जुनीयवाचना	७६, ७९
नाटक	१९
नाणी	१०१
नाथवादिक	१४४
नापित	२६०
नामकरणोत्सव	११३
नामसत्य	२५१
नाय	४१
नायधम्मकहा	४१
नायपुत्त	१४१
नायाधम्मकहा	४१
नारक	१६१
नारकी	२१३
नारद	२२३
नारायण	१६
नारायणरिसि	१४३

शब्द	पृष्ठ	शब्द	पृष्ठ
नारायणोपनिषद्	६१	निर्जरा	१२८
नारेन्द्र	१६६	निर्भय	१४७
नालद	१६६	निर्मितवादी	१५२
नालदकीय	१५६	निर्युक्तिकार	६४, १३२
नालदा	१२८, १६५, १६६, २०४	निर्वाण	५७, ५८, ६१
नालदीय	१६५	निर्विघ्नअध्ययन	१२८
नालिद	१६६	निर्वृत्ति	२११
नालेन्द्र	१६६	निर्वेद	२१
नाव	११८, २२१	निशीथ	५०, १११, २७०
नास्तिकवाद	१५७	निशीथसूत्र	७३, २६७
नास्तिवादी	२४६	निषद्या	७३, ११७
नाह	४१	निषाद	८६
नाहधम्मकहा	४०, ४१	निषीधिका	७३, ७४
नाहस्सधम्मकहा	४०, ४१	निसीह	७३
निकर्ष	२१२	निह्नव	८२, १७४
निकाय	१००	निह्नविका	१८०
निगास	२१२	नीचकुल	११३
नित्यपिंड	११२	नीम	२०६
निधान	२५०	नृत्य	५७
निमजग	२०१	नेत्रवेदना	२५७
नियतवादी	१५२	नैगम	११३
नियतिवाद	१३०, १३२	नौका	२२१
नियतिवादी	१२६, १५६, १५८, २०५, २४६	नौकारोहण	११७
नियमान्तर	१६५	**प**	
नियाग	१००	पआराइआ	१८१
नियाय	१००	पएसी	१६८
निरामगंध	१०४, १४७	पचमहाव्रत	२२०
निरामिष	१३८	पचभूतवादी	१५८
निरालव	१००	पचयाम	२७, ६४
निर्ग्रन्थ	१५६, २१२, २१३	पचस्कंधवादी	२४६
निर्ग्रन्थधर्म	१३८	पडिम	१०१
निर्ग्रन्थसमाज	६४	पडित	१०१

शब्द	पृष्ठ
पडितवीर्य	१४९
पडुरा	२२२
पथक	२१९
पकारादिका	१८०
पक्षिमार्ग	१५१
पट्टण	११३
पट्टमार्ग	१५१
पट्टावली	८२
पडिग्गह	१९९
पण्हावागरण	२४७
पण्हावागरागाइ	४०, ४३
पत्र	११५, २०९
पद	५१
पदार्थधर्म	१४९
पद्मप्रभ	२१२
पद्मावती	२३६, २५०, २५९, २६०
पद्मोत्तर	२१४
पन्नवणा	१९०
पयन्ना	२६७
परक्रिया	७३, ७४, १२०
परदा	२१८
परमचक्खु	१०१
परमचक्षुष्	१०१
परमत	५६, ९०, १२७
परमाणु	२११
परमाणुपुद्गल	२१०, २१२
परलोक	५७, ९२
परलोकाभाववादी	१५२
परसमय	१२७
पराक्रम	१४८
परिकर्म	३६, ३९
परिकुंचन	१५०
परिग्रह	५८, १३९, १५०, १५४, २४९, २५०
परिग्रहवृत्ति	२६३
परिणाम	२१२, २१३
परिमाण	२१३
परिव्राजक	५७, ११३, १९३, २०१
परिव्राजिका	११३, २२१
परिशिष्टपर्व	७५, ७९
परिस्रव	१०६
परीषह	७१
पर्यंव	२१२
पर्यायस्थविर	१७९
पर्वत	२५६
पर्वबीज	१६१
पलिउंचण	१५०
पल्लतेतिय	२३४
पवित्रक	२१९
पश्चिमदिशा	१४१
पश्यक	१०१
पसेगई	२३४
पहाराइआ	१८१
पाचाल	१८३
पाडव	२२३
पाडुमथुरा	२२३, २३६
पाकशाला	२२२
पाक्षिकसूत्र	४०
पाखडधर्म	१४९
पाखडमत	१२९
पाटलिखड	२६०
पाटलिपुत्र	७९, १४१, १७८
पाठभेद	३५, १६०
पाठान्तर	१४०

शब्द	पृष्ठ	शब्द	पृष्ठ
पाणिपात्री	६५	पासावच्चिज्जा	५६
पातजल-योगदर्शन	४४	पिंगमाहणपरिव्वायग्र	१७
पातजल-योगसूत्र	१२३	पिंड	२५०
पात्र	१०७, ११६, १६६	पिंडैषणा	६४, ७३, ७४
पात्रधारी	६५	पिटक	२७, ५२, ५७, १३०
पात्रैषणा	६४, ७३, ७४, ११६	पिशाच	२२६
पादपुंछन	१०७	पुंजणी	६५
पाद-विहार	११७	पुंडरीक	१२८, १५६, २२०
पान	११	पुस्कामिता	१२८, १२६
पानी	६२	पुग्गलपञ्ञत्ति	१७५
पाप	१२७	पुण्य	१२७, २६२
पापकर्म	२१३	पुण्य-पाप	१२६
पायपुंछण	६५	पुण्यस्कन्ध	१३७
पारसी	२३, ८८	पुत्त	१३६
पाराशर	१६, ८६	पुद्गल	११६, २०२, २०६
पारासर	१४३	पुद्गल-परिणाम	२०६
पारिष्ठापनिकासमिति	२२३	पुद्गलास्तिकाय	२१०
पावंती	२४३	पुनर्जन्म	६१
पार्श्व	१७, २६	पुराण	५२, ५३, १३६
पार्श्वतीर्थ	५६	पुरातत्त्व	१४४
पार्श्वनाथ	५६, १२१, १४८, १६८, १६०, १६६	पुरिमताल	२५६
		पुरुष	१४५
पार्श्वस्थ	१४४	पुरुषपरिज्ञा	१४६
पार्श्वापत्य	१२१, १६०, १६६	पुरुषप्रधान	१४५
पर्श्वापत्यीय	१६६	पुरुषसूक्त	८५
पावादुया	५६	पुरुषसेन	२४२
पाशमार्ग	१५१	पुरुषादानीय	१६७
पाशस्थ	१४४	पुलिंद	११७
पासन	१०१	पुलिंदलिपि	१८०
पासइ	१०२	पुष्करिणी	२२१
पासत्थ	१४४, १६०	पुष्पमान्त्रिक	२४३
पासत्था	५६	पुष्पदंत	६

शब्द	पृष्ठ	शब्द	पृष्ठ
पुष्पनदी	२६२	प्रक्षेप आहार	१६१
पुष्पसेन	२४३	प्रजापतिनिर्मित	२४६
पुष्पाहारी	२०२	प्रज्ञापना	३१, १२८, २१२
पुष्पोत्तर	२०४	प्रतिकूलशय्या	१४२
पूआ	११६	प्रतिक्रमणग्रन्थत्रयी	१२८, २६६
पूआभाई जैन ग्रन्थमाला	१७१	प्रतिक्रमणसूत्र	३७
पूज्यपाद	३६, १२६	प्रतिक्रमणाधिकार	२६६
पूडी	११४	प्रतिमा	२०२
पूतना	१४४	प्रतिलेखन	१०७,
पूरण	२०२	प्रतिसेवना	२१२
पूर्णभद्र	२५६	प्रतीतिसत्य	२५१
पूर्व	४४, ४८, ४६, ५३, २६५	प्रत्यक्ष	११
पूर्वगत	३६, ४४, ४५, २६५	प्रत्याख्यान	३६, ५०, १२८, १६२, १६७, १६६
पूर्वगत गाथा	३६		
पृथ्वी	१३६, १६१, १६५, २११	प्रत्याख्यानक्रिया	१५६
पृथ्वीकाय	६८	प्रत्याख्यानवाद	४८
पृथ्वीकायिक	२१३	प्रथम	२०८
पेढालपुत्त	१६६	प्रथमानुयोग	३६
पेढालपुत्र	२४३	प्रद्युम्न	२३४
पेल्लक	२४३	प्रधान	१३८
पेशाब	११६	प्रभाचन्द्र	८१, २६६
पैशाची	१८१	प्रभाचन्द्रीयवृत्ति	१२८
पोट्टिल्ल	२४३	प्रभावकचरित्र	८१
पोत्तक	११८	प्रभु	१३६
पोत्ति	१३६	प्रमाणपद	५२
पोत्तिय	२०१	प्रमाणान्तर	१६५
पोत्र	१३६	प्रयाग	२५६
पोत्री	१३६	प्रवचनान्तर	१६८
पोलासपुर	२३५	प्रव्रज्या	१७८
पौराणिकवाद	१३६	प्रशास्तास्थविर	१७६
प्यास	१४२	प्रश्नपद्धति	८१
प्रकम्प	१११	प्रश्नव्याकरण	१६, २६, ३६, ४३, ४७, ४६, २४७, २४८, २५०
प्रकीर्णक	३०, २६७		

शब्द	पृष्ठ	शब्द	पृष्ठ
प्रश्नव्याकरणम्	४०	बधन	५८
प्राकृत	४०, १३०	बधशतक	२१३
प्राकृत टेक्स्ट सोसायटी	२२१	बघुश्री	२६०
प्राकृत व्याकरण	६५	बभचेर	८३
प्राणवध	२११	बकुश	२१२
प्राणवाद	५०	बढईकुल	११२
प्राणवायु	४८	बनियागांव	२५८
प्राणातिपात	२०८	बर्फ	२०६
प्रणामा	२०२	बर्बर	११७
प्राणावाय	३६, ५०	बल	१३१
प्रामाण्य	२३, २४	बलदेव	२०७, २३४
प्रायश्चित्त	२१३	बलि	२१८
प्रावचनिकान्तर	१६४	बहिद्धा	१५०
प्रावादुका	५६	बहुपुत्रिक	२०८
प्रासुकविहार	२११	बहुमूल्य	१७८
प्रियगु	२६२	बालचिकित्सा	२६०
प्रियकारिणी	१२१	बालवीर्य	१४६
प्रियदर्शना	१२१	बाहुअ	१४३
फ		बाहुक	१६, १७
फणित	२०८, २०६	बाहुप्रश्न	२४७, २४८
फल	११५	बिन्दुसार	१३१
फलकमार्ग	१५१	बिलमार्ग	१५१
फलाहारी	२०२	बिलवासी	२०२
फारसी	१८०	बीजाहारी	२०२
फालअवडपुत्र	२३४	बुक्कस	११२
फासुयविहार	२११	बुद्ध	१७, २७, ५६, ६५, ८४, ६१, ६४, ६६, १०१, १०२, १०५, १०६, १३०, १३२, १३४, १३६, १३७, १३८, १५८, १६५
फूल	११५		
फूलचदजी 'भिक्षु'	२७०		
फौजदार	२६०		
		बुद्धवचन	१६, २०
ब		बुनकरकुल	११२
बध	१२८, २११, २१२, २१३	बृहट्टिप्पनिका	६, ३८

शब्द	पृष्ठ
बृहत्कल्प	८
बृहदारण्यक	१७, ६७, ६६
बृहस्पतिदत्त	२५६, २६३
वेन्नातट	६
बोक्कसलियकुल	११२
बोक्कस	८६
बोडिग	१४३
बौद्ध	१६, २७, ५२, ६०, ६२, ६४, १४४, १४६, १५३, १६०, १६३, २४६
बौद्धदर्शन	१३३
बौद्धपिटक	१७, २६
बौद्धभिक्षु	१६४, १६५
बौद्धमत	६८, १३३, १३७
बौद्धविहार	२४६
बौद्धश्रमण	११२
ब्रह्म	८३
ब्रह्मचर्य	६३, ७१, ८३, २५१
ब्रह्मचर्यवास	१६७
ब्रह्मचारी	८७
ब्रह्मजालसुत्त	६४
ब्रह्मलोक	१६३
ब्रह्मविद्योपनिषद्	६७
ब्रह्मव्रती	१६४, १६५
ब्रह्मशान्तियज्ञ	२१४
ब्रह्मा	१३६
ब्राह्मण	२६, ५२, ८३, ८५, ८६, ६२, १०१, १४०, १५६, २२३, २५६, २६०, २६३
ब्राह्मणकुण्डग्राम	१६६
ब्राह्मणधम्मिकसुत्त	८४
ब्राह्मणपरिव्राजक	१७
ब्राह्मी	१८०, १८१
ब्राह्मीलिपि	१८०, १८१

भ

शब्द	पृष्ठ
भग	११६
भंगिय	११८
भगदर	२५७
भगव	१०१
भगवती	३६, १८८
भगवती-आराधना	२६६
भगवतीसूत्र	१०७, २६७, २७०
भगवद्गीता	६५, ६६, १४७
भगवान महावीरना दश उपासको	२२६
भगवान महावीरनी धर्मकथाओ	२१६
भगवान्	१०१, १४१
भगाली	२३४
भजन	१५०
भट्टाकलंक	२६७
भद्दजस	१७४
भद्दिलपुर	२३४
भद्रबाहु	११, १६, ७६, १७४, २६५
भद्रा	२०४, २४३
भद्रावुधमाणवपुच्छासुत्त	६६
भयण	१५०
भरतक्षेत्र	१८२
भव	२१३
भवद्रव्य	२०८
भवनवासी	१६२, १६३
भवनावास	२११
भवसिद्धिक	२१३
भव्य	२१२
भागिक	१७८

शब्द	पृष्ठ
भागवत	१४६
भारद्वाज	१७, १७४
भाव	२१३
भावना	७३, ७४, ७५, ७६, १२३
भावश्रुत	१०, १२
भावसत्य	२५१
भापा	११८, १५०, २०३, २०६
भापाजात	६४, ७४
भाषाजातैषणा	७३
भापाप्रयोग	११८
भापाविचय	४५
भाषाविजय	४५
भिक्षा	११२, ११३
भिक्षाग्रहण	१९७
भिक्षावृत्ति	१४२
भिक्षाशुद्धि	६२
भिक्षु	१५६
भिक्षुचर्या	६४
भिक्षुणी	११८
भिक्षुसमय	१३३
भिखारी	११२
भिच्छुड	२२२
भीम	२५८
भीमसिंह माणेक	२७०
भील	११७, १८१
भूकम्प	१८२
भूख	१४२
भूत	५७, २२९, २५६
भूतचिकित्सा	२६०
भूतवली	९
भूतमह	११३
भूतलिपि	१८०
भूतवाद	४५
भूतवादी	१२९, १५६
भूतान	१८१
भूमि	२११
भूमिशय्या	१९७
भोग	२१८
भोगकुल	११२, २१२
भोगवतिका	१८०
भोजन	११६
भोजनपिटक	२१८
भोट	१८१
भ्रमर	२०९

म

शब्द	पृष्ठ
मइम	१०१
मगल	१८९
मख	२०४
मखलि	२०४
मखलिपुत्र	१७, १९०, २०४, २२९
मन्त्रविद्या	२४८
मदिर	२५०
मकान	११६
मक्खन	११४, २०९
मक्खलिपुत्र	५६, २०४
मगध	९८, ९९, १३३
मगधराज	१६४
मच्छडिका	२२४
मच्छर	१४२
मछली	११६
मछलीमार	२६१
मजीठ	२०९
मज्झिमनिकाय	५२, ९१, १०२, १३१
मडंव	११३

शब्द	पृष्ठ

मतान्तर १९५
मतिज्ञान ११
मतिमान १०१
मथुरा ७९, १४१, १८२, २६०
मथुकी २२१
मदिरापान ५७
मदुरा २२३
मद्य ११४, २१९
मद्यपान ५७
मद्रुक २०९
मधु ११४
मधुरायण १७
मध्यमपद ५२
मन पर्याय १०३
मन पर्यायज्ञान ११
मन शुद्धि ६२
मनस्स चेतना १६२
मनु ८९
मनुष्य १६१, २१३
मनुस्मृति ८७, ८८, ११८
मनोजीववादी २४९
मनौती ५७
ममत्व १२३
मयगतीर २१९
मयद २०९
मयालि २४२
मयूरपोपक २१९
मर्यादा १९३
मलधारी हेमचद्र २६५
मलमूत्रविसर्जन ११९
मलयगिरि १४
मल्लि २२१
मल्लिकी २१८
मस्तकशूल २५७
महर्षि १३८
महाअध्ययन १५६
महाकर्मप्रकृतिप्राभृत १०
महाकश्यप १७
महागिरि १७४
महाजाण १०१
महाद्रुमसेन २४३
महाधवला ३६
महानदी १८२
महानरक १४६
महापरिज्ञा ६८, ७०
महापरिण्णा ६८
महापरिन्ना ७०
महाभारत १६, १७, १८, १९, २०, ५२, ९०, १७५, २२३
महामार्ग १०१
महायान १०१, १३६
महारथ १४२
महावश १३१
महाविदेह ७५
महावीथि १०१
महावीर १७, २६, ६४, ६५, ७१, ७२, ७४, ७६, ७८, ८७, ९३, १०७, १०८, १२०, १३३, १४६, १५५, १६४, १९५, १६८, १७३, १७६, १९० १९२, १९९, २०२, २०३, २०४, २०६, २०७, २१२, २२९, २३७, २४३
महावीर-चरित १२०

शब्द	पृष्ठ	शब्द	पृष्ठ
महावीरचरित्र	२०४	माया	१३८, १३९, १५०
महावीर जैन विद्यालय	२७१	मायाप्रत्ययदण्ड	१५९, १६०
महावीरभाषित	२४७	मार	६६, १३८
महावीहि	१०१	मार्ग	१२८, १५१
महावृष्टि	१८३	मार्गान्तर	१६५
महाव्युत्पत्ति	१७५	मास	२११, २२०
महाव्रत	७४, ११२, १४१	मासकल्पी	११४
महाशतक	२२८	माहण	१०१
महाशुक्रकल्प	२०६	माहन	८५
महासिंहसेन	२४३	माहेश्वरीलिपि	१८७
महासेन	२४३	मितवादी	१५२
महास्रव	२११	मित्र	२५८
महास्वप्न	२०७	मित्रदोषप्रत्ययदण्ड	१५९, १६०
महिमानगरी	६	मिथिला	१८३
मही	१८२	मिथ्यात्वी	२१२
महेच्छा	२५०	मिथ्यादृष्टि	२१
महेश्वरदत्त	२४६	मिथ्याश्रुत	१२, १४
महोरग	१८२	मियग्गाम	२५६
मास	११४, ११६, १३६, १३७, २२४	मियलुद्धय	२०१
मासभक्षण	१३६	मिलिंदपञ्ह	६२
मासभोजन	१०५, १३५	मीमासक	२१
मासाहार	१०५, २६१	मुडकोपनिषद्	६६
माकंदिक पुत्र	२०६	मुडभाव	१६७
माकंदी	२०८, २०६, २२१	मुकुद	२५६
मागध	८६	मुकु दमह	११३
माणवगण	१७३	मुक्तात्मा	५७
माण्डलिकराजा	२०७	मुणि	१०१
माण्डुक्योपनिषद्	६७	मुद्गरपाणि	२३६, २३७
मातग	१७, २३४	मुनि	१०१
माथुरायण	१७	मुनिसुव्रत	२०७, २०६
माथुरीवाचना	३५, ७६, ८०, १६३	मुष्टिप्रश्न	२५२
मान	१५०	मुसलमान	२०३
मानप्रत्ययदण्ड	१५९, १६०		

शब्द	पृष्ठ
मुहपत्ती	१०७, १९९
मूल	११५, १९८
मूल-आराधना	२६७
मूलबीज	१६१
मूलाचार	२६८
मूलाराधना	३७
मूलाहारी	१९८, २०२
मृगग्राम	२५६
मृगलुब्धक	२०१
मृगादेवी	२५६
मृगापुत्र	२५६, २६३
मृगावती	२५९
मृतगंगा	२१९
मृत्तिकाभाजन	२१९
मृत्यु	१४०
मृत्युभोज	७७
मृषाप्रत्ययदण्ड	१५९
मेधावी	१०१, १३७
मेयज्जगोनीय	१६६
मेष	११९
मेहावी	१०१, १३७
मैथुनविरमण	१४८
मोक्ष	५२, १२८, २०२
मोक्षमार्ग	१२९
म्लेच्छ	११७, २५०
य	
यक्ष	५७, १९९, २५६
यक्षमह	११३
यक्षा	७५
यजुर्वेद	२१९, २५९
यज्ञ	९२, १००

शब्द	पृष्ठ
यति	८७
यतिवृषभ	३६
यतिसमय	१२८
यथाजात	६६
यम	१७, १३८, २०१
यमकीय	१५५
यमनीय	२११
यमुना	१८२
यवनिका	२१८
यवोदक	११५
यशोदा	१२१
यशोमती	१२१
यशोविजय	१९, ८३
याग	१००, २१८
याज्ञवल्क्य	१७
यात्रा	२११
यादृच्छिक	२४९
याथातथ्य	१५३
यापनीय	२११, २२०
यावनी	१८०
यावन्त	६८
यास्क	२२
युगलिक	१९८
युग्म	२०९, २१२, २१३, २१४
युद्ध	५७, २०३, २५०
योग	२१२, २१३
योगदृष्टिसमुच्चय	१८
योगशास्त्र	७९
योगशास्त्रप्रकाश	७९
योगसत्य	२५१
योगसूत्र	१६६
योनिशूल	२५८, २६२

शब्द	पृष्ठ
र	
रक्तपट	२२२
रक्तसुभद्रा	२५०
रजोहरण	१०७, १७८, १९९
रज्जुमार्ग	१५१
रट्टउड	२५७
रतिकल्प	७५
रतिगुण	२५८
रत्नमुनिस्मृतिग्रंथ	१०८
रस	७०
रसायन	२६०
राक्षस	१४०
राग	२१२
राजकुल	११४
राजगृह	१६५, १८२, १८९, १९२, २०४, २०९, २१८, २३७
राजधानी	११४, १८२
राजन्य	२१८
राजन्यकुल	११२, २१२
राजप्रश्नीय	३०, ३१
राजप्रसेनकीय	३०
राजभृत्य	११४
राजवंश	११४
राजवार्तिक	३६, ४०, ४१, ५२, ६२, १२८, १८९, २३३, २४२, २४७, २६२, २६६
राजवार्तिककार	२६७
राजा	११४, १४०
राजा-रहितराज्य	११७
राज्यसत्ता	५७
राठौड	२५७
रात्रिभोजन	१४१, १४८
रात्रिभोजनत्याग	६४
रात्रिभोजनविरमण	१४१, १४८, १६७
रामगुप्त	१६, १४३, २३४
रामपुत्र	१७, २४३
रामायण	१९, २०
रायपसेणइज्ज	१९८
राशियुग्म	२१४
राष्ट्रकूट	२५७
राष्ट्रधर्म	१४९
राष्ट्रस्थविर	१७९
रुक्मिणी	२३४, २५०
रुग्ण	११६
रुद्र	५७, २५६
रुद्रमह	११३
रुद्राक्षमाला	२१९
रूप	७३, ७४
रूपदर्शन	११९
रूपसत्य	२५१
रेवतक	२१९, २३४
रेवती	२२९
रैवतक	२१९, २३४
रोग	२५७
रोम आहार	१६१
रोह	१९२
रोहगुप्त	१७४
रोहण	१७४
रोहिणी	२२०, २५०
ल	
लतियापिया	२२८
लघुटीका	२१४
लघुप्रतिक्रमण	२६६
लघुशंका	७४

शब्द	पृष्ठ
लतामार्ग	१५१
लतिणीपिया	२२८
लत्तियपिया	२२८
लब्धि	५७
ललितविस्तर	१०६, १८१
ललिताकपिया	२२८
लवण	५७
लष्टदन्त	२४२, २४३
लातक	१६३
लिंग	२१२
लिच्छवी	२१८, २६३
लिम्पु	२६३
लीला	१३६
लूता	११६
लेखन-पद्धति	१८०
लेच्छई	२६३
लेच्छकी	२१८
लेण	२४६
लेतियापिया	२२८
लेव	१६६
लेश्या	२११, २१२, २१३
लोक	१३६, १६५
लोकबिंदुसार	३६, ४८, ५०
लोकवाद	१३६
लोकवादी	६८
लोकविजय	६४, ६८, ७५
लोकसार	७०
लोकाशाह	१०८
लोकाशाह और उनकी विचारधारा	१०८
लोगविजय	६८
लोगावाई	६८
लोभ	१५०
लोभप्रत्ययदण्ड	१५६, १६०
लोमाहार	१६१
लोहा	२०६
ल्युक	२२१

व

शब्द	पृष्ठ
वक्रता	१५०
वग्घावच्च	१७४
वचनशुद्धि	६२
वज्र	२०६
वत्स	१८२
वनपर्व	१७५
वनवासी	८७
वनस्पति	५७, १६१, २१२
वनस्पतिकाय	१७७
वनीपक	११२
वराहमिहिर	१३१
वरिमवकण्ह	१७
वरुण	१७, २०१
वर्ण	८५, ८६
वर्णान्तर	८५, ८६
वर्णाभिलापा	१०६
वर्धमान	१७, १०१, १२०, १८६, २१२
वर्धमानपुर	२६२
वर्षाऋतु	११७
वर्षावास	११७
वलभी	६, ७६, १८१
वल्कल	२०१
वल्कवासी	२०२
वसिष्ठगोत्रीय	१७८
वसु	१०३
वसुदेवहिंडी	५८, १०८
वसुनदी	२६८
वसुमत	१०३, १०७

शब्द	पृष्ठ
वस्त्र	११८, १७८
वस्त्रग्रहण	११८
वस्त्रधारण	११८
वस्त्रैषणा	६४, ७३, ७४
वाचकवश	८०
वाचना	७६, ७६, १३०
वाचनाभेद	३५
वाजीकरण	२६०
वाणव्यन्तर	१६२, १६३, २११
वाणिज्य	८५
वाणिज्यग्राम	२५८
वाणियग्राम	२११
वादविवाद	५७
वानप्रस्थ	६०
वामलोकवादी	२४६
वायु	१७, १६१, १६५
वायुकाय	२०५
वायुजीववादी	२४६
वायुपुराण	५३
वायुभक्षी	२०२
वाराणसी	१८२
वारिभद्रक	१४८
वारिषेण	२४२
वालभी वाचना	८०
वासिष्ठगोत्रीया	१२०
वासुदेव	२०७
वाहनमार्ग	१५१
विकुर्वणाशक्ति	५७
विक्खापणत्ति	४०
विचित्रचर्या	७५
विजय	२४१, २६२
विजयमित्र	२५८
विजयवर्धमान	२५७
विजयानदसूरि	२७०
विजयोदया	२६७
विज्ञानरूप	१६२
विदेह	१८३
विदेहदत्ता	१२१
विद्याचारण	२१२
विद्यानुप्रवाद	३६, ५०
विद्यानुवाद	४८, ५०
विद्याभ्यास	५७
विद्युन्मति	२५०
विनय	१२८
विनयपिटक	११७, ११८, २२०
विनयवाद	४०
विनयवादी	६१, १२८, १५२, २१३
विनयशुद्धि	६२
विपाकप्रज्ञप्ति	४०, ४२
विपाकश्रुत	४४, ४६
विपाकश्रुतम्	४१
विपाकसूत्र	२६, ३६, ४४, ४७, २५५
विपुलपर्वत	२१८
विपुलमति	१०३
विबाधप्रज्ञप्ति	४२, १८८
विवाहपण्णत्ति	४२, १८८
विभज्यवाद	२५
विभ्रम	१२८
विमान	२०३
विमुक्ति	७३, ७४, ७५, ७६, १२३
विमोक्ख	७१
विमोक्ष	६३, ६४, ६८, ७१
विमोह	६३, ६४, ६८, ७१, ७५, ६३
वियाहपण्णत्ति	४२, ४३, १८७
वियाहपन्नत्ति	४१

शब्द	पृष्ठ
विरुद्ध	२२२
विवागपण्णत्ति	४२
विवागसुअ	४१
विवागसुत्ते	४१
विवागसुत्त	४४
विवागसुए	४४
विवायपण्णत्ति	४०, ४२
विवायसुअ	४४
विवाह	२२३
विवाहपण्णत्ति	४२, १८८
विवाहपन्नत्ति	४१
विवाहपन्नत्ती	४०
विवाहप्रज्ञप्ति	१८८
विवाहे	४०
विशाख	२०८
विशाखा	२०८
विशाला	१४१
विशुद्धिमार्ग	२२४
विशेषावश्यकभाष्य	११, १४, १८, २७, ५१, ५५, ८०, २६५, २६८
विशेषावश्यकभाष्यकार	३६, ५१, १२१
विषचिकित्सा	२६०
विषप्रयोग	२६१
विष्णु	१३८, २३४, २४६
विष्वक्सेन	१४७
विसुद्धिमग्ग	१३६, १४४
विस्सवातितगण	१७३
विहार	११७, २४६
वीतराग	७४
वीतरागता	५८, १२३
वीर	१०१, १४६
वीरचंद राघवजी	२७०
वीरसेन	२६८

शब्द	पृष्ठ
वीरस्तव	१४६
वीरस्तुति	१२८, १४१, १६७
वीर्य	१२८, १३१, १४८
वीर्यप्रवाद	४८, ४६
वीर्यानुप्रवाद	३६, ४६
वृक्ष	२५६
वृक्षमह	११३
वृक्षमूलिक	२०२
वृत्तिकार	१३०, १३२
वृद्ध	२२२
वृष्टि	१८३
वेत्रमार्ग	१५७
वेद	५, १८, १६, २०, २१, २६, २७, ५२, ५३, ५७, १०३, १०४, २१२
वेदन	२१३
वेदना	२१२
वेदवादी	१६५
वेदवान्	१०४
वेदवित्	१०४
वेदसाहित्य	६
वेदिका	२४६
वेयव	१०४
वेयवी	१०४
वेयालिय	१३६
वेलवासी	२०२
वेश्यागमन	२५६
वेषभूषा	५७
वेसिअकुल	११२
वेहल्ल	२४२, २४३,
वेहायस	२४२
वैजयंत	२४१
वैणयिका	१८०

शब्द	पृष्ठ	शब्द	पृष्ठ
वैणव	८६	शङ्कर	२०६, २२४
वैताढ्य	२२०	शक्र	२०२, २०६, २०८
वैतालीय	७६, १०१, १२८, १३६	शक्रेन्द्र	२०६, २१८
वैदारिक	१३६	शतद्वार	२५७
वैदिक	१४६	शतानीक	२५६
वैदेह	८६	शत्रुंजय	२२०, २२३, २३४
वैद्य	२५७	शत्रुघ्न-यज्ञ	२६०
वैद्यपुत्र	२५७	शबर	११७
वैभव	७०	शब्द	१०, ७३, ७४
वैरोट्या	२१४	शब्दश्रवण	११६
वैशालिक	१४१	शम	२१
वैशाली	२५८	शयन	७०, ११७
वैशेषिकशास्त्र	१६	शयनासनशुद्धि	६२
वैश्य	८५, ८६, २५६	शय्या	६४
वैश्यकुल	११२	शय्यैषणा	७३, ७४, २१६
वैश्रमण	१७, ५७, २०१	शय्योपकरण	२०१
वैश्वदेव	२०१	शरीर	७०, १७७, २१२
वोद्द	१०४	शल्यचिकित्सा	२६०
व्यवसाय	५७, ११६	शस्त्र	६६
व्यवहारधर्म	१२८	शस्त्रपरिज्ञा	६४, ६८, ८७
व्यवहारसत्य	२५१	शस्त्रप्रयोग	२६१
व्याकरणशास्त्र	१६	शहद	११४
व्याख्याप्रज्ञप्ति	२६, ४०, ४१, ४२, ४३, ४४, ४६, ४६, १३१, १८७, २६७, २७०	शाकटायन	२११
		शाक्य	६४, १४४
		शाक्यपुत्र बुद्ध	१७
व्यापार	५७	शाखाञ्जनी	२५६
व्यावृत्त	१२२	शाखामार्ग	१५१
व्यास	२२०, २२२	शाण	११६
व्यासभाष्य	१४६	शाणक	१७८
श		शान	२०५
शख	२०६	शान्तिपर्व	६०
शकट	२५६, २६३	शान्तियज्ञ	२५६

शब्द	पृष्ठ	शब्द	पृष्ठ
शाम्ब	२३४	शैलेशी	२०८
शालाक्य	२६०	शैलोदायी	२०९
शालिभद्र	२४२	शैव	१४४
शास्त्रलेखन	७	शैवालभक्षी	२०२
शिक्षासमुच्चय	१३६, २२४	शोक	२०६
शिल्प	८५	शौच	८७, ९०, २२०
शिव	५७, २००, २५६	शौचधर्म	६४, २१९
शिवभद्र	२००	शौरसेनी	४२
शिवराजर्षि	२००	शौरिक	२६१
शिशुपाल	१४२	शौर्य	२६३
शिष्य	१५४	श्यामा	२६१
शीत	१५२	श्यामाक	१२२
शीतलेश्या	२०५	श्रमण	११२, १२०, १५६, २१२, २२३, २२४
शीतोष्णीय	६८, ६९, ७५	श्रमणचर्या	७०
शीलांक ५१, ५४, ७१, ७५,७६,७७,१३२		श्रमणधर्म	१४०, १५०
शीलांकदेव	१३१	श्रमण भगवान् महावीर	२०५
शीलांकसूरि	९८	श्रमणसंघ	३६, ७९
शीलांकाचार्य	१९	श्रमणसूत्र	१२८
शुक	२१९	श्रमणी	२२४
शुक्ललेश्या	२१३	श्रमणोपासक	२३०
शुद्धदत	२४३	श्रावक	२२२, २२७, २३०
शुब्रिग	५४, ७६, ९७	श्रावकधर्म	८५, १९३
शूकर	१३६	श्रावण	२११
शूकरमद्दव	१३६	श्रावस्ती	८४, १३१, १८२, २०४
शूकरमासभक्षण	१३६	श्रियक	७५
शूद्र	८५, ८६, २५९	श्री	२५८
शूरसेन	१८३	श्रीखंड	११४
शृंखला	१५५	श्रीदाम	२६०
शेषद्रव्या	१६६	श्रीदेवी	२६२
शेषवती	१२१	श्रुत	६, १०, १२८
शैक्ष	१५४	श्रुतज्ञान	७, १०, ११, १७७
शैलक	२१९		

शब्द	पृष्ठ
श्रुतज्ञानी	१०३
श्रुतदेवता	२१४
श्रुतधर्म	१४९
श्रुतपचमी	११
श्रुतपुरुष	२९
श्रुतसागर	१२९
श्रुतसागरकृत	३९
श्रुतसाहित्य	९
श्रुतस्थविर	१७९
श्रुति	६
श्रेणिक	१६४, १६६, १८९, २३७
श्रेयास	१२०
श्रेष्ठतमज्ञानदर्शनधर	१४१
श्रेष्ठतमज्ञानी	१४१
श्रेष्ठतमदर्शी	१४१
श्लोक	७६
श्लोकवार्तिक	५२
श्वपाक	८६
श्वास	२५७
श्वासोच्छ्वास	५७, १९९
श्वेताम्बर	१९, ३५, १४३

ष

शब्द	पृष्ठ
षट्काय	२२४
षट्खडागम	९, १०, ३६
षडावश्यक	२६८
षष्ठतप	२००
षष्ठितन्त्र	२१९

स

शब्द	पृष्ठ
संकलिका	१५५
सखडि	११३
सखबमक	२०१
सगीतशाला	२२२
सगीति	७९
संगीतिका	१३०
सग्राम	२०३
सघ	२१४
सघधर्म	१४९
संघयण	२१२
सघस्थविर	१७९
सचय	२५०
सजयवेलट्ठिपुत्त	१३३
सज्ञा	२१३
सज्ञी	२१२
सज्ञी पचेन्द्रिय	२१४
सतान	२२४
सनिकर्ष	२१३
सनिगास	२१३
संनिवेश	११३
सपक्खालग	२०१
सन्यास	९०
समज्जग	२०१
समतसत्य	२५१
सयम	१९६, २१२
सयमधर्म	१३९
सयुत्तनिकाय	५२, १३१, १३४, १३६, २२४
सरक्षण	२५०
सवर	१२७, २४८, २५०
सवेग	२१
सशयवाद	१३३
सस्कृत	४०
सस्तव	२५०
सस्थान	२१२, २४२

शब्द	पृष्ठ	शब्द	पृष्ठ
शाम्ब	२३४	शैलेशी	२०८
शालाक्य	१६०	शैलोदायी	२०६
शालिभद्र	२४२	शैव	१४४
शास्त्रलेखन	७	शैवालभक्षी	२०२
शिक्षासमुच्चय	१३६, २२४	शोक	२०६
शिल्प	८५	शौच	८७, ६०, २२०
शिव	५७, २००, २५६	शौचधर्म	६४, २१६
शिवभद्र	२००	शौरसेनी	४२
शिवराजर्षि	२००	शौरिक	२६१
शिशुपाल	१४२	शौर्य	२६३
शिष्य	१५४	श्यामा	२६१
शीत	१५२	श्यामाक	१२२
शीतलेश्या	२०५	श्रमण	११२, १२०, १५६, २१२, २२३, २२४
शीतोष्णीय	६८, ६६, ७५	श्रमणचर्या	७०
शीलांक ५१, ५४, ७१, ७५,७६,७७,१३२		श्रमणधर्म	१४०, १५०
शीलांकदेव	१३१	श्रमण भगवान् महावीर	२०५
शीलांकसूरि	६८	श्रमणसंघ	३६, ७६
शीलांकाचार्य	१६	श्रमणसूत्र	१२८
शुक	२१६	श्रमणी	२२४
शुक्ललेश्या	२१३	श्रमणोपासक	२३०
शुद्धदत्त	२४३	श्रावक	२२२, २२७, २३०
शुन्निग	५४, ७६, ६७	श्रावकधर्म	८५, १६३
शूकर	१३६	श्रावण	२११
शूकरमद्दव	१३६	श्रावस्ती	८४, १३१, १८२, २०४
शूकरमांसभक्षण	१३६	श्रियक	७५
शूद्र	८५, ८६, २५६	श्री	२५८
शूरसेन	१८३	श्रीखंड	११४
शृंखला	१५५	श्रीदाम	२६०
शेषद्रव्या	१६६	श्रीदेवी	२६२
शेषवती	१२१	श्रुत	६, १०, १२८
शैक्ष	१५४	श्रुतज्ञान	७, १०, ११, १७७
शैलक	२१६		

शब्द	पृष्ठ
श्रुतज्ञानी	१०३
श्रुतदेवता	२१४
श्रुतधर्म	१४६
श्रुतपचमी	११
श्रुतपुरुष	२६
श्रुतसागर	१२६
श्रुतसागरकृत	३६
श्रुतसाहित्य	६
श्रुतस्थविर	१७६
श्रुति	६
श्रेणिक	१६४, १६६, १८६, २३७
श्रेयास	१२०
श्रेष्ठतमज्ञानदर्शनधर	१४१
श्रेष्ठतमज्ञानी	१४१
श्रेष्ठतमदर्शी	१४१
श्लोक	७६
श्लोकवार्तिक	५२
श्वपाक	८६
श्वास	२५७
श्वासोच्छ्वास	५७, १६६
श्वेताम्बर	१६, ३५, १४३

ष

शब्द	पृष्ठ
षट्काय	२२४
षट्खडागम	६, १०, ३६
षडावश्यक	२६८
षष्ठतप	२००
षष्ठितन्त्र	२१६

स

शब्द	पृष्ठ
सकलिका	१५५
सखडि	११३
सखधमक	२०१
सगीतशाला	२२२
सगीति	७६
सगीतिका	१३०
सग्राम	२०३
सघ	२१४
सघधर्म	१४६
संघयण	२१२
सघस्थविर	१७६
सचय	२५०
सजयवेलट्ठिपुत्त	१३३
सज्ञा	२१३
सज्ञी	२१२
सज्ञी पचेन्द्रिय	२१४
सतान	२२४
सनिकर्ष	२१३
सनिगास	२१३
संनिवेश	११३
सपक्खालग	२०१
सन्यास	६०
समजग	२०१
समतसत्य	२५१
सयम	१६६, २१२
सयमधर्म	१३६
सयुत्तनिकाय	५२, १३१, १३४, १३६, २२४
सरक्षण	२५०
सवर	१२७, २४८, २५०
सवेग	२१
सशयवाद	१३३
सस्कृत	४०
सस्तव	२५०
सस्थान	२१२, २४२

शब्द	पृष्ठ
सस्वेदिम	११५
सकथा	२०१
सचेलक	८, ९, ३५, ३८, ४१, ४४, ४५, ५०, ६२, २६२, २६६
सचेलकता	६५, १०७
सत्कार	७०
सत्कायवाद	९१
सत्थपरिण्णा	६८
सत्थपरिन्ना	८७
सत्य	५७, २११
सत्यप्रवाद	३९, ४८, ५०
सत्यभाषी	२६२
सत्यरूप	२५१
सदन	७०, ७३
सद्म	७३
सद्दालपुत्त	१३०
सद्दालपुत्र	२२८
सद्या	७३
सन	११९
सपर्यवसित	१२, २१
समनोज्ञ	९५
समय	१२८, १२९
समवसरण	५७, ९८, १२८, १३२, १५१, २१३
समवाए	४०
समवाओ	४०
समवाय	२९, ४०, ४२
समवायपाहुड	३६
समवायवृत्ति	१३१
समवायांग	१६, २८, ३६, ३८, ३९, ४०, ४५, ४६, ४८, ४९, ५१, ५५, ६२, ६३, ६८, ७६, ७९, १२८, १२९, १३१, १५२, २२८, २३४, २४२, २४८, २६२, २६६
समवायांगवृत्ति	४६, ४८
समवायांगवृत्तिकार	५०
समाचारी	२१३
समाजव्यवस्था	५७
समाधि	१५०
समुच्छेदवादी	१५२
समुद्घात	२१२, २१३
समुद्र	५७, १९५, २३४, २५६
समुद्रविजय	२३४
सम्मत्त	६८, ६९
सम्यक्चारित्र	६९
सम्यक्तप	६९
सम्यक्त्व	६८, ६९
सम्यक्त्ववाद	६९
सम्यक्त्वी	२१२
सम्यक्श्रुत	१२, १४
सम्यग्ज्ञान	६९
सम्यग्दर्शन	६९
सम्यग्दृष्टि	२१
सम्यग्वाद	४५
सयण	७०
सरजस्क	९२
सरयू	१२८
सरिसवय	२२०
सरोवर	२५६
सरोवरमह	११३
सर्वजीवसुखावह	४५
सर्वज्ञ	७०, १०२, १०९
सर्वज्ञता	१२३

शब्द	पृष्ठ	शब्द	पृष्ठ
सर्वदर्शी	२०, १६०	साहजनी	२५६
सर्वधर्मपरिपद्	२७०	सिग्रोसणिज्ज	६८, ६६
सर्वसत्क्रिया	१२८	सिंह	२४३
सर्वार्थसिद्ध	३६, ५२, १६२, २४१	सिंहसेन	२४३, २६१
सवस्त्र	२६	सिज्जा	७३
सव्वासव	६६, १०२	सिद्धसेनसूरि	३०
सहसोद्दाह	२६३	सिद्धार्थ	१२०, २६०
सहस्रार	१६३	सिद्धिपथ	१०१
साख्य	६४, १३८	सिद्धिपह	१०१
साख्यदर्शन	२३	सिरिगुत्त	१७४
साख्यमत	१३१, २१६	सीता	२५०
साकेत	१८२	सीमधर	७५
सागर	२३४	सुसुमा	१३६, २२४
सागरभद्द	११३	सुकथा	१२८
सागरदत्त	२६०	सुकुमालिका	२२३
साणिय	११८	सुख	२६२
सातवादी	१५२	सुखविपाक	२५५, २६३
सात्तिपुत्र	१७	सुगत	१८, १२३
सामञ्ञफलसुत्त	१५८, १६१	सुत्त	१०२
सामवेद	२१६, २५६	सुत्तगड	४१, ४२, १२६
समाचारी	६५	सुत्तनिपात	७६, ८४, ६८, ६६, १०५, १४६
सामायिक	१६६	सुत्तपाहुड	३६
सामायिक-चारित्र	१२१	सुदर्शन	२१६, २३४, २३६, २३७
सामिष	१३८	सुदर्शना	१२१, २५६
सामुद्र	१५५	सुद्दयड	४०, ४१, १२६
सामुद्रकम्	१५६	सुधर्मा	६५, ६६, ७६, १३०, १७४, २१७, २४२, २४८, २५५, २५६
साम्परायिकी	२१०	सुधर्मास्वामी	८२
सार्थवाही	२२०	सुनक्षत्र	२४२
सालतियापिया	२२८	सुनक्षत्रकुमार	२४३
सालिहीपिया	२२८	सुपर्ण	१८२
सालेइणीपिया	२२८		
सालेयिकापिता	२२८		

शब्द	पृष्ठ	शब्द	पृष्ठ
सुपार्श्व	१२१	सूयगडो	४०
सुप्रतिबद्ध	१७४	सूर्य	५७, १०८, १६०, २१८
सुप्रतिष्ठपुर	२५८	सूर्यग्रहण	५६
सुप्रभ	२१२	सेक्रेड बुक्स ऑफ दी ईस्ट	२७०
सुबधु	२६०	सेजा	७३
सुबालोपनिषद्	६६	सेठ	१४०
सुभद्रा	२५८	सेणीप्पसेणीओ	२१८
सुभाषित	१०६	सेसदविया	१६६
सुरप्रिय	२३४	सोठ	२०६
सुरादेव	२२८	सोपक्रमजीव	२११
सुरूपा	२५०	सोम	१७, २००
सुलसा	२३४, २३५	सोमदत्त	२५६
सुवर्णकुमार	२४८	सोमा	२३५
सुवर्णगुलिका	२५०	सोमिल	२०८, २११, २३४, २३५
सुस्थित	१७४	सोरठ	६
सुहस्ती	१७४	सोरियायण	१७
सूत	८६	सौगधिका	२१६
सूतगड	१२६	सौधर्म	१६२
सूतिकर्म	१२०	सौराष्ट्र	६
सूत्र	६, ३६, १२६	स्कद	५७, २५६
सूत्रकृत	२६, ४१, ४२, १३०	स्कदक	२०२
सूत्रकृतम्	४०	स्कदसह	११३
सूत्रकृताग	१५, १६, १७, ३६, ३६, ४६, ४६, ५४, ५६, ५८, ८३, ६७, ६८, १०१, १२७, १६७, २६६, २६७, २७०	स्कदिलाचार्य	७६, ८०, १४१
		स्कधबीज	१६१
		स्कधवादी	१२६
		स्तूप	२४६
सूत्रकृतागनिर्युक्ति	१३०	स्तूपमह	११३
सूत्रकृतागमा आवता विशेषनामो	१४४	स्त्री	१४५, २५०
सूदयड	४०, ४१, १२६	स्त्री-त्याग	१६७
सूदयद	४१, १२६	स्त्री-परिज्ञा	१४५
सूयगड	१५, ४१, १२६	स्त्री-परिणाम	१२८, १२६
सूयगडे	४०	स्त्री-ससर्ग	७१

शब्द	पृष्ठ
स्त्री-सहवास	१४८
स्थडिल	१५०
स्थलमार्ग	११८
स्थविर	१७६
स्थविरावली	८०, १७३
स्थान	२६, ४२, ७३, ७४, ११७
स्थानकवासी	१०८, २७०
स्थानपाहुड	३६
स्थानम्	४०
स्थानाग	१६, ३६, ३७, ३६, ४६, ४६, ५५, ६८, ८१, १३१, १५२, १७१, २२८, २३३, २४२, २४७, २६६, २६८
स्थानाग-समवायाग	१५२
स्थानागसूत्र	४५
स्थापनासत्य	२५१
स्थावर	१६७, १६५
स्थितप्रज्ञता	५८
स्थितात्मा	१४७
स्थिरवास	११४
स्थूलभद्र	७५
स्नातक	२१३
स्नान	११७
स्पर्श आहार	१६२
स्पर्शना	२१३
स्मृति	६
स्मृतिचन्द्रिका	२२४
स्याद्वाद	२५, १५४
स्वजन	७०
स्वप्न	२०७
स्वप्नविद्या	१६१, २०७
स्वभावजन्य	२४६
स्वमत	१२७
स्वयभूकृत	२४६
स्वर्ग	५७, ५८, १६०, २०२, २०८
स्वसमय	१२७
स्वादिम	१११

ह

शब्द	पृष्ठ
हस	१०४
हड्डी	११६
हत्थिजाम	१६६
हत्थिनागपुर	२००
हरस	२५७
हरिगिरि	१७
हरिणेगमेषी	५७
हरिणेगमेसी	२३५
हरिभद्र	११, १४, ५१, ७५, १२३, १२६
हरिभद्रसूरि	१८, १६, ३०
हरिवशकुल	११२
हरिश्चन्द्र	८१
हलायुध	१३१
हल्दी	२०६
हल्ल	२४३
हस्तकल्प	२२३
हस्तवप्र	२२३
हस्तितापस	१६४, १६५, २०१
हस्तिनापुर	१८२, २०७, २०८, २५८
हस्तियाम	१६६
हस्तोत्तरा	१२०
हायप	२२३
हारित	१७४
हाला	१३१
हालाहला	२०५

शब्द	पृष्ठ	शब्द	पृष्ठ
हिंसा	५७, ८८, १३७, १४१, १६०, २११, २४८, २४९, २५६	हुंबउट्ट	२०१
		हृदयपिंड	२५६
हिंसादण्ड	१५६	हेतुवाद	४५
हिम्रु	२०३	हेमचन्द्र	५५, ७५, ७६, १५४
हिमवत थेरावली	८२	हेमन्त	११७
हीनयान	१०१	हैदराबाद	२७०

सहायक ग्रन्थों की सूची

अभिधर्मकोश—स्व० श्री राहुल साकृत्यायन

आचाराङ्गनिर्युक्ति—आगमोदय समिति

आचाराङ्गवृत्ति— "

आत्मोपनिषद्

आवश्यकवृत्ति—हरिभद्र—आगमोदय समिति

ऋग्वेद

ऋषिभाषित—आगमोदय समिति

ऐतरेयब्राह्मण

कठोपनिषद्

केनोपनिषद्

गाथाओ पर नवो प्रकाश—स्व० कवि खबरदार

गीता

जैन साहित्य सशोधक—आचार्य श्री जिनविजयजी

तत्त्वार्थभाष्य

तैत्तिरीयोपनिषद्

नन्दिवृत्ति—हरिभद्र—ऋषभदेव केशरीमल

नन्दिवृत्ति—मलयगिरि—आगमोदय समिति

नारायणोपनिषद्

पतेतपशेमानी (पारसी धर्म के 'खोरदेह-अवेस्ता' नामक ग्रथ का प्रकरण)
—कावशजी एदलजी कागा

पाक्षिकसूत्र—आगमोदय समिति

प्रश्नपद्धति—आत्मानद जैन सभा, भावनगर

बुद्धचर्या—स्व० श्री राहुल साकृत्यायन

बृहदारण्यक
ब्रह्मविद्योपनिषद्
मज्झिमनिकाय—नालदा प्रकाशन
मनुस्मृति
महावीरचरिय—देवचद लालभाई
महावीर-वाणी—स्वामी आत्मानद की प्रस्तावना—मनसुखलाल ताराचद
माण्डुक्योपनिषद्
मिलिंदपञ्ह
मुण्डकोपनिषद्
योगदृष्टिसमुच्चय—देवचद लालभाई
लोकाशाह और उनकी विचारणा (गुरुदेव रत्नमुनि स्मृति-ग्रथ)
—प० दलसुख मालवणिया
वायुपुराण (पत्राकार)
विशेषावश्यकभाष्य—यशोविजय जैन ग्रन्थमाला, बनारस
वैदिक सस्कृति का इतिहास (मराठी)—श्री लक्ष्मणशास्त्री जोशी
षट्खण्डागम
समवायागवृत्ति—आगमोदय समिति
सूत्रकृतागनिर्युक्ति—आगमोदय समिति
स्थानाग-समवायाग—प० दलसुख मालवणिया, गुजरात विद्यापीठ, अहमदाबाद
हलायुधकोश